ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका ३०वाँ ग्रन्थ

चिद्विलास

सम्पूर्णानन्द

वाराणसी
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो यो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं यो जनयामास पूर्वं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

सत्यनामरसज्ञाय, मायाध्वान्तापसारिणे ।
देशिकेन्द्र नमस्तुभ्यम्, निःशेषानन्दमूर्तये ॥

धर्म्मव्रतचरो लोके, सर्वो भवतु सर्वदा ।
अस्तु सर्वः स्वरूपस्थः, सर्वः श्रेयांसि पश्यतु ॥

उपोद्घात

आजसे तीन वर्ष पहिले मैने कारागृहमे 'जीवन और दर्शन' नामकी पुस्तक[1] लिखी थी। उसमे यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया था कि विचारशील मनुष्यके सामने ऐसी बहुत-सी समस्याएँ आती है जिनको सुलझाये बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका ठीक-ठीक निर्वाह नही हो सकता। समस्याएँ नयी नही है, इसलिए इनके सम्बन्धमे प्राचीन कालसे इस समयतक बहुत-से मत प्रतिपादित किये गये है। उपर्युक्त पुस्तकमे इनमेसे मुख्य मतोका दिग्दर्शन करा दिया गया था। इनमे कौन-सा समीचीन है अर्थात् व्यापक रूपसे हमारे सब प्रश्नोका उत्तर दे सकता है, इसका निर्णय पाठकपर छोड़ दिया गया था। मुझे स्वय कौन-सा मत ठीक जँचता है यह स्पष्ट शब्दोमे नही कहा गया था, यद्यपि कोई भी पाठक पुस्तक देखकर मेरे स्वारस्यका कुछ-कुछ अनुमान कर सकता है।

प्रश्नोंको उठानेके कारण मेरा एक प्रकारसे कर्तव्य हो गया कि उनके वह उत्तर भी उपस्थित करूँ जो मुझको ठीक प्रतीत होते है। पहिली पुस्तकको पढ़नेके बाद कई मित्रोने मुझे इस कर्तव्यकी याद दिलायी। मैने इसे स्वीकार किया। सच तो यह है कि इस प्रकारकी एक पुस्तक लिखनेका मेरा बहुत दिनोसे विचार था। कई वर्ष हुए महात्मा गान्धीने मेरी लिखी 'समाजवाद' नामक पुस्तक पढ़कर मुझको लिखा था कि उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि समाजवादी होते हुए भी मै मार्क्सके दार्शनिक मतका पूरा समर्थन नही करता। मैने यह बात स्वीकार की और उनसे निवेदन किया कि मेरा दर्शनके सम्बन्धमे एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखनेका विचार है। उन्होने कृपा करके मुझको इस प्रयासके लिए प्रोत्साहित किया।

---

१. इण्डियन प्रेस, प्रयागसे प्रकाशित।

(मै हाथ उठाकर कहता हूँ परन्तु कोई सुनता नहीं कि धर्मसे अर्थ और काम प्राप्त होते है, उस धर्मका सेवन क्यों नहीं किया जाता?) व्यासका यह कथन पॉच सहस्र वर्ष पुराना हुआ। बीच-बीचमें और लोगोंने भी इस बातको दुहराया, परन्तु जगत्‌का व्यवहार न बदला। कोई अपनी इच्छापर तन्त्र माननेको तैयार नहीं है।

इस उपायकी परीक्षा हो ली। यह शान्ति नहीं ला सकती। तब मनुष्यको दूसरा उपाय ढूँढ़ना पड़ता है। दूसरे उपायका बीजक सहयोग ही हो सकता है। उसमें वैयक्तिक और सामुदायिक आचारको एक ही सूत्रमें बॉधना होगा और इसी सूत्रपर जीवनके सभी अङ्गोंका ग्रथन करना होगा। आज एक ओर तो यह आशा की जाती है कि मनुष्य इतना उच्चाशय है कि दूसरोंकी सम्पत्ति और स्वाधीनताकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंको न्योछावर कर देगा, दूसरी ओर वह इतना नीच समझा जाता है कि एक-एक टुकड़े रोटीके लिए दूसरोंका गला काटनेको तैयार हो जायगा। दोनों बातें होती हैं: वह प्राण भी देता है और गला भी काटता है। यह असामञ्जस्य दूर होना चाहिये। जिसके लिए प्राण दिया जाता है उसके साथ मिलकर रोटी खाना भी सीखना चाहिये।

यह बात कोरे उपदेशोंसे नहीं हो सकती। साधु-महात्मा सहस्रों वर्षोंसे ऐसे उपदेश देते आये हैं। कुछ लोगोंने उनकी बात मानी, शेषने अनसुनी कर दी। स्वार्थ और सङ्घर्षका चक्र पूर्ववत् चलता रहा। सहस्र-सहस्र व्यासपीठोंसे घोषणा होती रही—

> विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः॥

और साथ ही जाति-भेद, वैभव-भेद, बल-भेद, अधिकार-भेदके आधारपर कोटि-कोटि मनुष्योंका उत्पीडन भी जारी रहा और तमाशा यह कि समदर्शनका शुकपाठ पढ़ानेवाला विद्वत्समुदाय यह सब खड़ा-खड़ा देखता रहा। इतना ही नहीं, जलती झोपड़ियोंपर उसने भी अपने हाथ सेंके।

यदि समाजको ठीक तरहसे चलाना है तो उसका सङ्घटन किसी सिद्धान्तके आधारपर होना चाहिये; राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति, शिक्षा, आचार, अन्ताराष्ट्रीय व्यवहार, सबको किसी एक आधारपर खड़ा करना चाहिये। यह आधार तब निश्चित हो सकता है जब जगत्का स्वरूप समझ लिया जाय। यह जगत् क्या है? जगत्मे जीवका क्या स्थान है? जीवका स्वरूप क्या है? मनुष्य-जीवनका लक्ष्य क्या है? इन प्रश्नोके उत्तरपर ही समाजके सव्यूहनका आधार निश्चित किया जा सकता है और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय हो सकता है। जो शास्त्र इन मौलिक प्रश्नोको अपना विषय बनाता है उसको दर्शन कहते है।

दर्शनका यह महत्त्व है कि वह ज्ञान और जीवनके सभी अङ्गोपर प्रकाश डालता है। उसका सम्बन्ध विचारके ऊँचेसे ऊँचे स्तर और व्यवहारके नीचेसे नीचे स्तरसे है। वह थोड़े-से पण्डितोके वाग्युद्धकी सामग्री नही है। दर्शन जगत्को समझने और उसको उन्नत बनानेका श्रेष्ठतम साधन है।

मैने दर्शनका सदैव इसी दृष्टिसे अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तकमे मेरे अध्ययनका फलितार्थ पाठकके सामने है।

पुस्तक समाप्त करनेपर या स्यात् विषय-सूचीको पढ़कर किसी ओरसे यह आक्षेप किया जा सकता है कि इसमे वही पुराना सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जिसको शाङ्कर अद्वैतवाद या मायावाद कहते है। मै इसको स्वीकार करता हूँ। मेरा यह दावा नही है कि मै किसी नये वादका प्रवर्तक हूँ। यदि मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि शाङ्कर अद्वैतवाद हमारी पहेलियोको सुलझाता है और हमको कर्तव्यका पथ दिखलाता है तो उसका समर्थन करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। आजकल माया शब्द कुछ लोगोमे एक विचित्र विभीषिका उत्पन्न कर देता है। जो सत्यका अन्वेषण करना चाहता है उसको यह जानना चाहिये कि पसन्द-नापसन्दसे सत्यके स्वरूपपर कोई प्रभाव नही पड़ता। यदि जगत् मिथ्या है तो उसको सत्य मानना अपनेको धोखेमे डालना

नही है और गाली देनेके बहाने उन वस्तुओका वर्णन करके अपनेको तृप्त कर रहा है जिनके लिए उसका चित्त लालायित है। स्त्रियोकी निन्दा करनेवालेको यह नहीं सूझता कि पुरुषकी निन्दा भी प्रायः उन्ही शब्दोमे की जा सकती है। ऐसी दुर्बल नीवपर ज्ञानका सुदृढ़ दुर्ग नही उठ सकता।

मेरी समझमे पुरुषार्थोकी विवेचना मोक्षाभिमुख ले जानेका प्रशस्ततर मार्ग है। अर्थ और काम मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है। यह शास्त्रकी अपेक्षा नही करती। विचारशील मनुष्यको इन्ही प्रवृत्तियोसे धर्मकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और धर्म उसको मोक्षकी ओर ले चलता है। ज्ञान स्वतः उपादेय है; क्षुद्र प्रलोभन और भय उसकी उपादेयताको बढ़ा नही सकते।

विज्ञानने जगत्के प्रतीयमान रूपपर बहुत प्रकाश डाला है। दार्शनिक इस वैज्ञानिक प्रगतिकी उपेक्षा नही कर सकता। इसका तात्पर्य यह नही है कि दर्शन विज्ञानका अनुचर बन जाय। दर्शन विज्ञानके विभिन्न अङ्गोका स्वामी है। वह उनकी सामग्रीका उपयोग करता है, उनका समन्वय करता है और उनकी भूले भी दिखलाता है। दर्शन स्वयं विज्ञानकी शाखा नही है, परन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्तोपर उससे प्रकाश पड़ना चाहिये। ज्यो-ज्यो विज्ञान आगे बढ़ता है त्यो-त्यो उसके सामने ऐसे प्रश्न आते है जिनको दर्शन अपना क्षेत्र मानता रहा है। यहाँ दर्शन और विज्ञान मिलते है। दर्शनमे हमको वह सेतु मिलना चाहिये जो भौतिक-अभौतिक, दृश्य-अदृश्य, जड़-चेतनको मिलाता है।

क्षिति, अप, तेज, वायु, आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्राचीन शब्द है। इनकी सहायतासे भारतीय विद्वान् भौतिक जगत्के स्वरूपको समझाते रहे है। परन्तु यदि इन शब्दोके वही अर्थ है जो सांख्य, न्याय और वैशेषिकके प्रचलित वाङ्मयमे किये जाते है तो ऐसा मानना होगा कि जो लोग इन शब्दोसे काम लेते है वह सत्यसे बहुत दूर है। इस क्षेत्रका विज्ञानने भी मन्थन किया है। अभी उसकी खोज समाप्त नही हुई है। सम्भव है वह आगे चलकर अपने कई सिद्धान्तोंको बदल दे। फिर भी

जितना निश्चित रूपसे ज्ञात है उतनेसे ही हम इस बातके लिए विवश हो जाते है कि या तो इन शब्दोको और उस विचारधाराको, जिसमे इनको स्थान मिलता है, छोड़ दे या फिर इनकी नयी निरुक्ति करे।

नयी निरुक्ति करनेमें किसी दार्शनिकको लज्जित होनेकी बात नही है, परन्तु मेरी यह धारणा है कि इन शब्दोंका प्राचीनतम अर्थ हम आज भूल गये है। इस अर्थका निरूपण मैने अंशतः 'भारतीय सृष्टिक्रम-विचार'-मे किया था। प्रस्तुत पुस्तकमे उसका विशदीकरण किया गया है। यह निरुक्ति विज्ञानके अनुकूल है। निःसन्देह मेरे ऊपर वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका प्रभाव पडा है, परन्तु मेरा विश्वास है कि वैज्ञानिक मतमें कभी संशोधन हुआ तब भी यह मीमासा रह जायगी। यहॉ दर्शनको विज्ञानके पीछे नही चलना है, परन्तु जहॉ विज्ञान नही पहुँच सका है वहॉ अपना प्रकाश डालना है। यदि कही विज्ञान दार्शनिक मतकी पुष्टि करता है तो विज्ञान और दर्शन दोनोंको इस सुयोगका स्वागत करना चाहिये।

दर्शन और विज्ञानका विरोध नही है। एकसे दूसरेको सतत सहायता मिलनी चाहिये। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय विद्वानोंका इस साहचर्यकी ओर ध्यान नही गया। विज्ञानके और अङ्ग चाहे न रहे हो, परन्तु गणितमे इस देशने बड़ी उन्नति की थी। गणित और दर्शनमे घनिष्ठ सम्बन्ध है। दिक्, काल और कार्यकारणशृङ्खला दोनोंके विचारणीय विषय है। परन्तु न तो हमारे प्रमुख गणिताचार्योंमे कोई उल्लेख्य दार्शनिक हुआ और न दार्शनिकोमे कोई गणितका ज्ञाता हुआ। अभीतक यही परम्परा चली आ रही है कि जो पण्डितगण दर्शनका अध्ययन करते है वह साहित्य और व्याकरण तो पढ़ते है, परन्तु गणितसे दूर रहते है। मैंने इस पुस्तकमे स्थल-स्थलपर गणितशास्त्रसे जो उदाहरण लिये है उनसे विषयको समझनेमे सहायता मिलती है। विज्ञानके अङ्गोमें गणितका विषय सबसे सूक्ष्म है। तर्कशास्त्र और गणितमे बहुत सादृश्य है। भारतीय दार्शनिकोको इस ओर ध्यान देना चाहिये।

हमारे प्राचीन दार्शनिक वाङ्मयमे दो बडी त्रुटियाँ है। एक तो यह है कि उसमे कलाके सम्बन्धमे कुछ भी नही कहा गया है। यह मान लिया गया है कि दर्शन शुष्क विषय है, उसका कलासे कोई सम्बन्ध नही है। साहित्यके विद्वानोने रसका विचार करते हुए सौन्दर्यानुभूतिके सम्बन्धमे कुछ कहा है, पर उनका निरूपण अधूरा है। वस्तुतः यह दर्शनका विषय है। मैने इसीलिए सौन्दर्यानुभूति और कलाके विवरणका समावेश किया है।

पुराने वाङ्मयमे सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमे आचारके विषयमे कही विवेचन नही किया गया है। धर्मकी चर्चा तो बहुत है, परन्तु धर्मके स्वरूपके विषयमे तात्त्विक विचार नही मिलता। धर्मकी कोई सार्वभौम परिभाषा भी नही दी गयी है। जैमिनि कहते हैं—'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म्मः'—जिसकी घोषणा, आज्ञा, वेदमे की गयी है वह धर्म है। यह धर्मकी परिभाषा नही है। 'जो खानमे मिलता है वह सोना है' कहनेसे सोनेके उद्गमका पता चलता है, उसके स्वरूपका बोध नही होता। कणाद 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः'—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो वह धर्म है—कहकर जैमिनिसे तो आगे जाते है, परन्तु वस्तुतः यह वाक्य भी धर्मका स्वरूप नही वरन् उसका फल बतलाता है। कर्मके परिणामके सम्बन्धमे तो बहुत शास्त्रार्थ मिलता है, परन्तु सत्कर्मके सम्बन्धमे इतना सङ्केत पर्याप्त समझ लिया गया था कि जो श्रुति कहे वह धर्म, सत्कर्म, कर्तव्य है। तैत्तिरीय उपनिषद्मे गुरु शिष्यसे कहता है—'यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः'—यदि तुमको कर्म (श्रौतस्मार्त यज्ञादि कर्म) या वृत्त (आचार) के सम्बन्धमे विचिकित्सा हो तो जो विचारशील मृदुस्वभाव 'धर्मकाम कर्मरत ब्राह्मण हो उनका अनुकरण करना। यह आदेश व्यवहारमे भले ही काम दे जाय, परन्तु शङ्काकी निवृत्ति करनेका इसमे कोई उपाय नही

बतलाया गया है। इसी प्रकार जब मनुस्मृति कहती है कि आचारके सम्बन्धमे 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः'—श्रुति, स्मृति, सदाचार और जो अपनेको प्रिय लगे प्रमाण है, तब भी यही कहना पड़ता है कि यह कर्तव्यकी ठीक परख नहीं हुई। अपनेको जो प्रिय लगता हो—यह तो ऐसा मार्ग है जिसमे पदे-पदे शङ्का होती है।

यह सब आदेश आज पर्याप्त नही माने जा सकते। लोग दार्शनिकसे वैयक्तिक और सामूहिक धर्म, सदाचारका स्वरूप पूछते है। वह जानना चाहते है कि सत्कर्म क्या है? कर्मकी अच्छाईकी क्या परख है? धार्मिक आचरणके पक्षमे क्या हेतु है? आज दार्शनिकको राजनीति और अर्थनीति, दण्डविधान और शिक्षाके सम्बन्धमे सम्मति देनी होगी और मार्ग दिखलाना होगा। यदि वह स्वतन्त्र रूपसे ऐसा नही कर सकता तो उसका दर्शन निकम्मा है।

मुझे दृढ विश्वास है कि दर्शन इन प्रश्नोका उत्तर दे सकता है। इसके लिए उसको किसी श्रुति या आप्त पुरुषकी शरणमे जानेकी आवश्यकता नही है। इस पुस्तकके एक बड़े अशमे इन्हीं प्रश्नोपर विचार किया गया है।

दर्शनके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझनेका ही यह परिणाम हुआ है कि आज वेदान्तका अर्थ अकर्मण्यता हो गया है। गीताके भगवद्वाक्य होनेका ढिंढोरा पीटनेवाले उसमे प्रतिपादित नैष्काम्यको अकर्मण्यता समझते है। विदेहराज, राम और कृष्णके कर्मठ जीवनोकी कथा पढते है; यह जानते है कि व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र, बुद्धदेव, महावीर, शङ्कराचार्य, कबीर, नानक आदिने ससारको मिथ्या मानते हुए भी कर्ममय जीवनको अपनाया, फिर भी, कर्मसे भागना ही त्याग समझ लिया गया है। इसलिए लोकसग्रह-बुद्धि शिथिल पड़ गयी है। कुछ न करना, लोगोके दुखी जीवनोको सुधारनेका सक्रिय उपाय न करना, अपना पेट भर लेना तप माना जाता है; जो लोकसेवामें लगता है उस-पर अँगुलियाँ उठती है। लोग इस बातको भूल गये है कि देवगण

अपने आध्यात्मिक सुखको छोड़कर निरन्तर लोकहितमे लगे रहते है, वशिष्ठ जैसे योगीश्वर ब्रह्मज्ञानी लोकहितके लिए मोक्षसे मुँह मोड़कर पुनः मनुष्य-शरीर धारण करते है, वोधिसत्त्व निर्वाणकी ओरसे मुँह फेरकर लोकहितके लिए एक वार माताके गर्भमे प्रवेश करते है। इन पुराने आदर्शोकी विस्मृतिने हमको कहीका न रखा। योगी और सच्चा दार्शनिक होना तो कठिन है ही, हम कर्मशील सद्गृहस्थ, अच्छे नागरिक भी न रह पाये। जिन तपोधनोने उपायान्तरके अभावमे लोकहितके लिए राजा वेणको अपने हाथो मारा उनकी कथा हम भूल गये; आज वही महासाधु है जो समाजके धक्‌धक् जलते हुए विशाल भवनपर एक छीटा पानी डालनेका दायित्व अपने ऊपर नही लेना चाहता।

मैने कई स्थलोपर साग्रह कहा है कि योगाभ्यासके विना दार्शनिक ज्ञान नही हो सकता। आज निदिध्यासनकी परिपाटी उठ गयी है। वेद-विद्यालयो, विश्वविद्यालयो और पाठशालाओमे पुस्तके रटी जाती है। आजसे कई सौ वर्ष पहिलेके शास्त्रार्थोमे जो तर्क काम आते थे वह आज भी कण्ठस्थ कर लिये जाते है। दर्शनका कर्म और साक्षात्कारसे इतना विच्छेद हो गया है कि अपने सम्बन्धमे 'ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'की उक्ति करनेवाला श्रीहर्ष भी वेदान्तकी शिक्षा देनेका अधिकारी समझा जाता है। सन्यासी तो बहुधा ग्रन्थ पढनेका भी श्रम नही उठाते। उनको चारो महावाक्योको दुहरा लेनेसे ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है! जो लोग सायप्रातः सन्ध्या करते समय ठीकसे तीन प्राणायाम नही कर सकते वह छात्रोको योगशास्त्रके रहस्य समझानेका दुःसाहस करते है।

मै यह नही कहता कि पुस्तकोको न पढ़ना चाहिये। यदि ऐसा समझता तो इस पुस्तकको लिखता ही क्यो। पुस्तक श्रवण और मननकी सामग्री है, परन्तु केवल श्रवण और मननसे काम नही चल सकता। साक्षात्कारके लिए, अपना और जगत्‌का स्वरूप जाननेके लिए, योगाभ्यास अनिवार्यतया आवश्यक है। इसमे विभापाके लिए स्थान ही

नहीं है। समाधिमें ही साक्षात्कार होता है। जो इस मार्गपर जितना ही आगे बढ़ता है उसको उतना ही विशद, विशङ्क, ज्ञान होता है। समाधिके एक क्षणकी तुलनामें पठन-पाठन और मननका सहस्र वर्ष भी नहीं ठहरता। शर्कराके सम्बन्धमें एक पुस्तकालयभर ग्रन्थ लिखे और पढ़े जा सकते हैं, परन्तु उसका स्वाद वही जानता है जिसकी जिह्वापर कभी एक बताशा पड़ा है। श्रोत्रियताकी कमीसे वह दूसरोंतक अपने ज्ञानका कोई भी अंश चाहे न पहुँचा सके, परन्तु वह स्वयं उस आनन्दका अनुभव करता है जो ज्ञानका नित्य आनुषङ्गिक है। सच तो यह है कि कोई भी अनुभव दूसरेतक यथार्थरूपमें नहीं पहुँचाया जा सकता। मेरे जैसे अल्पज्ञ जिस बातको कहनेमें बिगाड़ देंगे उसीको जो बहुश्रुत मेधावी होगा वह सुबोध बना देगा, परन्तु जो तत्त्व अवाङ्मनसगोचर है उसको स्वयं भारती भी शब्दबद्ध नहीं कर सकती। भारतके बाहरके विद्वानोंने दर्शनका योगसे कोई सम्बन्ध नहीं माना है। यदि दर्शन कोरा बुद्धिविलासका विषय होता तो यह विभाजन ठीक हो सकता था। दार्शनिक मत या तो साक्षात्कारका परिणाम है या कल्पनामात्र है। जगत्के स्वरूपको समझनेके प्रयत्नमें कई ऐसी ग्रन्थियाँ मिलती हैं जिनको तर्क नहीं खोल सकता। वह या तो प्रत्यक्ष अनुभवसे खुलती है या बँधी ही रह जाती है।

मुझे बारम्बार योगकी प्रशंसा और कोरे पाण्डित्यकी निन्दा करते देखकर यह प्रश्न मुझसे पूछा जा सकता है कि क्या तुम स्वयं योगी हो ? मैं इस सम्बन्धमें इतना ही निवेदन करूँगा कि सद्गुरुकी कृपाने मुझमें योगके प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। मैंने योग और ज्ञानके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह सबका सब मेरे अनुभवका परिणाम हो या न हो, किन्तु मेरे दृढ़ विश्वासका व्यञ्जक निःसन्देह है। इतना ही और कहना चाहता हूँ कि आजकल जो यह विश्वास फैल गया है कि हम एतत्कालीन मनुष्य योगाभ्यास करनेके योग्य नहीं हैं, इसके लिए कोई आधार नहीं है। आजका मनुष्य भी योग कर सकता है; योगका स्थान कोई दूसरी उपासना-शैली नहीं ले सकती।

यह न तो मनोविज्ञानकी पुस्तक है, न कर्तव्यशास्त्रकी, न उपासना, धर्मशास्त्र, योग या कलाकी। इसमे इन सब विषयोंका थोड़ा-बहुत सन्निवेश हुआ है, परन्तु वह पर्याप्त नही है। अध्यात्मशास्त्र वह प्रकाश देता है जिसकी सहायतासे अज्ञानका अन्धकार दूर किया जा सकता है। जगत्‌के स्वरूपको पहिचान लेनेसे सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्‌से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओका निर्ग्रन्थन हो जाता है। अध्यात्मज्योति समस्त जीवनको विशङ्क और शुभ्र बना सकती है। मुझको विश्वास है कि जो दार्शनिक सिद्धान्त इस पुस्तकमे प्रतिपादित है वह सभी दृग्विषयोको, विज्ञानके सभी अङ्गोको, योग, आचार, उपासना और कलाको, एक सूत्रमे बाँधनेमे समर्थ है। जो लोग इन प्रश्नोमे रुचि रखते हो उनको गम्भीर मननसे काम लेना चाहिये। शङ्काओका उत्थापन और निराकरण तथा आध्यात्मिक प्रकाशमे विभिन्न शास्त्रोंका विस्तार न केवल बुद्धिविलास और व्यक्तिकी मानस तुष्टिका साधन होगा प्रत्युत इससे लोकका भी बहुत कल्याण होगा।

पुस्तक तीन खण्डोमे विभक्त है। पहिले खण्डमे प्रायः ऐसे विचार है जिनका उपयोग सारी पुस्तकमे हुआ है। इसीलिए उसको आधारखण्ड कहा गया है। इसमे प्राप्त हुए कुछ निर्णीतार्थोको विस्तृत विचारके बाद द्वितीय खण्डमे बदलना भी पड़ा है। दूसरे खण्डका नाम ज्ञानखण्ड है। इसमे ही मुख्य विषयका प्रतिपादन है। तीसरे खण्डमे, जैसा कि उसके नाम धर्मखण्डसे प्रकट होता है, धर्म-सम्बन्धी विमर्श है।

दो शब्द पारिभाषिक शब्दोके विषयमे कहना है। कुछ नये शब्द तो मुझको बनाने पड़े है, परन्तु अधिकतर शब्द वही है जो भारतीय दर्शनके सभी विद्यार्थियोको परिचित है। परन्तु मै यह नहीं कह सकता कि संवित्, प्रत्यय, प्रज्ञान आदि पुरानी पुस्तकोमे सर्वत्र ठीक उन्ही अर्थोंमे व्यवहृत हुए है जिनमे मैने उनका प्रयोग किया है। वस्तुस्थिति यह है कि इन शब्दोंके सर्वतन्त्रसम्मत अर्थ है ही नही। विपर्यय और अध्यास जैसे शब्दोको मैने समानार्थक मान लिया है, यद्यपि इनके प्रतितन्त्र प्रयोगोमे भेद है।

सत्य सार्वदेशिक है। उसको भौगोलिक सीमाओमे नही बॉधा जा सकता। सास्कृतिक क्षेत्रको पक्षपातसे कलुषित न होने देना चाहिये। सत्य न तो प्राचीके हाथ बिका है, न प्रतीचीके। दर्शनको प्राच्य और पाश्चात्य नामके दो विभागोमे बॉटना भ्रामक और कृत्रिम है।

इसी प्रकार दर्शनका किसी सम्प्रदाय-विशेषसे नित्य सम्बन्ध नही है। मै ऐसा मानता हूँ कि सभ्यता और सस्कृतिका समुदय सबसे पहिले आर्य जातिमे हुआ और पूर्व युगोके तपस्वियोंने ऋषियो और मनुओ-का शरीर धारण करके सबसे पहिले आर्य जातिको आत्मज्ञानका मार्ग दिखलाया। इसलिए ज्ञान और योगका सबसे प्राचीन और परिपूर्ण भण्डार वेद है। इस देशमे यह परम्परा कभी लुप्त नही होने पायी, आप्त पुरुष बराबर अवतरित होते रहे। उन लोगोने ऐसे कुलोमे जन्म लिया जो सनातनधर्मावलम्बी थे, उनके श्रोता भी प्रायः इसी सम्प्रदायके अनुयायी थे। इसलिए स्वभावतः उनकी भाषा और निरूपणशैली-पर वह छाप पड़ी जिसको लौकिक व्यवहारमे हिन्दुत्व कहते है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी होनेके लिए हिन्दू-कुलमे जन्म लेना, सस्कृतको पवित्र भाषा मानना या हिन्दू ढङ्गकी उपासना करना आवश्यक नही है। इस देशके महाभाग आचार्योंने योगाधिकारमे जाति, कुल या सम्प्रदायको स्थान नही दिया है। मोक्षपदवी इन क्षुद्र भेदोसे ऊपर है, उसका पथ असंकीर्ण है।

दर्शन शुष्क शास्त्र माना जाता है। जो लोग अपने भावुक हृदयो-की तृप्ति ढूँढ़ते है उनके लिए दर्शन सचमुच नीरस है। अद्वैतवाद किसी ऐसे लोककी आशा नही बॅधाता जहॉ पहुॅचकर जीव दिव्य सङ्गीत, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूपका नित्य अनुभव करेगा, वह तो जीवकी सत्ताकी अनुभूतिको भी नही रहने देना चाहता; वह तप, विरति और योगा-भ्यासका आदेश करता है। यह सब बाते कहने, सुनने और करनेमें कड़ुवी है, परन्तु परमश्रेयस्का यही रूप है कि वह आदिमे विषवत् प्रतीत होता है परन्तु अन्तमे अमृतोपम देख पड़ता है। घूँट कड़ुआ है,

परन्तु पीनेके साथ ही प्राण पीयूषमय हो जाते है। यही वह सोमरस है जिसकी महिमा वेद गाते है। पराविद्या परमानन्दरूपा है।

मै अपनी त्रुटियोको जानता हूँ। बहुत-से स्थलोपर निबन्ध दुरूह और दुर्बोध हो गया होगा, बहुत-सी शकाएँ अनिवारित रह गयी होगी; मेरी अल्पज्ञता, अल्पमेधाविता और प्रमादके कारण कहीं-कहीं विषयका अन्यथा प्रतिपादन हो गया होगा; विमत-प्रतिवचनमे कही-कहीं दुर्विनीत भाषाका प्रयोग हो गया होगा और शास्त्रोकी निरुक्ति और मीमासा करनेमे वितथा-ख्यान हो गया होगा। इसके लिए क्षमायाची हूँ। इन दोषोके रहते भी यदि यह पुस्तक किसी पाठकमे सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न करने और किसीको कर्तव्यका मार्ग दिखलानेमे समर्थ हुई तो मै अपनेको धन्य मानूँगा।

अपने विदित अविदित अपराधोके लिए क्षमाकी प्रार्थना कर चुका हूँ। यदि पुस्तकमे कुछ भी उपादेय है तो उसके लिए मै पुराकालके पथि-कृत् ऋषियोसे लेकर आजतकके सभी सत्यसाक्षात्कर्ताओ और विचारकोका ऋणी हूँ। इन्ही लोगोने हमारे ज्ञानकोषको रत्नपूरित करके मनुष्यको सभ्य और सस्कृत बनानेका और परमपुरुषार्थ प्राप्त करनेका अवसर दिया है। जिन श्रीगुरुचरणोकी प्रभाने अपने शीतल स्पर्शसे मेरे जीवनको पुनीत किया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए धृष्टता होगी।

मेरे पुराने छात्र डाक्टर ब्रह्मानन्द अग्निहोत्रीने इसकी पाण्डुलिपिको पढा था। वह पढते जाते थे और मै सुनता जाता था। उनको इससे कोई लाभ हुआ या नही यह तो मै नही कह सकता, परन्तु उनकी उक्त-अनुक्त शकाओके निराकरण करनेमे बीच-बीचमे कई बाते मेरे ध्यानसे आती गयी जिनका मैने यथास्थान सन्निवेश कर दिया है। देवगण डाक्टर अग्निहोत्रीका कल्याण करें।

सेण्ट्रल प्रिजन, बरेली
२३ वृश्चिक, २०००

सम्पूर्णानन्द

विषय सूची

ज्ञानखण्ड

धर्मखण्ड

आधारखण्ड

पहिला अध्याय

दर्शनशास्त्रका विषय

१. पुरुषार्थाधिकरण

मनुष्य चेतन है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको चेतन जानता है। मै चेतन हूं या नहीं, इस सम्बन्धमे कोई मनुष्य किसी साक्षीकी आवश्यकता नहीं समझता। स्वानुभूतिको ही इस क्षेत्रमे प्रमाणका पद प्राप्त है। हम चेतन है इसलिए हममे अनेक प्रकारकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, वासनाएँ, एषणाएँ—यह सब शब्द मिलते-जुलते अर्थमें विभिन्न शास्त्रकारो द्वारा प्रयुक्त हुए है—समय-समयपर उठती रहती है; राग एक ओर खींचता है, द्वेष दूसरी ओर; सुख ऊपर उठाता है, दुःख नीचे डुबाता है। चित्तके इन परिणामोंके फलस्वरूप हम शरीरसे विभिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते है। चेष्टा-सादृश्यसे ही अपनेसे बाहर चेतनाके अस्तित्वका अनुमान करते है। जिस शरीरकी चेष्टाएँ जितनी ही हमसे सदृश होती है हम उस शरीरमे उतनी ही अधिक चेतना या चेतनाका उतना ही अधिक विकास मानते है।

हमारी एषणाओमे एक ऐसी है जो यावज्जीवन बनी रहती है। इसका रूप है—मैं न मरूँ। कीटाणुसे लेकर मनुष्यतकमे यह पायी जाती है और प्रतिक्षण विद्यमान रहती है। साधु हो या राक्षस, कोई यह नही सोचता कि मेरे जीनेसे क्या लाभ है, बस जीता रहना चाहता है। जीवन-प्रदीपका जलता रहना कुछ उपकरणोंपर निर्भर करता है। इनमे भोजन, वस्त्र और घर मुख्य है। इनको सामूहिक रूपसे धन या सम्पत्ति कह सकते है। सम्पत्ति आकर भी छिन सकती है, इसलिए स्वभावतः यह भी इच्छा होती है कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो जिसमे जीवन और सम्पत्तिकी रक्षा हो और सम्पत्ति-उपार्जन किया जा सके। स्वास्थ्य, सम्पत्ति,

सामाजिक सुव्यवस्था—इन सबका अधिकसे अधिक उपयोग और उपभोग मै करूँ, यह मनुष्यमात्रकी प्रबलतम इच्छा रहती है। सम्पत्ति और व्यवस्थाके रूपमे परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इच्छाका मूल रूप ज्योंका त्यों रहता है। इस पुरुषार्थ—पुरुषके अर्थ या लक्ष्य—को अर्थ कहते है।

मनुष्यमे प्रायः इतनी ही प्रबल एक दूसरी एषणा है। इसकी पूर्ण रूपसे अभिव्यक्ति प्रायः चौदहसे अठारह वर्षके वयमे होती है। इसको रति-एषणा या कामवासना कह सकते है। वयस्क पुरुषको स्त्री और वयस्क स्त्रीको पुरुषकी खोज होती है। यह वासना बहुतसे पशुपक्षि-कीटादिमे भी पायी जाती है और कभी-कभी तो जीवितेच्छासे भी प्रबल हो उठती है। इसीसे सलग्न सन्तानैषणा होती है। पुरुष और पुरुषसे भी बढकर स्त्रीको सन्तानकी भूख होती है। पुरुषके बिना स्त्री अधूरी रहती है, स्त्रीके बिना पुरुष अधूरा रहता है। खाना-पीना सब-कुछ हो, पर अकेले पुरुष और अकेली स्त्रीको अपनेमे कुछ सूना-सूना-सा लगता है। स्त्री-पुरुषका मिलना केवल दो शरीरोका मिलना नही होता, दो चित्त मिलकर एक होते है, एककी कमी दूसरेसे पूरी होती है, दोनो मिलकर एक अपूर्व योग प्रस्तुत होता है। यदि वर-वधूका चुनाव ठीक हुआ है तो दम्पतीको जिस सुखका अनुभव होगा वह उनको अन्यथा कदापि नही मिल सकता था। खान-पीना, विश्राम करना, घूमना-फिरना, घरका प्रबन्ध करना, सभी कामोमे एक विलक्षण रस मिलता है। परन्तु, यदि दम्पतीकी गोद सूनी हो, घरमे बच्चे न हो, तो गृहस्थी फिर भी फीकी रह जाती है। मनुष्य, विशेषतः स्त्रीके स्वभावमे कई ऐसे गुण है जो बच्चोंके अभावमे खिलते ही नही। सन्तानमे माता-पिता अपने 'स्व'का सवृद्ध रूप देखते है; सन्तानके सुख-दुःख, जय-पराजयमे अपने आत्माका विकास और सङ्कोच प्रतीत होता है। जिस प्रकार अपने लिए स्वास्थ्य और सम्पत्तिकी अभिलाषा की जाती है उसी प्रकार सन्तानके लिए भी की जाती है। इस पुरुषार्थको काम कहते है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कुछ विशेष व्यक्ति कुछ विशेष

अवस्थाओंमें भले ही कुछ कालके लिए समाजसे दूर चले जायँ, परन्तु सामान्यतः मनुष्यको समाजमें रहना अच्छा लगता है। इससे कुछ तो प्रत्यक्ष लाभ होते हैं। सबको अपना हित, अपना ही अर्थ और काम, भले ही अभीष्ट हो, परन्तु इस इच्छाकी पूर्ति भी समुदायमें अच्छी होती है। शत्रुओंपर आक्रमण और उनसे बचाव, जंगल काटकर खेत और घर बनाना, बड़े बनैले पशुओंको भगाना—यह सब काम मिलकर ही किये जा सकते हैं। इसके सिवाय, मनुष्यके स्वभावकी कई ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो समाजमें ही सफल हो सकती हैं। यदि उनको प्रस्फुटित होनेका अवसर न मिले तो मनुष्यका चरित्र अपूर्ण रह जायगा। दया, करुणा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, क्षमा, सहिष्णुताने मनुष्यको मनुष्य बनाया है, पर इन गुणोंका विकास समाजमें ही हो सकता है। जब कई मनुष्य एक साथ रहेंगे तो यह असम्भव है कि सब केवल अपने-अपने अर्थ और कामकी बात सोचें। एक-एक फलके पीछे लड़ाई होगी, एक स्त्रीके पीछे बीसों पुरुषों और एक पुरुषके पीछे बीसों स्त्रियोंके प्राण चले जायँगे। समाजसे पागलखाने और कसाईखानेका सम्मिलित दृश्य देख पड़ेगा। इससे सबके स्वार्थोंकी हानि होगी। इसलिए आरम्भिक कालमें ही कुछ व्यावहारिक नियम बन गये जिनका परिणाम सामाजिक जीवनको सम्भव बनाना हुआ। इस कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि उस आरम्भिक कालके मनुष्योंने पञ्चायत करके ऐसे नियम बनाये। इन नियमोंके बीज तो मनुष्यकी प्रकृतिमें वर्तमान थे। बहुतसे तिर्यक् प्राणी भी समाज बनाकर रहते हैं। उनमें भी कुछ व्यावहारिक नियम देख पड़ते हैं। जिस बौद्धिक विकासने समाजमें रहनेको प्रेरित किया उसीने दूसरोंके साथ रहना भी सिखाया। पीछेसे मनुष्यने इन प्रवृत्तियोंको अधिक उन्नत रूप दिया और समाजको सभ्य और संस्कृत समाज बनाया।

समाजमें सब अपना अर्थ और काम सिद्ध करना चाहते हैं, इसीसे अधिकारों और कर्तव्योंकी शृङ्खलाएँ बन जाती हैं। जो कुछ दूसरोंको हमारे साथ करना है, जो हमको दूसरोंसे पाना है, वह हमारा अधिकार

है, जो हमको दूसरोंके साथ करना है, जो दूसरोंको हमसे पाना है, वह हमारा कर्तव्य है। यदि सम्भव होता तो मनुष्य अपने अधिकारोंकी मात्रा बढ़ा देता और कर्तव्योंकी घटा देता। परन्तु कर्तव्य ही अधिकारकी रक्षा करते हैं, इसलिए जिसके जितने अधिकार होते हैं, उसके उतने ही कर्तव्य होते हैं। बुरे लोग अपने अधिकारों और दूसरोंके कर्तव्योंको बराबर ध्यानमें रखते हैं। इससे दौर्मनस्य फैलता है और संघर्ष बना रहता है। अच्छे लोग इसके विपरीत करते हैं। वह अपने कर्तव्योंका ही विचार सामने रखते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार अनायास प्राप्त हो जायँ। जो कर्तव्यका पालन करना चाहता है उसके लिए कर्तव्यको पहचानना परमावश्यक है। कर्तव्यका क्षेत्र संकुचित नहीं है। समाज शब्दका संकीर्ण अर्थ भी लिया जा सकता है, परन्तु वस्तुतः वह सब प्राणी जिनके सहयोगसे हमारी जीवनयात्रा हो रही है, हमारा अर्थ और काम सिद्ध हो रहा है, हमारे समाजके अङ्ग हैं। उन सबका हमारे ऊपर उपकार है, उन सबके हमारे प्रति अधिकार हैं, उन सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। जहाँतक कि हम इन कर्तव्योंको पहिचाननेका यत्न नहीं करते वहाँतक हमारी कृतघ्नता है और हम चोरीके अपराधी हैं। यदि एक बार यह भाव दृढ़ हो जाय तो बुद्धिमें अधिकारों-का, अपने अर्थ और कामका स्थान गौण हो जाता है और कर्तव्योंका, पूर्णरूपेण सर्वतोमुख कर्तव्यपालनका, स्थान श्रेष्ठ हो जाता है। कर्तव्यपालन अधिकार-प्राप्तिके साधनके पदसे उठकर स्वतः साध्य बन जाता है। हमारा सम्बन्ध कीट-पतङ्ग-पशु-पक्षियोंसे है, मनुष्योंसे है, अपने कुटुम्बियोंसे है, यदि किसी प्रकारके देवशरीरी हैं तो उनसे है। वह सब अपने-अपने ढङ्गसे हमको प्रभावित कर रहे हैं, सबका भिन्न-भिन्न प्रकारका ऋण हमपर है, इसलिए सबके साथ प्रत्युपकार, सबकी सेवाका प्रकार भी एक-सा नहीं हो सकता। परन्तु यदि अपना कर्तव्य सम्यक्रूपेण पहिचाना जा सके और उसका सम्यक्रूपेण पालन किया जाय तो जगत्-में निःसीम सुख-समृद्धिका राज्य हो और प्रत्येक व्यक्तिका अनायास

सर्वतोमुख अभ्युदय हो। जो अपने अर्थ और कामको जितना ही भुला सकेगा वह कर्तव्यको पहचानने और उसका पालन करनेमे उतना ही सफल होगा। इसलिए कर्तव्यको पहिचानना और उसका पालन करना जीवनका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस पुरुषार्थको धर्म कहते हैं।

हम देख चुके है कि धर्मके दो अङ्ग है, उनको पहिचानना और पहिचानकर पालन करना। पहिले प्रथम अङ्गको लीजिये। यो तो लोकाचार, शिष्टाचार, कुलाचार और शास्त्रादेशसे व्यवहारके लिए मार्ग मिल ही जाता है और इस मार्गपर चलनेवालेसे लोग प्रायः प्रसन्न भी रहते है, परन्तु गम्भीर विचारक इतनेसे सन्तुष्ट नही हो सकता। वह आचरणके पीछे 'क्यो' पूछे विना रह नही सकता। वह यह जानना चाहता है कि उसका इस विश्वमे किस-किसके साथ कैसा सम्बन्ध है। तभी धर्मका स्वरूप स्थिर हो सकता है। परन्तु जगत्मे दूसरोके साथ अपना सम्बन्ध, विश्वमे अपना स्थान जानना वस्तुतः जगत्के स्वरूपको पहिचानना है। इस स्वरूपको पहिचाननेमे कई शास्त्र सहायता देते है। गणित, भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान विश्वके भिन्न-भिन्न अङ्गोपर प्रकाश डालते है। यह प्रकाश उपयोगी है परन्तु पर्याप्त नहीं है। जगत् अयुतसिद्धावयव वस्तु है। अयुतसिद्धावयव ऐसी वस्तुको कहते है जिसके अवयव पृथक् रहकर सजीव नहीं रह सकते, उनकी उपयोगिता अङ्गीके अङ्ग होने, कुलके भाग होनेमे ही है। हमारा शरीर ऐसी ही वस्तु है। उसका एक अवयव हाथ ले लीजिये। शरीरसे पृथक् रहकर हाथ जीवित नहीं रह सकता। उसकी सार्थकता भी शरीरमे रहकर ही है, पृथक् होकर वह व्यर्थका मांसपिण्डमात्र है।

इसी प्रकार यह विश्व अयुतसिद्धावयव है। इसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गोसे मिलकर सार्थकता पाता है। हम सुविधाके लिए टुकड़ोंका भले ही अलग-अलग अध्ययन करे परन्तु किसी टुकड़ेका ज्ञान तवतक पूरा नहीं हो सकता जवतक यह न जान लिया जाय कि कुलमे उसका क्या स्थान है। विभिन्न विज्ञानोके क्षेत्रोंका बँटवारा भी वस्तुतः कृत्रिम है।

एक चींटीको लीजिये। उसका शरीर पार्थिव तत्त्वोंका बना है, इसलिए रसायन और भौतिक विज्ञानका विषय है। इसी शरीरसे चींटी दौड़ती है, बोझ उठाती है, उसका तापमान घटता-बढ़ता है। यह सब गणितका विषय है। वह जीवित है, उसकी देह और इन्द्रियोंका विशेष प्रकारसे विकास हुआ है, यह सब जीवविज्ञानका विषय है। वह कुछ पसन्द करती है, कुछ नापसन्द करती है, क्रोध करती है, यह सब मनोविज्ञानके क्षेत्रमें है। चींटीको पूरा-पूरा समझनेके लिए इन पृथक् शास्त्रोंका ज्ञान तो होना ही चाहिये, वह बुद्धि भी होनी चाहिये जो इन सबका समन्वय कर सके। कोई भी अयुतसिद्धावयव वस्तु हो, उसका वास्तविक रूप अपने अवयवोंके योगसे बड़ा होता है। अवयवी प्रत्येक अवयवमें व्याप्त रहता है और सब अवयवोंके ऊपर भी रहता है। हाथ-पाँव-कान-आँखके जोड़ मात्रका नाम मनुष्य नहीं है। हाथ मनुष्यका हाथ है, आँख मनुष्यकी आँख है। प्रत्येक अवयवमें मनुष्य विद्यमान है और इन सबसे बड़ा भी है। इसी प्रकार विश्व अपने चराचर जड़-चेतन अवयवोंके भीतर भी है और बाहर भी, विश्वका पूर्ण रूप पहिचाननेके लिए विभिन्न शास्त्रोंका ज्ञान तो चाहिये, पर साथ ही वह बुद्धि चाहिये जो टुकड़ोंके बीचमें सम्पूर्णताको पकड़ सके। यदि वह सूत्र न पकड़ा जा सका जो अनेकोंको एक बनाता है, तो यह जगत् मलवेका ढेर रह जायगा। जब हम इस सूत्रको पकड़नेका प्रयत्न करते हैं तब अपने अज्ञानका पता लगता है। अज्ञानके कई रूप हैं। इस दृष्टिसे हमारा अज्ञान बहुत बड़ा है। जबतक यह दूर नहीं होता तबतक धर्मका स्वरूप पहिचाना नहीं जा सकता।

एक और कठिनाई है। जो कुछ थोड़ी-बहुत पहिचान हो भी जाती है उसके अनुसार काम करना सुकर नहीं होता। धर्मका पालन करना दुष्कर होता है। पदे-पदे विघ्नबाधा पड़ती है। हम इतने दुर्बल हैं कि इन विघ्नोंसे दब जाते हैं और अनिच्छन्नपि अधर्म कर बैठते हैं। इस अशक्तिके मूलमें भी अज्ञान है। ज्यों-ज्यों मनुष्यका ज्ञान बढ़ता

है त्यों-त्यो वह परिस्थितियोंको स्ववशवर्ती बनानेमें समर्थ होता है। जो पूर्ण ज्ञानी होगा वह सर्वशक्त भी होगा। ज्यो-ज्यो जगत्‌के स्वरूपका ज्ञान बढ़ेगा त्यों-त्यों धर्मका ज्ञान बढ़ेगा और उसको पालन करनेकी क्षमता बढ़ेगी। यह निश्चित है कि जो तीनों पहिलेके पुरुषार्थोंको जितना ही भुला सकेगा वह ज्ञान-सम्पादनमें उतना ही सफल होगा।

हम देख चुके हैं कि मनुष्य चाहे अर्थ और कामको ही लक्ष्य मान-कर चला हो, परन्तु ज्यो-ज्यो उसकी बुद्धिमें यह बात बैठती जाती है कि धर्मके बिना अर्थ और काम सिद्ध नहीं हो सकते, त्यों-त्यों उसका ध्यान इनकी ओरसे हटकर धर्मकी ओर लग जाता है और क्रमशः धर्म साधन न रहकर साध्य बन जाता है। संस्कृत बुद्धिकी यह पहिचान है। इसी प्रकार जब यह बात समझमें बैठ जाती है कि अज्ञानसे छुटकारा पाये बिना धर्मका सम्पादन सम्भव नहीं है तो क्रमशः अज्ञाननिवृत्ति स्वयं साध्य हो जाती है। इस स्थितिके उत्पन्न होनेमें और बाते भी सहायक होती हैं। जिज्ञासा हमारे चित्तका स्वाभाविक धर्म है। मै क्या हूँ? जगत् क्या है? मेरे सिवाय और भी चेतन व्यक्ति है या नहीं? इस प्रकारके प्रश्न चित्तमें उठते है। इनके उत्तर जाननेकी उत्कट इच्छा होती है। वैयक्तिक और सामूहिक धर्मका पालन उसका व्यावहारिक परिणाम है, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति अर्थात् ज्ञानसे जो एक अपूर्व आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होती है वह उसका सबसे बड़ा फल है। जिस किसीको विज्ञानके अध्ययनके द्वारा कभी जगत्‌के रहस्यका थोड़ा-सा भी परिचय मिला होगा उसको इस आनन्द और शान्तिकी एक झलक देख पड़ी होगी। अतः अज्ञानसे छुटकारा पाना और ज्ञानके द्वारा जगत्‌के स्वरूप और अपने, स्वरूपको पहिचानना मनुष्यका श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिये। इस पुरुषार्थको मोक्ष कहते है।

२. शास्त्रक्षेत्राधिकरण

जो शास्त्र सम्पूर्ण विश्वको, समूचे जगत्‌को एक मानकर उसके स्वरूप-को, उसके अवयवोंके पारस्परिक सम्बन्ध और कुलसे अर्थात् अवयवीसे

उनके स्थानको, और उसके विकास और सङ्कोचको अपना विषय बनाता है उसको अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र कहते हैं। दर्शनशास्त्रको विभिन्न एकदेशीय शास्त्रोंसे निष्पन्न सामग्रीसे काम लेना पडता है परन्तु वह सामग्री दर्शनके लिए पर्याप्त नहीं है। उसको मिलाकर एकमें ग्रथित करना पड़ता है तभी सार्वदेशिक चित्र बन सकता है। यह समन्वय-कार्य दार्शनिकका अपना क्षेत्र है। सर्वका ज्ञान ही अज्ञानकी निवृत्ति है, इसलिए दर्शन मोक्ष-शास्त्र है। जो मुमुक्षु हो उसे दर्शनका अध्ययन करना चाहिये।

यदि विश्वपर दृष्टि डाली जाय तो उसके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—

अस्मत् (मैं)—ज्ञाता या द्रष्टा

युष्मत् (तुम)—ज्ञेय या दृश्य

अस्मत्-युष्मत्के योगसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यह विभाग एक प्रकारसे काल्पनिक है। सच्चा विभाग तो उसको कहते हैं जिसमें टुकड़े एक-दूसरेसे पृथक्, पूर्णतया अलग हों। कागजके दो टुकड़े करके अलग-अलग फेंक दिये जायँ तब तो विभाजन हुआ, परन्तु यदि कागजपर एक रेखा खींचकर दो टुकड़े करिये तो विभाग काल्पनिक होगा। रेखामें गणितकी परिभाषाके अनुसार चौड़ाई नहीं होती। इसलिए इस विभाजक रेखाके प्रत्येक बिन्दु-पर दोनों भाग एक-दूसरेको स्पर्श करते हैं और कागजकी सत्ता अखण्डित बनी रहती है। ऐसी रेखा कहीं और खींची जा सकती है। वैसे ही दो भाग हो जायँगे, परन्तु कागज ज्योंका त्यों अविभक्त बना रहेगा। रेखाका खींचना, न खींचना हमारी सुविधापर निर्भर करता है। यही बात विश्वमें है। मेरे लिए जो कुछ मेरे अतिरिक्त है वह सब युष्मत्, ज्ञेय, दृश्य, मेरे बाहर है। आपकी सत्ता मेरे लिए युष्मत् है। परन्तु आप इस विश्वका विभाग दूसरी प्रकार करते हैं। आप अपने लिए अस्मत् हैं, और सब-कुछ आपके लिए युष्मत् है। अस्मत्-युष्मदात्मक जगत् उभयतः ज्योंका त्यों, अविभक्त, अखण्डित है। द्रष्टाके बिना दृश्य नहीं हो सकता, दृश्यके बिना

द्रष्टा नहीं हो सकता। द्रष्टा तभीतक द्रष्टा है जबतक उसके सामने कोई दृश्य है; दृश्य तभीतक दृश्य है जबतक उसका कोई द्रष्टा है। द्रष्टाहीन दृश्य और दृश्यहीन द्रष्टा हमारे लिए अचिन्त्य हैं। जिस बिन्दुपर द्रष्टा और दृश्य मिलते हैं, अस्मत् और युष्मत्का जहाँ संस्पर्श होता है, उसको ज्ञान या दर्शन कहते है।

जब दर्शनशास्त्रका विषय सम्पूर्ण विश्व है तो फिर उसको तीन प्रकार-के प्रश्नोंपर प्रकाश डालना चाहिये। जैसे—

(क) युष्मत् एक है या अनेक? यदि एक है तो अनेकवत् कैसे प्रतीत होता है? उस एक पदार्थका स्वरूप क्या है? यदि अनेक है तो उसका स्वरूप वही है जो प्रतीत हो रहा है या कुछ और? अन्यथा प्रतीति क्यों होती है?

(ख) अस्मत्का स्वरूप क्या है? वह एक है या अनेक? एक है तो अनेकवत् क्यो प्रतीत होता है?

(ग) अस्मत्-युष्मत्का योग कैसे होता है? इस तीसरे प्रश्नके तीन रूप हो सकते है—

१. ज्ञाता और ज्ञानका क्या सम्बन्ध है?
२. ज्ञान और ज्ञेयका क्या सम्बन्ध है?
३. ज्ञाता और ज्ञेयका क्या सम्बन्ध है?

इन सब समस्याओंके सुलझ जानेपर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयात्मक विश्वके स्वरूपका सम्यग्बोध हो सकता है। यह बोध ही दर्शनके अध्ययनका प्रयोजन है।

इन प्रश्नोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तर दिये जा सकते है। उत्तरोंमे क्यो भेद होता है इस सम्बन्धमें अगले अध्यायमें विचार होगा। इसीलिए दार्शनिक विचारोमे कई धाराएँ होती है। इनको ही विभिन्न 'वाद' कहते है। विश्वके स्वरूपको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखा जा सकता है इसीलिए इस शास्त्रको दर्शनशास्त्र और प्रत्येक वादको दर्शन कहते है। यह हो

सकता है कि कोई वाद नितान्त निराधार हो, परन्तु अधिक सम्भावना इस बातकी है कि सभी वादोंमें सत्यका कुछ-न-कुछ अंश है। हाथी हाथी ही है, पर जो उसके कान या सूँड़ या टाँग या पूँछको ही जानता है वह भी नितान्त अँधेरेमें नहीं है। कोई अवयव सम्पूर्ण हाथी नहीं है परन्तु प्रत्येक अवयवमें हाथी है।

दूसरा अध्याय

ज्ञान और सत्य

१. नयभेदाधिकरण

जिन विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विश्वके स्वरूपका अध्ययन किया जा सकता है उनको नय कहते हैं। हमने पिछले अध्यायमें चींटीके शरीरका उल्लेख किया था। साधारण मनुष्यके लिए यह शरीर त्वक्, रोम, लोहू जैसी धातुओंसे बना है। रासायनिक विश्लेषण इन धातुओंके भीतर जल, नमक, कई प्रकारके अम्ल और क्षार तथा सत्त्वमूल (प्रोटोप्लाज्म) को पाता है। यदि शुद्ध रासायनिक दृष्टिसे देखा जाय तो चींटीका शरीर आर्द्रजन, नाइट्रोजन, आक्सिजन, गन्धक, फासफरस और कार्बनके परमाणुओंका समूह है। भौतिक-विज्ञानी उसे पहिले तो धन और ऋण विद्युत्कणोंका पुञ्ज और फिर शुद्ध वायुतत्त्वका भेद बना देता है। एक ही वस्तुको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विभिन्न प्रकार देखा, समझा और समझाया जा सकता है। बहुतसे विचारक जगत्के उसी रूपको विज्ञानसामग्री बनाते हैं जो जाग्रत् अवस्थामें हमारे अनुभवमें आता है। यही जगत् सच्चा जगत्, वास्तविक जगत् समझा जाता है। पर ऐसा माननेका कोई पुष्ट कारण नहीं है। जगत्की सम्पूर्णताके अन्तर्गत स्वप्नावस्था और निद्रावस्थाको भी लेना चाहिये। स्वप्न अपने अनुभूतिकालमें सत्य होता है, वह भी स्मृति छोड़ जाता है। सबको एक-से स्वप्न नहीं देख पड़ते। स्वप्नभेद चरित्र और बुद्धिभेदका उसी प्रकार सूचक होता है जिस प्रकार हमारे जाग्रत् अवस्थावाले विचार और कार्य होते हैं। यदि जाग्रत्की दृष्टिसे स्वप्न मिथ्या माना जाय तो स्वप्नकी दृष्टिसे जाग्रत् मिथ्या है,

क्योंकि जबतक एक अवस्था रहती है तबतक दूसरी नहीं होती। थोड़ी देरके स्वप्नमे हम बहुत-से ऐसे काम कर डालते है जिनको करनेमें बरसों लगने चाहिये। पर इससे भी स्वप्नकी उपेक्षणीयता सिद्ध नहीं होती; यह बात तो कालकी सापेक्षताकी ओर सङ्केत करती है। यह हो सकता है कि स्वप्नकालीन कालका प्रवाह जाग्रत्कालीन कालके प्रवाहसे भिन्न हो। कालके सम्बन्धमे आगे सातवे अध्यायमे विचार होगा, पर यह तो हमारे सामान्य अनुभवकी बात है कि आन्तरिक कालकी गति कभी-कभी बाह्य काल, घड़ीके कालकी गतिसे भिन्न प्रतीत होती है। सुखके दिन जल्दी बीतते है, दुःखकी रात लम्बी हो जाती है। स्वप्नके मिथ्यात्वके पक्षमे सबसे बड़ा तर्क यह है कि स्वप्नानुभूति वस्तुशून्य होती है। यह बात इस अर्थमे सच हो सकती है कि जो भाँति-भाँतिके प्राणी देख पड़ते है या जो घटनाएँ घटती प्रतीत होती है उनका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो वरन् जाग्रत् अवस्थाके कतिपय अनुभव ही विकृत रूपसे फिर सामने आ जाते हो, पर राग, द्वेष, क्रोध, काम, लोभ आदि भाव जो उस समय जागरित होते है वह झूठे नहीं है। विश्वविषयक विचारमे स्वप्नावस्थाकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। सुषुप्तिमे बाहरी वस्तुओका ज्ञान नही होता, वासनाएँ और स्मृतियाँ भी नहीं उठती, सब प्रज्ञान घनीभूत होकर जम-से जाते है परन्तु चेतना काम करती रहती है। जागनेपर उसकी स्मृति सुखनिद्रा या दुःख-निद्राके रूपमे रह जाती है। स्वप्न और सुषुप्तिको छोड़ देनेसे विश्वका जो रूप जाना जायगा वह एकाङ्गी होगा। केवल जाग्रत्का एक दृष्टिकोण है, तीनो अवस्थाओको ध्यानमे रखनेसे दूसरा ही दृष्टिकोण हो जाता है। परन्तु अस्मत्की एक चौथी अवस्था भी है जिसे तुरीयावस्था कहते है। इस अवस्थाके अस्तित्वको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सभी देशोंमे ऐसे लोग हो गये है और है जिनको यह अवस्था प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम समाधि है। उनका कहना है कि इस अवस्थामे उनको जगत्के शुद्ध रूपकी प्रतीति होती है। निष्पक्ष विचारके लिए यह भी एक

दृष्टिकोण है। प्रत्येक दृष्टिकोण, प्रत्येक नय, हमको विश्वस्वरूपका थपृक् ज्ञान देगा। यह ज्ञान एक-दूसरेके विरोधी नहीं हो सकते।

२. सत्यभेदाधिकरण

सच्चे ज्ञानको प्रमा कहते हैं। यथावस्तु, यथार्थ, ज्ञानको सच्चा ज्ञान कहना चाहिये। वही ज्ञान सत्य होगा। पर हम देख चुके है कि वस्तु अर्थात् विश्व को कई नयोसे, कई दृष्टिकोणोंसे देखा जा सकता है। किसी एक ओरसे देखनेपर हाथीकी सूँड़ हमारे सामने होगी, दूसरी ओरसे कान, तीसरी ओरसे पॉव। हाथी एक होते हुए भी तीनो दृष्टिकोणोपर तीन भिन्न-भिन्न अर्थ है, अतः स्वरूपज्ञान भी भिन्न-भिन्न होगा, भिन्न-भिन्न सत्य मिलेगे। जो वस्तु व्यावहारिक दृष्टिमे मिस्रीका टुकड़ा है वही रासायनिक दृष्टिमे कार्बन, आर्द्रजन और आक्सिजनके चञ्चल परमाणुओ-का ढेर है और वही भौतिक विज्ञानकी दृष्टिमें पिण्डीभूत वायु है। एक ही वस्तु दृग्बिन्दु-भेदसे तीन वस्तु है और उससे सम्बन्ध रखनेवाला यथा-वस्तु, यथा-अर्थ, ज्ञान भी तीन प्रकारका होगा। यह तीनो ज्ञान सत्य होगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारक जगत्के सम्बन्धसे आंशिक सत्योका प्रतिपादन करते आये हैं। इनमे कुछ सत्य एक-दूसरेके पूरक है और कुछ एक-दूसरेके अन्तर्गत है। हाथीके हाथ-पॉवके ज्ञान एक-दूसरेके पूरक है परन्तु मिस्रीका व्यावहारिक स्वरूप उसके रासायनिक स्वरूपके अन्तर्गत है। जो मनुष्य विश्वके स्वरूपको समझना चाहता हो उसमे इतनी उदारता होनी चाहिये कि विभिन्न दर्शनोके सत्यांशोको पहिचान सके। इसके साथ ही उसमे इन सत्यांशोका समन्वय करने तथा स्वयं व्यापक सर्वग्राही दृष्टिकोणसे निरीक्षण करनेकी क्षमता होनी चाहिये। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान, परम सत्यका अनुभव हो सकेगा।

३. सत्याधिकरण

ऊपरके प्रकरणमें हमने कई बार 'सत्य' शब्दका प्रयोग किया है। इसके अर्थको समझ लेना उचित है। वस्तुतः, इस शब्दके दो अर्थ है।

मुख्यतः, उस पदार्थको सत्य कहते हैं जिसकी सत्ता नित्य हो, अर्थात् जो अभावरहित हो। अभाव चार प्रकारका होता है। किसी वस्तुका अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अभाव होता है। दूध जमनेके पहिले दहीका अभाव रहता है। इस प्रकारके अभावको प्रागभाव कहते है। किसी वस्तुका विनाशके पीछे अभाव हो जाता है। जल जानेपर लकड़ीका अभाव हो जाता है। इसे प्रध्वंसाभाव कहते है। एक वस्तुके स्थानमे दूसरेके अभावको अन्योन्याभाव कहते है। जहॉ क है वहॉ ख नही है। सर्वथा सम्पूर्ण अभावको अत्यन्ताभाव कहते है। जैसे, गधेके सीगका अत्यन्ताभाव है। जो पदार्थ इन चार प्रकारके अभावोसे रहित हो, अर्थात् जो सदा और सर्वत्र पाया जाय, वह सत्य है। सत्यका दूसरा लक्षण अविक्रियशीलता है। सत्य वस्तु एकरस रहती है, उसमे कोई परिवर्तन नही होता। यह दर्शनशास्त्रके लिए विचारणीय प्रश्न है कि इस परिभाषाके अनुसार कोई सत्य पदार्थ विश्वमे है या नही। असत्य वस्तुओमेसे जो स्थान या कालविशेपमे पायी जाती है उनको हम चाहे तो अशतः सत्य कह सकते है। जिनका अत्यन्ताभाव है वह पूर्णतया असत्य है।

यथार्थ ज्ञानको भी सत्य कहते है। अयथार्थ ज्ञान असत्य है। ज्ञान, यथार्थ हो या अयथार्थ, स्वसंवेद्य होता है। एकका ज्ञान दूसरेके अनुभवका विषय नही होता। दूसरेतक पहुँचानेके लिए ज्ञानकी जो व्यञ्जना होती है उसको भी सत्य कहते हैं। यदि ज्ञान अयथार्थ हो या व्यञ्जना ज्ञानानुकूल न की जाय तो वह असत्य होगी। झूठा इसी दृष्टिसे असत्यवादी होता है कि वह यथाज्ञान नही बोलता। किसी 'वाद'को असत्य कहनेका तात्पर्य यह नही होता कि उसका प्रतिपादन करनेवाला यथाज्ञान नही कह रहा है प्रत्युत यह कि किसी कारणसे उसको यथार्थ ज्ञान नही हो सका।

४. अज्ञानाधिकरण

यथार्थ ज्ञानका प्रतियोगी अयथार्थ ज्ञान या अज्ञान है। अज्ञान शब्दके कई अर्थ होते है। एक अर्थ तो ज्ञानाभाव, ज्ञानका न होना,

है। इस अर्थको मानकर यह समझ लेना चाहिये कि यदि कोई वस्तु मेरे विचारका विषय है तो मुझे उसके सम्बन्धमे अज्ञान, ज्ञानका पूरा अभाव हो ही नही सकता। या तो वह मेरे चित्तके सामने नही है, ऐसी दशामे मेरे लिए उसका अस्तित्व ही नही है, इसलिए ज्ञानका प्रश्न ही नहीं उठता; या फिर वह मेरे चित्तमे है, ऐसी दशामे मुझे कमसे कम उसके अस्तित्व-का ज्ञान तो है ही, इसलिए अज्ञान नही है। साधारणतः अज्ञान शब्दका प्रयोग अपूर्ण ज्ञान, मिथ्या ज्ञान या संशयके अर्थमे किया जाता है। ज्ञानके साधनोंका विचार अगले अध्यायमे किया जायगा, पर इतना तो स्पष्ट होना ही चाहिये कि उन साधनोका ठीक-ठीक प्रयोग न होनेसे ही ज्ञानसम्बन्धी यह दोष उत्पन्न होते है। यदि ज्ञातव्य वस्तुपर ज्ञानसाधन पूरी शक्तिभर न लगाये जा सके तो अपूर्ण ज्ञान होगा। बहुत दूरकी वस्तु अस्पष्ट देख पडती है। यदि जो वस्तु जहाँ नही है वहाँ उसकी प्रतीति हुई तो मिथ्या ज्ञान होगा। एक रस्सी पड़ी है। रस्सीके कुछ लक्षण सर्पसे मिलते है। हमको उनका ज्ञान हुआ और सर्पके उन विशेष गुणो-का ज्ञान हुआ जो रस्सीमे नहीं पाये जाते। बस, हमको वहाँ सर्पका ज्ञान होगा। मिथ्या ज्ञानको अध्यास और विपर्यय भी कहते है। कोई ज्ञान-विशेष यदि मिथ्या हो तो उसका हमारी सञ्चित ज्ञानसामग्रीसे सामञ्जस्य न होगा, पर अकेला असामञ्जस्य पर्याप्त परख नहीं है, क्योकि यह सन्देह किया जा सकता है कि पूर्वार्जित ज्ञान ही मिथ्या रहा हो। पक्की परख व्यवहारसे ही हो सकती है।

यदि एक स्थलमे दो वस्तुओका एक साथ आंशिक ज्ञान हो तो वहाँ संशय होगा। अँधेरेमे कुछ दूरपर कोई ऊँची-सी वस्तु देख पड़ती है। उसमे वह लक्षण देख पड़ते है जो मनुष्योंमे भी पाये जाते है और वृक्षोमे भी। पर मनुष्य और वृक्षके व्यावर्तक लक्षण जो एकमे पाये जाते है दूसरेमें नहीं मिलते, नहीं देख पड़ते। अतः यह संशय रह जाता है कि यह मनुष्य है या वृक्ष। अपूर्ण ज्ञानादिकी भाँति विकल्प भी ज्ञानका बाधक होता है। विकल्प उस निराधार ज्ञानाभासको कहते हैं जिसका

मूल केवल शब्दाडम्बर होता है। हमारे प्रौढ़ विचार शब्दात्मक ही होते हैं। इस बातका सदा डर रहता है कि हम शब्दोंके प्रयोग करनेमें बहक कर वास्तविकतासे दूर न जा पड़ें। जीवनमें कल्पनाका भी स्थान है, परन्तु काल्पनिक रचनाको बराबर वस्तुस्थितिकी कसौटीपर परखना होगा। अन्यथा, हम अपने शब्दोंके ही जालमें फँस जायँगे। हमको गधेका भी अनुभव है और सींगका, भी परन्तु 'गधेके सींग'का अनुभव नहीं है। ऐसा शाब्दिक प्रयोग सुनकर जो एक प्रकारका ज्ञान होता है वह विकल्प है। विक्षेप का एक और रूप होता है। कभी-कभी किन्हीं शब्दोंको सुनकर एक प्रकारका ज्ञानाभास हो जाता है, परन्तु विचार करनेसे प्रतीत होता है कि उन शब्दोंसे ज्ञानकी बिलकुल वृद्धि नहीं होती। 'सज्जनमें सज्जनता होती है' का क्या अर्थ है ? दूसरे शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं, 'जिसमें सज्जनता होती है उसमें सज्जनता होती है'।

९. शास्त्रमीमांसाधिकरण

किसी शास्त्र या किसी विद्वान्‌की कही हुई बातको यथार्थ-अयथार्थ मान लेनेके पहिले उसका तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। कहनेवाला क्या कहना चाहता है, यह जानना पहिला काम है। बहुत-सा शास्त्रार्थ और दूसरोंपर दोषारोपण इसीलिए होता है कि उनके कथनको समझनेका पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया जाता। न समझनेके दो कारण हो सकते हैं— एक तो समझनेवालेका प्रमाद, दूसरे :कहनेवालेकी अयोग्यता, अज्ञान या जान-बूझकर ऐसी शैली अपनाना जिससे अर्थ सहसा प्रकट न हो जाय।

कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि शब्दोंका जो समूह व्याकरणकी दृष्टिसे साधु वाक्य हो उसका कुछ अर्थ न लगता हो। 'उसने गन्नेके खेतको नहरके पानीसे सींचा' और 'उसने संगमर्मरके खेतको गन्धकके तेजाबसे सींचा', दोनों व्याकरणकी दृष्टिसे निर्दोष वाक्य हैं, परन्तु दूसरेका अर्थ समझमें नहीं आता। इसको अनर्गल प्रलाप माना जा सकता है। परन्तु ऐसा मान बैठनेके पहिले अर्थ लगानेका कुछ और प्रयास करना चाहिये। शब्दोंके अभिधार्थ, कोशमें दिये अर्थसे तो काम नहीं चलता,

ऐसा तो नही है कि इनका कोई ध्वनितार्थ, वरसोसे इनके साथ सम्बद्ध अर्थ, वक्ताके सामने रहा हो ? पीताम्बर किसी भी पीले कपड़ेको, विशेषतः पीले रगकी रेशमी धोतीको कह सकते हैं, परन्तु 'उसने पीताम्बरकी पूजा की' जैसे वाक्यमे इस शब्दका ध्वनितार्थ विष्णु, लक्षित है। सम्भव है, सगमर्मर और गन्धकके तेजाबके भी ध्वनितार्थ हो। यदि इससे भी काम न चले तो यह देखना चाहिये कि समाधि या प्रतीक भाषाका प्रयोग तो नही किया गया है। ऐसी भाषाका एक उदाहरण देता हूँ। किसी तन्त्र-ग्रन्थमे यह श्लोक आया है—

आजैर्मैषैश्च वैडालैर्नारैरौष्ट्रैश्च माहिषैः।
पलैरेभिर्यजेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥

—जो मनुष्य बकरे, भेड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैसके माससे यज्ञ करता है वह निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

सुननेसे पागलपनकी बात लगती है। परन्तु इस बातकी ओर ध्यान देनेसे कि बकरा, भेड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैसा शब्द क्रमात् काम, मोह, लोभ, अभिमान, मत्सर और क्रोधके प्रतीकके रूपमे व्यवहृत हुए है, अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

कभी-कभी वाक्यार्थका निश्चय करनेके लिए यह देखना पड़ता है कि किसी लक्षणासे तो काम नहीं लिया गया है। लक्षणाएँ तीन है। कही तो व्यवहारमे आये हुए शब्दको बिलकुल छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे शब्दको लाना पड़ता है। यदि कोई कहे कि 'कमरा बोल रहा था' तो वहाँ सकेत कमरेमे रहनेवाले मनुष्योकी ओर है। इसे जहत् लक्षणा कहते है। कही व्यवहृत शब्दके साथ कुछ और शब्दोको जोड़ना पडता है। यदि यह कहा जाय कि 'लाल पगड़ियाँ बढ़ी आ रही थीं' तो तात्पर्य पगड़ीधारी मनुष्योसे है। इसे अजहत् लक्षणा कहते है। कभी कुछ जोडना, कुछ छोड़ना पडता है। इसे जहदजहत् लक्षणा कहते हैं। कोई कहता है 'यह वही गगा-सिह है जिसे आपने पन्द्रह वर्प पहिले गोदमे खिलाया था'। यह स्पष्ट है कि पन्द्रह वर्पोंमे बहुत-सा परिवर्तन हुआ होगा। शरीर बड़ा हो गया,

मूँछे नही थी अब निकल आयीं, कई प्रकारकी अनुभूतियाँ होती है जो उस वयमे सम्भव नही थी। 'वही व्यक्ति'का विचार करते समय इन सबको छोडना होगा, कुछ ऐसी बाते है जो तब भी थी अब भी है, उनको ही सामने रखना होगा।

यह भी देखना होगा कि प्रस्तुत वाक्य विकल्पके द्वारा केवल अर्थाभास तो नहीं दे रहा है, लेखक अर्थके अभावको शब्दाडम्बरकी आड़मे छिपा तो नही रहा है।

कभी-कभी कहना कुछ होता है, कहा कुछ और जाता है। वास्तविक अर्थको जो इस दशामे व्यङ्ग्यार्थ कहलाता है, प्रसगपर विचार करके ढूँढ़ना पड़ता है। मुझसे कोई व्यक्ति मिलने आता है। मै जानता हूँ कि वह किसी कामके लिए पैसा मॉगने आया है। मै उसको सुनाकर कहता हूँ आजकल व्यापार बहुत मन्दा है। यह बात सच हो या झूठ, परन्तु मेरा वास्तविक उद्देश्य उस व्यक्तिको व्यापारविषयक जानकारी कराना नहीं है, पैसा मॉगनेसे रोकना है। कभी-कभी वास्तविक अर्थ अर्थवाद यानी प्रशंसामे छिपा रहता है। यदि कहीं लिखा हो कि 'इस यज्ञका अनुष्ठान करके गौएँ स्वर्ग गयीं' तो वहॉ तात्पर्य केवल यह है कि यज्ञ करणीय और फलदायक है।

इस अधिकरणको उपस्थित करनेका तात्पर्य यह दिखलाना है कि गम्भीर विषयोका चर्चा करनेवाले वाक्योकी मीमांसा करते समय बहुत सतर्क रहना पड़ता है, नही तो ज्ञानके स्थानमे किसी-न-किसी प्रकारका अज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

६. विक्षेपाधिकरण

यदि ज्ञान प्राप्त करना है तो अज्ञानको दूर करना होगा। अज्ञानके कई कारण होते है। एक कारण यह हो सकता है कि इन्द्रियॉ दूरी या व्यवधान या अधिष्ठान-दोषके कारण ठीक-ठीक काम न कर सकती हो। बीचमे किसी वस्तुका आ जाना व्यवधान और ऑख, कान आदिका रुग्ण या विकल होना अधिष्ठान-दोष है। परन्तु इन सब बाधाओसे

बढ़कर वह बाधा है जिसका स्थान द्रष्टाके भीतर, अस्मत्‌के भीतर, चित्तमे है। चित्त किसी वस्तुकी ओर लगाया जाता है, पर वहाँ देरतक टिकता नही, दूसरी वस्तुओकी ओर खिच जाता है। उसमे रागद्वेष, पहिलेकी स्मृतियाँ, इस समयकी इच्छाएँ, सब भरी रहती है और इसी मलिन पीठिकामे ज्ञानोपार्जनका प्रयत्न किया जाता है। भीरुको प्रत्येक झाड़ीमे बाघ देख पड़ता है, माताको पत्तियोके हिलनेमे अपने खोये बच्चेके पाँवकी आहट सुन पडती है, भूखेको सर्वत्र रोटियाँ ही देख पड़ती है। चित्तकी इस अवस्थाको, जिसमे वह किसी विषयपर स्थिर नही होता वरन् एक विषयसे दूसरे विषयपर फिकता फिरता है, विक्षेप कहते है। एक तो चित्त निर्मल नही, दूसरे विक्षिप्त रहता है। इसीलिए उसमे यथार्थ ज्ञानका प्रतिष्ठित होना बहुत कठिन हो जाता है।

तीसरा अध्याय

प्रमाण

१. सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरण

प्रमाके साधनोंको प्रमाण कहते है। शुद्ध ज्ञानका नाम प्रमा है। इसके साधन तीन है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके दुष्प्रयोगसे अयथार्थ ज्ञान होता है।

प्रमाणोमे सबसे महत्त्वका स्थान प्रत्यक्षका है। शेष दोनों प्रमाण इसीपर निर्भर करते है। साधारणतः ऐसा कहा जाता है कि विषय और इन्द्रियके सन्निकर्षसे प्रत्यक्ष होता है। युष्मत् प्रपञ्च, दूसरे शब्दोंमे बाहरी वस्तुओंको ग्रहण करने अर्थात् बाहरी वस्तुओंसे प्रभावित होने और उनको प्रभावित करनेकी योग्यता या शक्तिका नाम इन्द्रिय है। इन्द्रियॉ बाहरी जगत्से सम्पर्कका द्वार है। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा युष्मत्का प्रवेश अस्मत्में और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा अस्मत्का आघात युष्मत्पर होता है। किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होनेके लिए यह आवश्यक है कि उसका किसी इन्द्रियसे संयोग हो। हम किसी वस्तुको तभी जान सकते है, जब वह वस्तु जिस इन्द्रियका विषय हो सकती है वह इन्द्रिय उसके सम्पर्कमे आये। जो वस्तु रूपरहित है अर्थात् प्रकाशयुक्त नही है वह चक्षुरिन्द्रियका विषय नहीं हो सकती, देखी नही जा सकती। रूपवान् वस्तु भी तभी देखी जा सकती है जब उसका चक्षुरिन्द्रियसे सम्पर्क हो अर्थात् इस इन्द्रियका अधिष्ठान, ऑख और मस्तिष्कका चाक्षुष्केन्द्र, उसके सामने हो। परन्तु इतनेसे ही प्रत्यक्ष नही हो सकता। ऐसा भी हो सकता है कि ऑख नीरोग हो, चक्षुरिन्द्रिय पुष्ट हो और रूप सामने हो, फिर भी प्रत्यक्ष न हो, वस्तु देख न पड़े। देख पड़नेके लिए अन्तःकरणका भी योग होना चाहिये।

अन्यमनस्क होनेकी दशामे, चित्त कही और लगे रहनेकी अवस्थामे, सामने-की वस्तु नही देख पड़ती, पासका स्वर नहीं सुन पडता। अतः प्रत्यक्षके लिए विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरणका सन्निकर्ष आवश्यक है।

प्रत्यक्षकी प्रणालीको समझ लेना आवश्यक है। शरीरपर बाहरी वस्तुओंके बराबर आघात होते रहते है और उनके प्रत्याघात भी होते रहते है, परन्तु हमको इन सबका पता नही लगता। ऑखके सामने तीव्र प्रकाश आया, सिर फिर गया या ऑख बन्द हो गयी: सिरकी ओर कोई भारी वस्तु आयी, हाथ उसे रोकनेके लिए उठ गया, कोई छोटा कीड़ा या अन्य वस्तु कही आ पड़ी, हाथने उसे हटा दिया, मुॅहके सामने कोई खाद्य वस्तु आयी, मुॅहमे रस आ गया। ऐसी कई प्रतिक्रियाऍ निद्रावस्थामे भी होती रहती है। इनका तत्काल सम्पन्न होना शरीरके लिए आवश्यक है, इसलिए नाडिसस्थान इनको स्वतः कर लेता है; यह काम इतने सरल है कि इनके लिए विचारकी अपेक्षा भी नही है। परन्तु जब आघात तीव्र होता है तब विचारकी आवश्यकता पड़ती है। उसी अवस्थामे प्रत्यक्षके लिए अवकाश होता है। मच्छड़ शरीरपर बैठा, सोतेमे भी हाथ उसे हटा देगा। यदि न भी हटा तो कोई बड़ी क्षति न होगी। सिरकी ओर कोई भारी वस्तु आ रही है, उस समय एक ही क्रिया सम्भव है। उसके लिए हाथ स्वतः उठ जाता है। परन्तु यदि सामने सिंह आ जाय तब कई प्रकारकी क्रियाऍ परिस्थिति-भेदसे सम्भव हैं। कभी सिंहसे लड़ना ठीक हो सकता है, कभी भागना, कभी पेड़पर छिप जाना। इनमेसे कौन-सा काम किया जाय इसका निश्चय सिंहके प्रत्यक्ष होनेपर, अर्थात् उसको देखने या उसकी दहाड़ सुनने या उसकी गन्ध मिलनेपर ही सम्भव है।

अन्तःकरण जिस रूपसे इन्द्रियगृहीत विषयके सम्पर्कमे आता है उसे मन कहते है। मनमे विषयका जो रूप प्रतिष्ठित होता है वह संवित् कहलाता है। परन्तु यह अनुभूति अकेली नहीं है। इसके पहिले भी अनुभूतियॉ हो चुकी हैं। अन्तःकरणका दूसरा रूप अहङ्कार है। वह इस नयी अनुभूतिको पहिलेकी अनुभूतियोंके संस्कारोसे मिलाता है

और उसका वर्गीकरण करके अनुभूतियोंमें यथास्थान स्थापित करता है। अहङ्कारका काम है नयी अनुभूतिको अहं (अस्मत्) में मिलाना। अब वह विषय प्रत्यय कहलाता है। बाहरी विषयोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच संवित् होते हैं। तब अन्तःकरणका तीसरा रूप उसके सम्बन्धमें अध्यवसाय करता है अर्थात् वह निश्चय करता है कि यह विषय कैसा है, इसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये, इत्यादि। अन्तःकरणके इस तीसरे रूपका नाम बुद्धि है। बुद्धिमें आनेके पश्चात् वह विषय विचार-सामग्री बन जाता है। फिर तो उसके आधारपर अनेक प्रकारके तर्क किये जा सकते हैं और दूसरे विचारोंसे मिलाकर अनेक कल्पनाएँ की जा सकती हैं। वस्तुतः अन्तःकरण या चित्त एक है, पर वह क्रमात् तीन प्रकारके काम करता है इसलिए उसे तीन नाम दिये गये हैं। प्रत्यक्षके विषयमें ऊपर जो कहा गया है वह एक उदाहरणसे अधिक स्पष्ट हो सकेगा। एक जगह एक विद्वान् और एक वनवासी बैठे हैं। उनके सामने एक पुस्तक आती है। उसका रङ्ग, उसकी आकृति, उसकी लम्बाई-चौडाईका भान दोनोंको एक-सा होगा। दोनोंके मनपर एक-सा प्रभाव पड़ेगा अतः दोनोंके संवित् एक-से होंगे। परन्तु वनवासीने कभी पुस्तक देखी नहीं, वह पुस्तकका उपयोग नहीं जानता। सम्भवतः वह उसके लिए किसीके सिरपर दे मारनेके योग्य भारी वस्तुमात्र है। परन्तु विद्वान्ने सैकड़ों पुस्तकें पढी हैं। पुस्तकें बडी, छोटी, मोटी, पतली, हस्तलिखित, छपी, अनेक प्रकारकी, अनेक विषयोंकी होती हैं। परन्तु इन सबमें कुछ समान गुण हैं जिनके कारण इनको एक ही नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं गुणोंको अपने सामनेकी वस्तुमें पाकर वह विद्वान् उसे पुस्तक मानता है। उसे दर्शनसे अधिक अभिरुचि है, किन्हीं और विषयोंसे कम। फिर एक ही विषयकी सब पुस्तकें एक ही कोटिकी नहीं होतीं। इन सब बातों अर्थात् पुस्तकके विषय, उसकी शैली, उसकी कोटि आदिका विश्लेषण करके अहङ्कार उसको विद्वान्के अनुभव-भण्डारमें एक विशेष स्थान देता है। इसलिए वनवासी और विद्वान्के प्रत्ययोंमें अन्तर

होगा। फिर बुद्धि निर्णय करेगी कि इस पुस्तकका क्या किया जाय। सम्भव है, विद्वान्की बुद्धि जिस वस्तुको बहुमूल्य पुस्तक मानकर संग्रह करनेका निश्चय करे उसीको वनवासीकी बुद्धि निकृष्ट हथियार समझकर फेंकनेका निर्णय करे। दूसरा उदाहरण लीजिये। सामने एक आम रखा है। हम उसके रूपको ही देखते हैं, सवित् रूपका ही हो रहा है, परन्तु स्मृतिरूपसे उसकी गन्ध, स्पर्श और स्वाद भी विद्यमान है। इसलिए हमको आमका प्रत्यक्ष होता है। जिस देशमें आम नही होता वहाँके निवासीको रूपमात्रका सवित् होगा। अधिकसे अधिक उसको यह प्रत्यक्ष होगा कि सामने एक फल है। अस्तु, अन्तःकरणके तीनो स्तरोकी क्रिया समाप्त होनेपर पूरा प्रत्यक्ष होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही विषयका प्रत्यक्ष सबको एक-सा नही हो सकता। यदि इन्द्रिय-बल एक-सा हो तो पहिला मानस-चित्र तो एक-सा होगा, सवितोमे सादृश्य होगा। अधिकाश मनुष्यो, कमसे कम अधिकाश सभ्य मनुष्योके अनुभव बहुत-कुछ मिलते-जुलते होते है, इसलिए प्रत्ययोमे भी बहुत-कुछ सादृश्य होता है। परन्तु पूरा सादृश्य नही होता और बुद्धिभेदके कारण प्रत्यक्ष तो एक-सा नही ही होता। वही वस्तु किसीके लिए सुन्दर, किसीके लिए कुरूप, किसीके लिए भली, किसीके लिए बुरी, किसीके लिए उपादेय, किसीके लिए हेय होती है। वस्तुका उपयोग या अनुपयोग भी उसके प्रत्यक्षका अङ्ग होता है। यह भी स्मरणीय है कि जो वस्तु एक परिस्थितिमे एक प्रकारकी प्रतीत होती है वही दूसरे समयमे दूसरे प्रकारकी प्रतीत होती है। एक ही व्यक्तिको किसी विषय-विशेषका प्रत्यक्ष सदा एक-सा नही होता। जो स्वरसमूह पुत्रजन्मके अवसरपर सङ्गीत प्रतीत होता है उसीका पुत्र-निधनके अवसरपर चीत्कारके रूपमे प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मानी जाती है—श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और घ्राण और इनके विषय है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इसका तात्पर्य यह नही है कि बाह्य जगत् हमपर पाँच प्रकारके ही प्रहार करता है और हम उसको इन पाँच द्वारोसे ही जान सकते हैं। वस्तुतः स्पर्शका

अर्थ बहुत व्यापक है। उससे छूकर केवल ठंढा-गरम या कड़ा-नरम जाननेसे तात्पर्य नहीं है। देखने, सुनने, चखने और सूँघनेके सिवाय बाहरी जगत्का जो भी ज्ञान हमको होता है वह स्पर्श है। सम्भव है किन्हीं अन्य प्राणियोंको स्पर्शके ऐसे अनुभव होते हों जो हमको अलभ्य हैं, क्योंकि हमारे शरीरकी बनावट भिन्न प्रकारकी है।

२. सन्निकर्षाधिकरण

हम देख आये हैं कि प्रत्यक्षके लिए अन्तःकरण और इन्द्रिय, दोनों-का विषयके साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिये। बहुत-से दार्शनिकों-को यह सन्निकर्ष एक प्रकारका रहस्य प्रतीत होता है। सामने कोई वस्तु है। उसने आकाशमें किसी प्रकारकी लहरी उत्पन्न की जो आकर आँखके नाडिजालसे टकरायी। नाडियोंमें एक विशेष प्रकारका प्रकम्पन हुआ, वह प्रकम्पन मस्तिष्कके उस केन्द्रतक पहुँचा जो चक्षुरिन्द्रियका मुख्य अधि-ष्ठान है। यहाँतक जो कुछ क्रिया हुई वह भौतिक जगत्में हुई। लहरी, आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क, कम्पन यह सब भौतिक शास्त्रोंके अध्येतव्य विषय हैं। यहाँपर नये जगत्का परिचय होता है। अन्तःकरणमें लाल या हरे रंग की प्रतीति होती है। कम्पनादि भौतिक जगत्में होते हैं, रंग-गन्ध-शब्दकी प्रतीति अन्तःकरणको होती है। इसके विपरीत उस समय होता है जब चित्तमें कोई संकल्प उठता है और उसके फलस्वरूप मस्तिष्कमें क्षोभ होता है, नाडियोंमें कम्पन होता है और शरीरका कोई भाग कोई काम कर बैठता है। विद्वानोंके सामने प्रश्न यह होता है कि यह भौतिक जगत् आन्तरिक जगत्को और आन्तरिक जगत् भौतिक जगत्को कैसे प्रभावित करते हैं। सजातीय सजातीयको प्रभावित कर सकता है, परन्तु चित्त और भौतिक जगत् अत्यन्त विजातीय हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। इन दोनोंके बीच गहरी खाई है। प्रतिक्षण उसपर पुल बनता रहता है, परन्तु कैसे? यह प्रत्यक्ष ज्ञानकी कठिन पहेली है।

इस पहेलीसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं है। रहस्य कुछ तो है ही—जो बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आती उसीमें रहस्य है—परन्तु

बहुत-सा रहस्य अपनेसे बढा लिया गया है। जड़-चेतन जैसे विरोधी शब्दो-का प्रयोग करके खाई गहरी कर दी गयी है। यह उस विकल्प नामक अज्ञानका उदाहरण है जिसका उल्लेख पिछले अध्यायके अज्ञानाधिकरणमें किया गया है। जैसा कि आगे चलकर द्वितीय खण्डके पॉचवे अध्यायके भूतविस्ताराधिकरणमे दिखलाया जायगा, चित्त और भौतिक जगत् विजातीय नहीं है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नामके तीन पदार्थोंसे चित्त और भौतिक जगत् दोनोंकी उत्पत्ति हुई है। यह तीनो गुण सदा मिले रहते है, परन्तु इनकी उद्दीतिमे भेद रहता है। एक उद्दीत रहता है, दूसरे दबे रहते है, एक अधिक उद्दीत रहता है, दूसरे कम। इसी तार-तम्यके कारण वस्तुओंमे भेद होता है। यदि सुविधाके लिए गुणोको उनके नामोंके प्रथमाक्षरोंके अनुसार स, र, त कहे तो चित्त भी 'सरत' है और बाह्य जगत्की प्रत्येक वस्तु—आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क—भी सरत है। केवल स, र और त की मात्राओंमे भेद है। अतः वस्तु और चित्तके बीचमे कोई गहरी खाई नही है; दोनो सजातीय है; दोनो ओर 'सरत' है जो एक-दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते है।

एक और विचार है जो इस रहस्यको सुलझाता है। विश्व वस्तुतः एक है। हमने अपनी सुगमताके लिए उसको अस्मत्-युष्मत्, ज्ञाता-ज्ञेयमे, बॉट रखा है। यदि सारा विश्व कागद माना जाय तो चित्त और भौतिक जगत् उसके दोनो पृष्ठ है। दोनो पृष्ठ बराबर हैं, दोनो पृष्ठोका नित्य सम्पर्क है, दोनो पृष्ठोमे कागद अन्तर्हित हैं। समूचे कागदमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस कहनेका तात्पर्य यह है कि दोनो पृष्ठोमे युगपत् परिवर्तन होता है, दोनो पृष्ठ परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील है। यदि हममे सामर्थ्य हो तो हम उभय पृष्ठ अर्थात् समूचे कागदके परिणाम-प्रवाहको देख सके। ऐसा न करके हम कभी एक पृष्ठका अध्ययन करते है, कभी दूसरेका। जिसका अध्ययन करते है उसमे परिवर्तन होता प्रतीत होता है। दूसरे पृष्ठके सिवाय और तो कुछ है नही, अतः हम यह समझ लेते है कि यह दूसरा पृष्ठ ही परिवर्तनकी जड होगा और तब यह ढूँढ़ना

आरम्भ करते है कि एक पृष्ठ दूसरे पृष्ठको कैसे प्रभावित करता है। हमारे उपमेयमे ठीक यही बात घटती है। अस्मद्युष्मदात्मक जगत् प्रतिक्षण परिणत होता रहता है। उसके अस्मदशमे, जिसे हम यहाँ चित्तांश कहेगे, निरन्तर परिणाम हो रहा है और साथ ही युष्मदशमे भी, जिसे भौतिकांश कहेगे, बराबर परिवर्तन हो रहा है। यदि हममे सामर्थ्य हो तो हम इस सारे परिवर्तनको एक साथ देखे और समझे। ऐसा न करके कभी तो हम चित्तपर अपना ध्यान केन्द्रीभूत करते है। चित्तको परिणत होता देख-कर हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक जगत् इन परिणामोका कारण है। इसी प्रकार यदि भौतिक जगत्पर ध्यान दिया जाय तो उसके परि-वर्तनोका कारण चित्तमे ढूँढना पडेगा। फिर हम सोचने लगते है कि चित्त और भौतिक जगत् , जो स्वभावतः एक-दूसरेसे भिन्न है, एक-दूसरेको किस प्रकार प्रभावित कर सकते है। वस्तुतः दोनोके परिवर्तन उस परि-वर्तनके दो पटल है जो समूचे विश्वमे हो रहा है। यह प्रश्न फिर भी रह जायगा कि समूचे विश्वमे क्यो और कैसे परिवर्तन होता है। इस प्रश्नपर आगे चलकर विचार होगा, परन्तु यहाँ प्रत्यक्षके स्वरूपको समझनेके लिए वह विचार अप्रासगिक है।

३. वस्तुस्वरूपाधिकरण

मेरे सामने फूल है। मै कहता हूँ कि मुझे इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। मै इसे देखता हूँ, छूता हूँ, सूँघता हूँ। चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रियके द्वारा चित्तमे गुलाबी रङ्ग, कोमलता और एक विशेष प्रकारकी महँककी प्रतीति होती है। फूलके तीनो लक्षण तीन इन्द्रियोके विषय है। कोमलता चित्तमे है, गन्ध चित्तमे है, रङ्ग चित्तमे है। इन तीनों गुणोके योगके सिवाय फूल और क्या है? तो फिर सारा फूल चित्तमे है। फूल ही क्यो, सारा भौतिक जगत् चित्तमे है, मनोराज्य है। परन्तु जिस प्रकार हमको अपने विचार या अपनी स्मृतियाँ चित्तके भीतर प्रतीत होती है उस प्रकार फूल भीतर प्रतीत नही होता। वह बाहर प्रतीत होता है, इसीलिए हम कहते है कि वह बाह्य जगत्मे है। हमारे विचार

जगह नहीं घेरते परन्तु फूल जगह घेरता है, वह दिक्, आकाशके किसी प्रदेशमे है। रङ्ग, गन्ध, कोमलता जैसे लक्षण चित्तमे है और इनके सिवाय हमारे लिए फूल और कुछ है नहीं। इन लक्षणोको छोड़ दीजिये तो फिर बचता क्या है जिसे हम फूल कहे? इसी प्रकार जगत्की सभी वस्तुओंके लिए कह सकते है। हमे उनकी सत्ताका पता लक्षणोके रूपमे ही मिलता है और लक्षण चित्तमें है। लक्षणोंके अतिरिक्त किसी पदार्थका हमको परिचय नहीं मिलता। पर केवल इतनेसे यह सिद्ध नही होता कि चित्तके सिवाय कुछ है ही नहीं। अभी ऐसा मानना ठीक जॅचता है कि कुछ है निःसन्देह जो हमारे चित्तमे कोमलता, गन्ध और लाल रङ्गके सवेदन प्रकट करता है जिनसे हमको फूलकी प्रतीति होती है। कुछ है जो फूल-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जो कुर्सी-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जो कागद-रूपसे प्रतीत होता है, कुछ है जिसकी सत्ता है। हमको कागद या कुर्सी या फूलका प्रत्यक्ष होता है; यह उन 'कुछो'के व्यावहारिक रूप है। पर कुछोंका जो वास्तविक स्वरूप है उनका हमको प्रत्यक्ष नही होता। इस सम्बन्धमे दूसरे खण्डमें पुनः विचार होगा, तबतक यह समझ लेना चाहिये कि हम कुछके, वस्तुके, स्वरूप अर्थात् पारमार्थिक सत्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान नही प्राप्त करते। प्रत्यक्षका विषय उसकी व्यावहारिक सत्ता होती है। अध्यासकी अवस्थामें व्यावहारिक रूपकी जगह कोई और रूप देख पड़ता है। इस रूपको प्रातिभासिक सत्ता कहते है। रस्सीमे कभी-कभी अध्याससे सर्पका प्रतिभास होता है। हम यन्त्रोके द्वारा इन्द्रियोंकी शक्तिको चाहे जितना बढ़ा ले, परन्तु ऐन्द्रिय ज्ञान वस्तुके स्वरूपका ज्ञान नही हो सकता।

जो बात जड वस्तुओंके लिए कही गयी है वही चेतनोके लिए भी लागू है। चेतनका शरीर तो बाहरी खोलमात्र है, उसका अस्मत्, उसकी वह सब अनुभूतियाँ जो उसको दूसरे चेतनोसे भिन्नता प्रदान करती है, अगोचर है, किसी इन्द्रियका विषय नहीं है। चेष्टासे भी उनका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। एक ही प्रकारकी चेष्टा भिन्न-भिन्न प्रेरणाओके

प्रभावमें की जा सकती है। हमारा जो अंश ऐन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय है वह हमारे 'कुल'का बहुत छोटा अंश है। इन्द्रियाँ हमारे वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं करा सकतीं। इस स्वरूपका ज्ञान उस अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा भी सामान्यतया नहीं हो सकता जिसका चर्चा अगले अधिकरणमें किया गया है।

४. अतीन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरण

ऐसी भी ज्ञातव्य बातें होती है, जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं होतीं। चित्त केवल बाहरी वस्तुओंको ही नहीं जानता, अपनी वृत्तियोंको भी जानता है। अपने सङ्कल्प, अपनी इच्छाएँ, अपने राग, अपने द्वेष, अपनी आशा, अपना भय, यह सब चित्तके परिणाम है और चित्त इनको जानता है। इनका ग्रहण किसी इन्द्रियके द्वारा नहीं होता। जिस प्रकार दीपक दूसरी वस्तुओंको प्रकाशित करता है और अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है इसी प्रकार अन्तःकरण दूसरी वस्तुओंका भी प्रत्यक्ष करता है और अपना भी प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। यह प्रत्यक्ष भी सुकर नहीं है। यों कहना चाहिये कि बाह्य वस्तुओंकी भाँति चित्तका भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। बहुत-सी वृत्तियाँ दबी रहती हैं। अपनेमें जो दुर्बलताएँ है वह सामने आने नहीं पातीं। कभी-कभी स्वप्नमें, मानस रोगमें, उन्मादमें या ऐसे व्यवहारमें जो तीव्र भावावेशके कारण बुद्धिके नियन्त्रणके बाहर निकल गया हो, इन दुर्बलताओंका पता चल जाता है, नहीं तो हम इनको दबाये रहते है। बहुत-सी स्मृतियाँ है जो हमारे अन्तःकरणमें सुरक्षित हैं, परन्तु हम उनको हठात् पीछे रखते है। अपने विचारोंपर हमने कई पहरेदार बैठा रखे है। इसका परिणाम यह होता है कि चित्तको अपने पूरे स्वरूपका, अपनी पूरी गहराईका ज्ञान नहीं हो पाता। सेन्द्रियकी भाँति इस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा जो प्रमा उत्पन्न होती है वह भी पूर्ण नहीं होती, सम्पूर्ण ज्ञेय उसका विषय नहीं हो सकता।

साधारणतः हम दूसरोंके स्वभावकी परख उनके आचरणोंसे करते है,

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि न केवल दूसरे मनुष्यका स्वभाव और हमारे प्रति उसका मैत्री या शत्रुत्व या भयका भाव वरन् उसके विचारोंतककी झलक यकायक हमको मिल जाती है। यह भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। बाहरी वस्तुओंका ज्ञान तो हमको सेन्द्रिय प्रत्यक्षसे होता है परन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनको परिचालित करनेवाले नियमोंका ज्ञान सामान्यतः तर्क द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु कभी-कभी वैज्ञानिक या अन्य विचारकको ऐसे तथ्योंका यकायक भान हो उठता है। पीछेसे तर्क और अनुसन्धान इस तात्कालिक ज्ञानकी पुष्टि करते हैं। यह भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ऊँचे कलाकारके चित्तमें भी विश्वके रहस्यका इसी प्रकार न्यूनाधिक ज्ञान स्फुरित होता है।

५. अनुमानाधिकरण

प्रमाका दूसरा साधन अनुमान है। यदि अनुमानपर विश्वास न किया जाय तो जगत्का बहुत-सा व्यवहार बन्द हो जाय। अनुमानसे वहीं काम लिया जाता है जहाँ प्रत्यक्ष सुकर नहीं होता परन्तु उसकी सचाईकी कसौटी प्रत्यक्ष ही है। हमको यह निश्चय रहता है कि प्रत्यक्ष अनुमानका समर्थन करेगा। अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। वह प्रत्यक्षमूलक है। जिस व्याप्तिके आधारपर अनुमान किया जाता है वह पिछले प्रत्यक्षोंका ही निष्कर्ष होगी और इस अनुमानकालमें भी अनुमेयके लिङ्गका प्रत्यक्ष होना चाहिये। तभी अनुमान हो सकता है। हमने पहिले कई बार यह देखा है कि जहाँ धुआँ था वहाँ आग भी थी। यह हमारा अन्वयी प्रत्यक्ष रहा है। यह भी देखा गया कि जहाँ आग नहीं थी वहाँ धुआँ नहीं था। वह व्यतिरेकी अनुभव रहा है। इससे हमने इस व्याप्ति, व्यापक नियम-का ग्रहण किया कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। हमने सारे जगत्की छानबीन तो की नहीं, दस-पाँच जगहोंमें ऐसा अनुभव किया। जितनी अधिक संख्यामें धुएँके साथ आगका प्रत्यक्ष हुआ होगा उतनी ही अधिक सम्भावना व्याप्तिके ठीक होनेकी होगी। थोड़े अनुभवमें भूलके लिए अधिक अवकाश है। ऐसे कई स्थल हैं जहाँ आगके साथ

धुआँ होता है, परन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं है कि जहाँ-जहाँ आग हो वहाँ धुआँ भी हो! प्रत्यक्षके आधारपर कोई भी व्यापक नियम बनाया जाय, इस बातकी सम्भावना बराबर बनी रहेगी कि स्यात् कोई ऐसा दृग्विषय मिल जाय जिसमे वह नियम न घटता हो। यदि ऐसा एक भी उदाहरण मिला तो नियम न रह जायगा। अस्तु, यदि हम किसी दूरके स्थानमे आगके अस्तित्वका अनुमान करते है तो आगके लिङ्ग अर्थात् धुएँका प्रत्यक्ष होना चाहिये। प्रत्यक्षमूलक होनेसे अनुमानमे वह सब भूले हो सकती है जो प्रत्यक्षमे होती है। यदि पहिले ही भूल हुई हो तो व्याप्ति ही ठीक न होगी। यदि इस समय लिङ्गके सम्बन्धमे भूल हो रही हो तो भी अनुमान ठीक न निकलेगा। उदाहरणके लिए मान लीजिए कि किसीको दूरके पहाड़परका कुहरा धुएँके रूपमे देख पड़ता है। यहाँ उसे लिङ्गके सम्बन्धमे मिथ्या ज्ञान हुआ है, कुहरेमे धुएँका अध्यास हुआ है। अतः यदि पहाडपर आगका अनुमान किया जाय तो वह अनुमित ज्ञान झूठा निकलेगा, इस कारण अनुमानसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके भ्रान्त होनेकी सम्भावना रहती है और यह सम्भावना प्रत्यक्षकी अपेक्षा अधिक होती है।

६. शब्दाधिकरण

प्रमाका तीसरा साधन शब्द है। व्यवहारमे इसका परित्याग नहीं किया जा सकता। हम बहुत-सी बाते दूसरोके कहनेके आधारपर मान लेते है। सारी पृथिवीका भूगोल इसी प्रकार पढते है। यह विश्वास रहता है कि जो बात बतलायी जा रही है उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, परन्तु प्रत्येक बातकी इस प्रकार परख की नहीं जाती। कोई कहता है अमुक सडकपर पागल हाथी खड़ा है, उधर मत जाओ। समझदार लोग इस बातको मान लेगे। यदि कोई निश्चय करनेके लिए उधर जायगा तो उसको प्रत्यक्ष अनुभवका सुख तो मिलेगा, परन्तु हाथीके पाँव बहुत देरतक यह सुख भोगने न देगे। रोगी वैद्यकी इस बातको मान लेता है कि अमुक औषधके पीनेमे व्यथाका उपशम होगा। इससे उसका कल्याण होता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि शब्दकी कसौटी भी प्रत्यक्ष है। तर्कसे शब्दकी चाहे जितनी भी सिद्धि की जाय, पर अन्ततोगत्वा शब्दकी पुष्टि प्रत्यक्षसे होनी ही चाहिये। शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञानके यथार्थ होनेके लिए दो बाते आवश्यक है—कहनेवाला आप्त हो और हम उसकी बात समझनेमे भूल न करे। आप्त उस मनुष्यको कहते है जो वस्तुका यथार्थ ज्ञाता हो, यथाज्ञान वक्ता हो और समझानेकी शक्ति रखता हो। ज्ञान जिन कारणोसे अपूर्ण या मिथ्या हो जाता है उनकी ओर हम ऊपर कई स्थलोमें सङ्केत कर आये है। यदि इनमेसे किसी भी कारणसे स्वयं कहनेवालेका ज्ञान समीचीन अर्थात् यथा-वस्तु नही है तो सुननेवालेका ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है? फिर कहने-वालेमे अपने भावको स्पष्ट रूपसे व्यक्त करनेकी योग्यता तो होनी ही चाहिये, उसका चित्त राग-द्वेष-भय आदिसे मुक्त होना चाहिये, अन्यथा वह अपने ज्ञानको यथावत् प्रकट न करेगा, कुछ छिपा रखेगा, कुछ बढ़ाकर कहेगा। जो इन तीनों दोषोसे रहित हो वही आप्त पुरुष है। उसका वाक्य प्रमाण हो सकता है। परन्तु इस प्रमाणसे लाभ तभी उठाया जा सकता है जब सुननेवालेका चित्त भी निर्मल हो। जिसका चित्त किसी दुराग्रहसे युक्त है वह शब्दप्रमाणको तोड-मोड़कर उसकी व्याख्या अपने पुराने अशुद्ध विचारोंके अनुसार करेगा। इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी असन्दिग्ध न होगा।

विभिन्न शास्त्रकारोने इन तीनके अतिरिक्त कुछ और प्रमाणोका भी उल्लेख किया है, परन्तु वस्तुतः उन सबका इन तीनोंमे, मुख्यतया अनुमान और शब्दमे, अन्तर्भाव हो जाता है।

चौथा अध्याय

ज्ञानमें तर्कका स्थान

१ तर्कपारतन्त्र्याधिकरण

हमने पिछले अध्यायमे प्रमाणों, अर्थात् यथार्थ ज्ञानके साधनोंमें तर्कका नाम नही लिया है। इसपर स्यात् किसीको आश्चर्य होगा परन्तु आश्चर्यके लिए स्थल नही है। हमने जिन तीन प्रमाणोंका उल्लेख किया है, तर्क उनसे पृथक् नही है। तर्क शब्दका प्रयोग प्रायः दो अर्थोंमे किया जाता है। बहुधा जिसे तर्क कहते है वह अनुमानका ही दूसरा नाम है। दूरपर धुआँ देखकर आगकी सत्ता निश्चय करनेका पारिभाषिक नाम अनुमान है; इसको तर्क भी कहा जाता है। अध्यवसायको भी तर्क कहा करते है। यह बुद्धिका धर्म है। कभी तो बुद्धि किसी तत्कालीन प्रत्यक्षज प्रत्ययके सम्बन्धमे निर्णय करती है, कभी कई प्रत्यक्षज प्रत्यय या प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दसे उत्पन्न प्रत्यय अध्यवसायकी सामग्री बनते है। उनको एक-दूसरेसे मिलानेसे ऐसी बाते निष्पन्न हो सकती है जो पहिले ज्ञात नही थी परन्तु अज्ञात होते हुए भी यह बाते पुराने प्रत्ययोंके भीतर निहित थीं। अध्यवसाय उनको केवल प्रकट करता है। मेरे सामने एक ज्यामितिक चित्र बना है। इस बातका पता तो मुझको प्रत्यक्ष रूपसे होता है कि यह त्रिभुज है। अध्यवसाय या तर्क द्वारा मै त्रिभुजके कई गुणोंको जान सकता हूँ। बिना नापे ही तर्क मुझे यह बतलाता है कि इस त्रिभुजके तीनो कोणोका योग दो समकोणोंके बराबर है। यह मेरे लिए नया ज्ञान है। ऐसा नया ज्ञान तर्कसे प्राप्त होता है। मनुष्यके ज्ञानका बहुत बड़ा अश तर्कके द्वारा ही प्राप्त, वस्तुतः अनावृत, हुआ है। मनुष्यकी यह महत्ता है कि वह तर्क कर सकता है। परन्तु तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नही है।

वह अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त सामग्रीके बुद्धि द्वारा उपयोगका नाम है।

२. तर्काप्रतिष्ठाधिकरण

तर्कमें एक दोष यह है कि वह अप्रतिष्ठित है, अर्थात् उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अन्तिम और निर्णायक नहीं होता। तर्कको प्रत्यक्ष-से पदे-पदे मिलाना और सुधारना पड़ता है। छोटी बातोंमें, ऐसी बातोंमें जो थोड़ी देर या थोड़े क्षेत्रमें समाप्त हो जाती है, तर्क वस्तुस्थितिके अनुकूल होगा, परन्तु बड़ी बातोंमें वस्तुस्थिति उससे दूर पड़ जा सकती है। प्राण-धारियोंके सम्बन्धमें तो तर्क बहुत धोखा देता है। यदि १० श्रमिक किसी कामको ८ दिनमें करते है तो तर्कके अनुसार २० श्रमिक उसे ४ दिनमें करेंगे। स्यात् ऐसा हो भी जाय पर तर्क यह भी कहता है कि १,१५,२०० श्रमिक उसे १ मिनटमें पूरा कर देंगे। वस्तुतः ऐसा कदापि नहीं हो सकता। एक सीमाके उपरान्त श्रमिकोंकी बढ़ती सख्या काममें बाधक होने लग जायगी। किसी मनुष्यको सीधा समझकर लोग नित्य चिढ़ाया करते है। उसका स्वार्थ भी स्यात् इसीमें है कि चिढ़ानेवालोंकी बात सहता जाय। परन्तु एक दिन न जाने क्या हो जाता है कि वह भड़क उठता है और ऐसे काम कर बैठता है जो हमारे सारे तर्क और उसके सारे हितोंको तोड़-फोड़ डालते है। ऐसा माननेकी आवश्यकता नहीं है कि कोई दैवी या दानवी शक्ति तर्कको झूठा सिद्ध करनेपर तुली बैठी है। बात यह है कि बुद्धिको जैसी और जितनी सामग्री मिलेगी वैसा ही व्यापक और ग्राहक उसका अध्यवसाय होगा। यदि कोई सर्वज्ञ हो अर्थात् किसी-को समस्त विश्वका युगपत् प्रत्यक्ष हो रहा हो तो उसका तर्क भी असन्दिग्ध परिणामवाला होगा। साधारणतः हमको किसी भी परिस्थितिके सब पटलोंका ज्ञान नहीं होता। थोड़ी सामग्रीके बलपर अध्यवसाय करते हैं इसलिए उसका परिणाम भी यथार्थ नहीं निकलता। प्रत्यक्ष द्वारा उसको बराबर ठीक करना पड़ता है। यदि कोई नया अनुभव, नया हेतु मिला तो नया अध्यवसाय करना पड़ता है। सैकड़ों वर्षोंतक मङ्गलादि ग्रहोंकी नाक्षत्र गतिविधि देखकर विद्वानोंने उनकी चालके सम्बन्धमें नियम

अंशसे बड़ा होता है', '२ + २ = ४'—यह बाते स्वयसिद्ध मानी जाती हैं। इनकी सत्यताका कोई पुष्ट प्रमाण नही दिया जा सकता। हमको ऐसा लगता है कि यह सच होगी ही। इनके आधारपर हम तर्क करके बहुधा ठीक परिणामोपर पहुँचते है। पर यह ज्ञान हमको तर्क द्वारा नही हुआ है। ऐसे तथ्य अतर्क्य है। सारे अनुभवोका मूल जो 'मैं' है वह स्वयं अतर्क्य है। वह अपनेको अपनेसे जानता है, किसी तर्क द्वारा नही।

मै यह फिर स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हम तर्ककी अवहेलना नही कर सकते। बहुत-सा ज्ञान जो अन्यथा अप्रकट रह जाता, तर्क द्वारा ही प्रकट होता है। तर्कके अभावमे हमको प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटनाका पृथक् अनुभव करना पडता, सबके लिए अलग-अलग प्रत्यक्ष प्रमाण ढूँढ़ना पड़ता। तर्क हमको इस श्रमसे बचाता है और ज्ञानको प्रगतिशील बनाता है। 'वह पर्वत धूमयुत है'। इस वाक्यमे 'वह पर्वत' नाम और 'धूमयुत है' आख्यात है। आख्यातमे नामके सम्बन्धमे जो कहा गया है वह अतर्क्य है, हमको धुएँका प्रत्यक्ष हो रहा है,. ऐसा संवित् हो रहा है। परन्तु तर्कके द्वारा हमको यह विदित होता है कि पर्वतपर आग है, क्योकि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। यह ज्ञान हमको वहाँ जानेपर प्राप्त हो सकता था, परन्तु तर्कने इस श्रमसे बचा दिया। पुराने आख्यातके भीतरसे नया आख्यात निकला और हम कह सकते हैं 'वह पर्वत अग्नि-मान् है'। ऐसा जाननेसे हम निर्णय कर सकते है कि कैसा व्यवहार किया जाय। यदि हमको भोजन पकाना है या सर्दी लग रही है तो हम पर्वतकी ओर जायँगे, अन्यथा दूसरे काममे प्रवृत्त होगे। तर्कके अभावमे केवल धूमदर्शन व्यवहारके लिए मार्ग-प्रदर्शक नही हो सकता था। जो प्रत्यक्ष हो रहा था वह चित्तका विकारमात्र होकर रह जाता। अतः यह स्पष्ट है कि तर्ककी सहायतासे ही हम अपने ज्ञानका उपयोग कर सकते है। परन्तु ज्ञानका बहुत-सा ऐसा अंश है जो हमको विना तर्क, विना अध्यवसायके प्राप्त होता है। वह तर्कके लिए कुछ सामग्री दे सकता है, परन्तु स्वयं अतर्क्य है।

हमने यहाँ उस ज्ञान-सामग्रीकी अतर्क्यतापर मुख्य ध्यान दिया है जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होती है, परन्तु वस्तुतः अतर्क्यताका क्षेत्र बहुत बड़ा है। सेन्द्रिय प्रत्यक्ष और शब्दमे भी तर्कको स्थान नही है। यदि मान लिया जाय कि वक्ता आप्त पुरुष है तो शब्द-प्रमाणसे हम जानते है कि काशीमे त्रिपुराभैरवी नामका एक मुहल्ला है। यह बात हमारे लिए अतर्क्य है। किसी तर्कसे यह सिद्ध नही हो सकता कि काशीमे त्रिपुराभैरवी नामका मुहल्ला होना ही चाहिये। हमको सामने एक फूल देख पड़ता है। यह पुष्पदर्शन तर्कका विषय नही है। हम पिछले अनुभवोके आधारपर एतत्कालीन अनुभवके सम्बन्धमे यह तर्क तो कर सकते है कि ऐसा अनुभव न होना चाहिये—यह युक्तिसङ्गत नहीं है; इस तर्कके फलस्वरूप हमको अपने प्रमाणोके सम्बन्धमे शङ्का उत्पन्न हो सकती है, परन्तु जबतक अनुभव हो रहा है तबतक वह स्वयं अतर्क्य है। दोपहरको आकाशमे सूर्य देख पड़ता है। यदि किसी दिन किसीको चन्द्रमा देख पड़ जाय तो उसको यह शङ्का होनी चाहिये कि यह भ्रान्तदर्शन है। ज्योतिषके अमुक-अमुक नियमोके अनुसार इस समय चन्द्रमा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। मेरी ऑखोमे कोई दोष आ गया है या किसी अन्य कारणसे यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। वह यह सब तर्क कर सकता है परन्तु जबतक चन्द्रमा देख पड़ता है तबतक उसका देख पड़ना उतना ही अतर्क्य है जितना कि सूर्यका देख पड़ना। प्रत्येक प्रतीयमान सत्ता ही अतर्क्य होती है परन्तु यदि उसका हमारे दूसरे अनुभवोसे सामञ्जस्य न हो तो हमको यह शङ्का करनेका स्थल रहता है कि जिस प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान हुआ था उसका ठीक-ठीक प्रयोग नही हुआ।

इन अधिकरणोका उद्देश्य तर्कपरसे श्रद्धा उठाना नहीं वरन् तर्ककी सीमाओं और मर्यादाओको सामने रखना है। तर्कके आधारस्वरूप जो मान्यताऍ होती हैं यदि उनको पहिचाननेमे भूल हुई है तो तर्कका सारा परिणाम दूषित हो जायगा। एक इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है। तर्क यह

मानकर ही चलता है कि कार्यकारणकी शृङ्खला अविच्छिन्न है। प्रत्येक घटनाका निश्चित कारण होना चाहिये। किसी स्थितिविशेषको देखकर उसके पहिले और बादकी स्थिति बतायी जा सकनी चाहिये। यह तभी हो सकता है जब जगत् अपवादरहित नियमोंके अधीन चलता हो। यदि जगत् ऐसे अपरिवर्तनशील नियमोंके अधीन नहीं चल रहा है या वह नियम इतने सर्वग्राही है कि हमको उनका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता तो हमारा तर्क ठीक परिणामपर न पहुँचेगा।

पाँचवाँ अध्याय

दार्शनिक पद्धति

१. वर्गीकरणाधिकरण

दार्शनिक समूचे विश्वके स्वरूपको पहचानना चाहता है परन्तु विश्व तो बहुत बड़ा है, इसके किसी एक अङ्गका भी पूरा-पूरा अध्ययन एक जन्ममे नहीं हो सकता। एक-एक कीटाणुकी जीवनचर्याको समझनेमें बरसो लग जाते हैं; फिर भी काम पूरा नही होता। इसलिए पहिला काम जो दार्शनिक करता है वह वर्गीकरण है। अन्य शास्त्रोंमे भी इसी उपायसे काम लिया जाता है। जीवनशास्त्री प्राणियोको वर्गोंमे बॉट देता है, इससे सुविधा होती है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ कम समय लगाना पड़ता है। अमुक प्राणी अश्व-वर्गका है, इतना जान लेनेसे हम उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बाते बतला सकते हैं। अमुक वस्तु त्रिकोणाकृति है या तॉबेकी बनी है इतना जान लेना हमको उसके कई गुणोसे परिचित कर देता है। वर्गके कुछ व्यक्तियोंको विस्तारपूर्वक समझ लेनेसे उनके सवर्गीयोका समझना सुकर होता है।

वर्गके सब व्यक्तियोंमें जो लिङ्ग पाया जाता है, जिसके कारण उनको एक वर्गमे रखते है, उसको सामान्य कहते है। प्रत्येक व्यक्ति उस सामान्यका विशेष है। सब मनुष्य एक-से नहीं होते। उनके बल, बुद्धि, वैभव आदिमे बड़ा अन्तर होता है फिर भी उन सबमे कुछ ऐसे गुण होते है जो उनका जगत्‌की और सब वस्तुओसे व्यावर्तन करते है। उन गुणोके समुच्चयको मनुष्यत्व या मनुष्यजाति कह सकते हैं। मनुष्यजाति सामान्य है, प्रत्येक मनुष्य उसका विशेष है। प्रत्येक पृथक् मनुष्यकी अपनी अलग ऊँचाई, मोटाई, रङ्ग, आकृति, आचार, विचार आदि होता है,

परन्तु मनुष्यत्वमें ऊँचाई आदि सब गुण होते हुए कोई विशेष ऊँचाई, कोई विशेष रङ्ग आदि नहीं होता। वह एक ऐसी टोपी है, जो प्रत्येक मनुष्यके सिरपर बैठ जाती है। इसी प्रकार लाल वस्तुओंमे लालपन, मोटी वस्तुओंमे मोटाई, चल वस्तुओंमे क्रियाशीलता आदि सामान्य है। यह स्पष्ट होना चाहिये कि सामान्य बुद्धि-निर्माण है। नीली वस्तुओंसे पृथक् नीलापन, लम्बी वस्तुओंसे पृथक् लम्बाई, बिल्लियोंसे पृथक विडालत्वकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जब कई वस्तुओंसे एक ही प्रकारकी अनुभूति होती है तो बुद्धि उस अनुभूतिको उन दूसरी अनुभूतियोंसे पृथक् कर लेती है जो उन वस्तुओंसे मिलती है। यह अनुभूति उन सब वस्तुओंकी, जो दूसरी बातोंमें एक-दूसरेसे भिन्न है, पहिचान हो जाती है। इसको उनका मुख्य गुण और उन दूसरे गुणोंको जिनके कारण उनके व्यक्तित्वोंमे भेद प्रतीत होता है, आकस्मिक गुण मान लिया जाता है। इस प्रकार उनको देखनेसे बुद्धिको सुविधा होती है। पर यह सामान्य, जिनके आधारपर वर्गीकरण किया जाता है, वस्तुगत नहीं वरन् बुद्धिनिर्मित है।

इतना बराबर ध्यानमे रखना चाहिये कि वर्गीकरण अपने सुभीतेके लिए किया जाता है। वर्गभेद कृत्रिम होता है। उन्हीं वस्तुओंका नय-भेदसे अनेक प्रकारसे वर्गीकरण किया जा सकता है। जो वस्तु एक दृष्टिसे एक वर्गमे पड़ती है, वही दूसरी दृष्टिसे दूसरे वर्गमे पड़ेगी। वही मनुष्य जो राजनीतिक विचारसे कट्टर राष्ट्रवादी है, धार्मिक विचारसे ईसाई सम्प्रदाय-जैसी अन्ताराष्ट्रीय सस्थाका सदस्य हो सकता है।

इन बातोंको ध्यानमे रखकर तब वर्गीकरण करना चाहिये। अन्यथा इस बातकी आशङ्का रहेगी कि सामान्योंकी स्वतन्त्र सत्ता है और प्रकृतिमे वस्तुएँ स्वतन्त्र, मिथोव्यावृत्त, अर्थात् एक-दूसरेसे सदा पूर्णतया पृथक् धर्मवाले वर्गोंमे बँटी हुई है। यह विकल्प नामका अज्ञान होगा। इसके आधारपर विश्वका जो चित्र बनेगा वह सर्वथा असत्य होगा।

दार्शनिकोंका काम इससे कुछ हल्का हो जाता है कि और लोग भी

वस्तुओंका वर्गीकरण कर चुके है। विज्ञानके विभिन्न अङ्ग वर्गीकृत विश्वका ही अनुशीलन करते है। वर्ग-विभाग चाहे जैसे किया जाय, एक वस्तु कई विज्ञानाङ्गोके क्षेत्रमे पड़े बिना रह नही सकती। विश्वको समझनेके लिए हम वस्तुओको वर्गोमे बॉटते है, परन्तु किसी एक वस्तुको समझनेके लिए सभी वर्गो अर्थात् समूचे विश्वको समझना आवश्यक है। प्रत्येक पिण्डमे सारा ब्रह्माण्ड भरा है। फिर भी विज्ञानका किया हुआ विभाग उपयोगी है। विज्ञानके विभिन्न अङ्गोमे भी गणित, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान मुख्य है। शेषमे इन्ही विद्याओका विस्तार और विनियोग है। दार्शनिकको ब्योरोमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है, उसको इन शास्त्रोके अध्ययनके निष्कर्षो, इनके सिद्धान्तोसे तात्पर्य है। सबने अपने-अपने दृष्टि-भेदके अनुसार विश्वको विभक्त किया है। दार्शनिकको देखना यह है कि अपने-अपने ढङ्गसे इनको उसके विभागोके, जीव-अजीवके, जड़-चेतनके, भौतिक-अभौतिकके सम्बन्धमे क्या कहना है।

२. समन्वयाधिकरण

दार्शनिकका काम इन प्रतिशास्त्रसिद्धान्तोंको मिलाकर, इनका समन्वय करके, उन सिद्धान्तोंको स्थिर करना है जो विश्वका सच्चा स्वरूप द्योतित कर सके। जिस प्रकार दो और दोको जोड़कर चार होते हैं उस प्रकार इन विभिन्न सिद्धान्तोंको जोड़ा नही जा सकता और यदि जा भी सकता हो तो इनको जोड़नेसे जगत्का स्वरूप नही बन सकता। जैसा कि हम पहिले कह आये है, विश्व अयुतसिद्धावयव पदार्थ है, उसके अवयवोंका स्वतन्त्र जीवन नही है। सम्पूर्ण विश्व अपने छोटेसे छोटे टुकड़ेमें वर्तमान है। एक छोटेसे प्राणीको ले लीजिये। उसके नख और दॉतोकी बनावट उसके खाद्यके अनुकूल है, खाद्यका सम्बन्ध जल-वायुसे, जलवायुका पृथ्वी और सूर्यके सम्बन्धसे, सूर्यके तापका उसके भीतर परमाणुओके टूटने और नये परमाणुओके बननेसे, परमाणुओका बनना और टूटना वायु और तेजके सम्बन्धसे होता है। इस समय आपके मनमे

जो विचार उठता है उसका सम्बन्ध एक ओर उस सभ्यता और संस्कृतिसे है जो सहस्रो वर्षसे विकसित होती हुई शिक्षाके रूपमे आपतक पहुँची है, दूसरी ओर उन इच्छाओ, वासनाओ और स्मृतियोसे है जिनके आदिका आपको पता नही है, तीसरी ओर उन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियोसे है जिनके कारण आपसे सैकड़ो कोस दूर और सैकड़ो वर्ष पहिले प्रस्फुटित हुए थे और चौथी ओर उन प्राकृतिक घटनाओसे है जिनकी डोरी चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रोतक पहुँचती है। अतः टुकड़े-टुकड़ेमे कुल विद्यमान है। प्रत्येक शास्त्र अपने क्षेत्रको यथासम्भव दूसरे सब क्षेत्रोसे पृथक् मानकर चलनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बहुत-सी ब्योरेकी बाते जानी जा सकती है, परन्तु इन ब्योरेकी बातोका ऐसा पहाड़ लग जाता है कि उसकी आडमे एकताका सूत्र छिप जाता है। दार्शनिकका काम यह है कि वह बराबर इस बातको ध्यानमे रखे कि वह विश्वके स्वरूपको पहिचानना चाहता है। इस लक्ष्यको सामने रखकर विभिन्न शास्त्रोके मूल निष्कर्षोको मिलाना होगा। परन्तु ऐसा प्रयत्न करनेपर यह प्रतीत हो जायगा कि टुकड़े मिलते नही, कुछ अश खोये हुए है। नदीमें घडे, बालटियॉ, लोटे रख दीजिये। इनमे पानी भर जायगा। वह पानी नदीका ही होगा और प्रत्येक बर्तनमेका पानी तदाकार होगा। परन्तु इन बर्तनोमे नदी नही आती, बर्तनोके बीच-बीचमे जो रिक्त स्थान है उनमेसे पानी बहता रहता है। वह किसी बर्तनमे नही आता। जो खडा होकर उसको देख पाता है वही प्रवाहमयी नदीका साक्षात्कार कर सकता है। इसी प्रकार विश्वके स्वरूपका ऐसा अश भी है जो किसी विज्ञानका विषय नही है। उसको जोड़े बिना और टुकड़े बिखरे रहेगे और विश्वका चित्र न बन सकेगा। इस अशका ज्ञान दार्शनिकको किसी शास्त्रसे नही मिल सकता, यह उसके मननका परिणाम होगा। उसके सामने विभिन्न शास्त्रोके सिद्धान्त होगे, उसको सोचना होगा कि इनको किस प्रकार मिलाया जाय कि समूचा अविकृत चित्र बन जाय। रिक्त स्थानोकी पूर्ति उसको उन अतर्क्य तत्त्वोसे करनी होगी जिनका उसको

अतीन्द्रिय साक्षात्कार हुआ होगा। जो जितना ही मेधावी होगा, जिसकी बुद्धि जितनी ही निर्मल और सर्वग्राहिणी होगी, वह इस काममें उतना ही समर्थ होगा, क्योकि उसका अतीन्द्रिय अनुभव उतना ही विशद और व्यापक होगा। यही समन्वयकी प्रक्रिया है। इसीसे यथार्थ ज्ञान होता है।

यहॉपर एक अधिकरण विश्लेषणके सम्बन्धमे भी दिया जा सकता था। समन्वय करते समय लब्ध सामग्रीपर विचार करके उसमेसे कुछका, जो मिथ्या या गौण या अनावश्यक प्रतीत हो, त्याग करके शेषका संग्रह करना पड़ता है। समन्वयकी प्रक्रिया जहदजहत्-स्वरूपा होती है। जहद-जहत्का अर्थ है कुछको छोडना, कुछको लेना। जो सामग्री ली जाती है उसकी कभी-कभी मीमासा करनी पड़ती है। सच तो यह है कि समन्वयके फलस्वरूप इस प्रकारकी सारी सामग्रीकी मीमासा स्वतः हो जाती है। किसी तत्त्वकी मीमासा करनेसे तात्पर्य है उसके अर्थको ठीक-ठीक लगाना। व्यष्टिको समष्टिकी पीठिकामे देखना, प्रत्येक पृथक् वस्तुका कुलमे स्थान पहिचानना, मीमासा है। विश्लेषण और मीसांसा समन्वयके अंग है इसलिए हमने इनके सम्बन्धमे पृथक् विचार नही किया है।

समन्वय करके जो सिद्धान्त निकला वह वस्तुस्वरूपका प्रकाशक है, कल्पनामात्र नही है। इसकी परख इस बातसे होती है कि वह सब प्रति-शास्त्रसिद्धान्तोंको एक सूत्रमे ग्रथित कर सकता है या नही और सब सेन्द्रिय-अतीन्द्रिय अनुभवोपर प्रकाश डाल सकता है या नही। जो दार्शनिक सिद्धान्त इस बातमे जितना ही सफल होगा वह उतना ही सत्य होगा और मुमुक्षुको उतना ही परितोष देगा।

३. निदिध्यासनाधिकरण

हमने देखा कि समन्वय करनेमें कई कठिनाइयोका सामना करना पड़ता है। एक तो अपने अतीन्द्रिय अनुभव या किसी आप्त पुरुषके अतीन्द्रिय अनुभवका आश्रय लिये बिना काम नही चलता। फिर पृथक्

शास्त्रोंके सिद्धान्तोकी यथार्थताका भी पूरा भरोसा नहीं है। उन सिद्धान्तो-के आदि-द्रष्टाओको भी अपने शास्त्रके ब्योरोका समन्वय करनेमे कुछ-न-कुछ अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका आधार लेना होता है। इसके सिवाय, इन्द्रियो और उनके बाहरी उपकरणोकी अल्पशक्तता वाधा डालती है। दूरबीन लगानेपर भी चक्षुरिन्द्रिय सब रूपवान् वस्तुओका ग्रहण नही कर सकती। फिर, चित्त पारदर्शक यन्त्र नही है। वह वस्तुओंसे उपरक्त तो होता है, परन्तु अपने पुराने भण्डार, वासनाओ और स्मृतियोको छोड़ नहीं सकता अतः हम उसके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही कर पाते। इन सब बातोका निचोड यह है कि इस सामग्रीसे जो ज्ञानराशि बनती है वह अपूर्ण, अथ च अयथार्थ, होगी। जो केवल चित्तविलास चाहता है वह उससे सन्तुष्ट हो सकता है परन्तु सच्चे खोजीका काम उससे नही चल सकता। उसका प्रकाश अज्ञानके सारे अन्धकारको दूर नहीं कर सकता।

सारे अनर्थकी जड़ चित्तकी चञ्चलता, उसका सतत संस्कारभारनत रहना है। वह अपने रगमे वस्तुस्वरूपको छिपा देता है। बुद्धिके सामने वस्तुस्वरूप अहकारके द्वारसे प्रत्यय बनकर ही आने पाता है, इसलिए बुद्धिको शुद्ध वस्तुका नहीं प्रत्युत अहंकार-वेष्टित वस्तुका ज्ञान होता है। शुद्ध वस्तुका ज्ञान तब हो जब या तो अहंकारसे बिना मुठभेड़ हुए सीधे बुद्धिसे भेट हो या अहकार अपनी ओरसे कुछ न करे। पहिला पर्याय सम्भव नही है। मन और बुद्धिके बीचमे अहंकार रहेगा ही, अतः यदि अहंकार निश्चेष्ट किया जा सके तो शुद्ध वस्तुका ज्ञान हो सकता है। एक बाधा और है। हम देख आये है कि इन्द्रियाँ ठीक काम नही कर पाती। उनके उपकरण पर्याप्त बलवान नही है। उपकरणोमे और कोई बल नही, बस इतना ही चाहिये कि वह जो बाधा शरीर डालता है उसे कम कर दें। शरीर इन्द्रियोके लिए प्रणाली भी है परन्तु उनको बाँधे रहता है। यह साधारण व्यवहारके लिए तो अच्छा है। यदि मनुष्यकी इन्द्रियाँ निर्बाध काम करने लगे तो दैनन्दिनका व्यवहार न सध सके, पर यह बन्धन सूक्ष्म

ज्ञानका विरोधी है। यदि किसी प्रकार शरीरका बन्धन ढीला किया जा सके तो इन्द्रियाँ चित्तके समक्ष प्रभूत और यथावत् ज्ञानसामग्री उपस्थित कर सकें।

एक और महत्त्वपूर्ण बाधा है। जो ज्ञान प्रतिभासित होता है, यदि वह हमारे विचारो और वासनाओंके साथ मेल नहीं खाता तो चित्त उसको स्वीकार नहीं करना चाहता। मूढ़ग्राहके कारण सत्यका प्रकाश हमको अप्रिय लगता है और हम उसकी ओरसे मुँह फेरकर ऐसे ज्ञानाभासकी कल्पना करते हैं जिससे हमारे अभ्यस्त जीवनक्रममे बाधा न पड़े। अपने चिरअभ्यस्त 'स्व'के खो जानेका भय बुद्धिको मुग्ध कर देता है।

बहुत-से दार्शनिक इन बातोकी ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। वह उतनी सामग्रीसे ही काम चलाना पर्याप्त समझते है जो हमको साधारणावस्थामें प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो पूर्णज्ञानका भूखा होगा वह ऊपर कही गयी बातोंके महत्त्वको समझेगा। वह इस बातका प्रयत्न करना चाहेगा कि शरीरको ज्ञानमे बाधक बननेसे रोका जाय और चित्तकी उन वृत्तियोंका शमन किया जाय जिनके कारण वह विश्वस्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकता। इस प्रकारके प्रयत्नको निदिध्यासन कहते है। निदिध्यासनके बिना सत्यका साक्षात्कार नहीं हो सकता। अगले अध्यायमे इसपर विचार होगा।

४. कस्मादधिकरण

इस बातके समझनेमे कठिनाई न होनी चाहिये कि विश्वस्वरूपके अवगत होनेपर कस्मात्—क्यों ?—पूछनेकी जगह नहीं रहती। अस्मद्युष्मदात्मक जगत्का स्वरूप जैसा कुछ भी है वैसा है, वैसा क्यों है यह नहीं पूछा जा सकता, क्योंकि वह अन्तिम तथ्य, परम सत्य है, उसे किसीने किसी उद्देश्यसे सकल्पपूर्वक नहीं बनाया है। वह अपने आप ही है। वस्तुतः अस्तित्व, सत्ता, मे क्योंके लिए अवकाश नहीं होता। शास्त्रसे कथं—कैसे ?—का उत्तर माँगा जा सकता है। विज्ञान भी

कथं—का ही उत्तर देता है। विज्ञान जिस कार्य-कारण-शृङ्खलाकी नींवपर खड़ा होता है उसकी प्रत्येक कड़ी किसी-न-किसी कैसे ?—का उत्तर है।

५. विनियोगाधिकरण

सम्बद्ध होनेसे हम यहाँ सक्षेपतः इस प्रश्नपर भी विचार कर लेते है कि दार्शनिक ज्ञानका विनियोग क्या है, वह किस काम आता है। उससे अर्थ और कामकी सिद्धि तो ढूंढ़नी न चाहिये, क्योंकि इनका अन्तर्भाव विभिन्न विज्ञानाङ्गोके क्षेत्रोमे है। दर्शनसे हम वही मॉग सकते है जिसके लिए उसका अनुशीलन किया गया था। धर्म हमको दर्शनकी ओर ले गया था। दार्शनिक ज्ञान—विश्वके सत्यस्वरूपका ज्ञान—धर्म-ज्ञानका साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत्मे हमारा क्या स्थान है, किस-किसके साथ कैसा सम्बन्ध है, इस सम्बन्धसे हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते है और इन कर्तव्योका किस प्रकार पालन किया जा सकता है। इसके साथ ही अज्ञानके कारण जो इच्छाभिघात होता है वह नष्ट हो जायगा। कर्तव्यपालन करनेकी क्षमता आ जायगी। ज्ञानकी इस अवस्थाको धर्ममेघसमाधि कहते है। इस प्रकारका ज्ञान व्यक्तिविशेषको ही हो, पर उसका लाभ उस व्यक्तितक ही परिसीमित नहीं रह सकता। वह जो सत्य घोषित करेगा उसको और लोग भी ग्रहण करेगे। उतना ऊँचा अनुभव न होनेके कारण सब लोगोके लिए वह साक्षात्कृत न हो तब भी स्वीकार्य हो सकता है, क्योकि उसके प्रकाशमे वह अपने ज्ञान, अपनी अनुभूतियो, अपने साक्षात्कृत सत्योके सामञ्जस्यको देख सकेगे और अपने धर्मोको न्यूनाधिक पहिचान सकेगे। उसके आधारपर समाजकी ऐसी व्यवस्था प्रतिष्ठित की जा सकती है जिसमे अधिकाधिक मनुष्य अपने अर्थ और कामका उपभोग कर सके और अपने धर्मका पालन कर सके। पूर्णज्ञानकी नींवपर समाजका जो सङ्घटन होगा वह निर्दोष होगा। कालकी गतिसे जगत्के विस्तारके सम्बन्धमे ज्ञानकी वृद्धि हो सकती है, प्राकृतिक शक्तियोके उपयोगके नये प्रकार आविष्कृत हो सकते है, इसलिए समुदायके राजनीतिक या आर्थिक या सामाजिक जीवनकी नयी व्यवस्थाएँ

आवश्यक प्रतीत हो सकती है परन्तु पूर्णप्रज्ञके बताये हुए सिद्धान्त सदैव श्रेयस्कर रहेगे। यह सिद्धान्त उसके निदिध्यासन द्वारा परिशोधित चित्त द्वारा साक्षात्कृत होगे इसलिए वैज्ञानिक प्रगतिसे उनपर प्रभाव नही पड़ सकता। हाँ, यह निःसन्देह आवश्यक है कि देश-काल-पात्रके अनुसार उनकी मीमासा और उनका प्रयोग करनेवाले भी धर्मज्ञ अर्थात् सच्चे दार्शनिक हों। जो दार्शनिक मत निदिध्यासनके बिना स्थिर किया जायगा वह इस प्रकार सत्य नही हो सकता। उसपर दार्शनिकके अपने चित्तके सस्कारोकी छाप होगी और उसकी यथार्थता उस सामग्रीपर भी निर्भर करेगी जिसका उसने उपयोग किया होगा। यह सामग्री तत्कालीन वैज्ञानिक उन्नतिका परिणाम होगी। परन्तु फिर भी, इन सब त्रुटियोके होते हुए भी, ऐसा मत सत्याशसे सर्वथा विहीन नही हो सकता। अव्यवस्थामे प्रत्येक व्यक्तिको अपना मार्ग अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और काम, को प्रधान लक्ष्य मानकर चुनना पड़ता है। स्वार्थोके तात्कालिक सङ्घर्षके अनुसार वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका नियमन होता है। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर व्यक्ति और समुदायके जीवनको सङ्घटित करना अव्यवस्थासे लाखगुना श्रेयस्कर है।

ज्ञानका यह बहुत बड़ा विनियोग है, परन्तु ज्ञानीके लिए सबसे बडा उपयोग अज्ञानकी निवृत्ति है। अज्ञान बन्धन है, ज्ञान उस बन्धनका कटना है। बन्धनका कटना, अज्ञानसे छुटकारा पाना, मोक्ष, स्वतः लक्ष्य है। वह स्वयं परम श्रेय, परमानन्दस्वरूप है।

———

छठाँ अध्याय

निदिध्यासन

१. योगस्वरूपाधिकरण

निदिध्यासनकी प्रक्रियाका नाम योग है। योगका उद्देश्य है चित्तको ऐसी अवस्थामे ले आना जिसमे वह ज्ञानका निर्बाध साधन बन सके। थोडेमे कह सकते है कि ज्ञानकी प्राप्तिमे मुख्य बाधाएँ यह हैं—चित्तकी वह शक्तियाँ जिनको इन्द्रिय कहते हैं, शरीररूपी स्थूल यन्त्रसे काम लेनेपर बाध्य हैं, इसलिए बहुत-से विषयोका ग्रहण नही कर पाती। इन्द्रियोकी यह विवशता पूर्ण दार्शनिक ज्ञानके लिए बाधक है परन्तु जगत्के व्यवहारकी दृष्टिसे उपयोगी है। शरीर इसलिए बना है कि उसके द्वारा हमारी भूख-प्यास, कामवासना आदिकी तृप्ति हो। इस कामके लिए परिमित इन्द्रियशक्ति ही उपयुक्त है। यदि वासनाएँ और शारीरिक आवश्यकताएँ यही रहे और इन्द्रियाँ निर्बाध हो जायँ तो जीवन-निर्वाह असम्भव हो जाय। यदि स्त्री-पुरुष अपनी ऑखोसे एक-दूसरेके शरीरके भीतर होनेवाली क्रियाओको बराबर देख सके तो क्या कभी भी दाम्पत्य सम्बन्धके लिए प्रवृत्त हो सकते है? जो मनुष्य खाद्य और पेयके भीतर देख सके, उनके कलेवरमे रहनेवाले जीवोको देख सके वह क्या कभी भी अपनी भूख-प्यास मिटा सकता है? जो विषय सवितृरूपसे मनमे प्रवेश भी कर पाते है उनका यथार्थ ज्ञान नही हो पाता, क्योकि चित्त स्वय उनको रँग देता है; किसी विषयपर देरतक चित्तको टिकाना कठिन होता है—चित्तका स्वभाव ही परिणाम है। जिस प्रकार समुद्रमे लहरे उठती रहती है उसी प्रकार चित्तमे प्रज्ञान उठते रहते है। एक आता है, दूसरा जाता है। एकका अभिभव, दूसरेका प्रादुर्भाव निरन्तर होता रहता है। इस

प्रवाहमे कोई विषय ठहर नहीं सकता, प्रत्येक प्रज्ञानका पृथक् विषय होता है; यदि वाहरी विषयोसे हटकर चित्त अपने स्वरूप और अपने भीतर सञ्चित वासनाओ, संस्कारो और स्मृतियोंका प्रत्यक्ष करना चाहता है तब भी कठिनाई पडती है। उधर बाहरके विषय इन्द्रिय-द्वारको खटखटाते रहते है, इधर चित्त-प्रवाह किसी एक भीतरी विषयपर रुक नही पाता। वासनाएँ सत्यपर पर्दा डालती रहती है। नग्न सत्यका सामना करनेमे भय लगता है। चित्तका विकास भी साधारण जीवनयात्रा—अर्थ और काम—के भोगके अनुकूल हुआ है। जो इसके ऊपर उठना चाहता है उसीके लिए इसमे वन्धन प्रतीत होता है। योगका उद्देश्य इन कठिनाइयो-पर विजय पाना है। उसके अभ्याससे इन्द्रियाँ शरीरके स्थूल बन्धनसे छूट-कर अपने विषयोका सम्यक् ग्रहण करनेमे समर्थ होती है; चित्तमे एकतानता आती है अर्थात् यद्यपि वह अपना परिणमनशील स्वभाव नहीं छोडता परन्तु एक विषयपर यथेच्छ कालतक लगाया जा सकता है, ऐसा हो सकता है कि जिन प्रज्ञानोका अभिभव और प्रादुर्भाव हो उनके विषयोमे समानता हो: उसमे एकाग्रता आती है अर्थात् सर्वार्थताकी अवस्थाका, जिसमे एक साथ कई विषय उपस्थित रहते है, क्षय होकर एकार्थताकी अवस्था आती है जिसमे एक कालमे एक ही विषय चित्तमे रहता है; पहिलेके सस्कारोका इस प्रकार निरोध हो जाता है कि अर्थमात्र निर्भास हो अर्थात् अहंकार-की तूलिकासे अछूता वस्तुस्वरूप बुद्धिके सामने आवे। तुच्छ विकृत भोग-लिप्सा और वासनाओपर विजय प्राप्त होती है, निकृष्ट अर्थकाममय 'स्व'-का मोह छूट जाता है और दृढ़ताके साथ सत्यका साक्षात्कार करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। चित्तकी इस अवस्थाको, जब वह अभिजात मणिके सदृश पारदर्शी हो जाता है, समाधि कहते है।

२. वैराग्याधिकरण

यह साधारण अनुभवकी बात है कि जब किसी वडे कामको करना होता है तो चित्तको और बातोकी ओरसे खींचना पड़ता है। जितना

ही बड़ा काम होता है उतना ही दूसरी बातोसे बे-लगाव होना आवश्यक हो जाता है। विद्यार्थी, कलाकार, वैज्ञानिक प्रयोक्ता—यह सब अपनेको जितना ही जगत्के प्रपञ्चसे अलग कर पाते है उतना ही अपने उद्देश्यमे सफल होते है। दार्शनिक जिज्ञासुके लिए भी यही विधान है। जो अपने अर्थ और कामके पीछे दौड़ता फिरता है वह सत्यका अन्वेषण नही कर सकता। जो लोग स्वर्गादिके लोभी है उनके लिए भी यह मार्ग बन्द है। इन सुखोकी जड़मे राग है। रागसे द्वेष भी उत्पन्न हो जाता है, क्योकि सुखोंके खोजियोमे कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूपमे सङ्घर्ष अवश्यम्भावी है। अतः जो ज्ञानका सच्चा खोजी है उसको विरक्तिशील बनना ही पड़ेगा। कुछ वैराग्य, अर्थात् अर्थ और कामकी ओर अभिरुचिका अभाव, तो पहिलेसे ही रहा होगा, अन्यथा चित्त ज्ञानान्वेषणकी ओर झुकता ही नही; कुछ वैराग्य अनवकाश उत्पन्न कर देता है, कमसे कम इतना तो होता ही है कि विद्यार्थी और शोधकर्ताकी भॉति दर्शनके अध्येताको भी सुखोपभोगका अवकाश कम मिलता है और कुछ अरुचि भी हो जाती है। परन्तु इतना पर्याप्त नही है। ऐसे व्यक्तिको हठात् चित्तको ऐसे सुखोसे फेरना चाहिये। पुराने अभ्यास, पुराने सस्कार बार-बार विषयोकी ओर खीचेगे, परन्तु उनसे लडना चाहिये। गिरनेसे घबराना न चाहिये। फिर उठकर आगे बढना चाहिये।

३. चित्तप्रसादाधिकरण

सारा समय तत्त्वचिन्तनमे बिताना सम्भव नही है। जिज्ञासुको कुछ-न-कुछ अगत्या करना पडेगा। जाग्रत् अवस्थामे क्षणभर भी निष्क्रिय रहना सम्भव नही है। जो काम किया जायगा वह चित्तपर अपने संस्कार छोड जायगा और यह सस्कार आगे चलकर ज्ञानोपलब्धिके मार्गके कॉटे बनेगे। इसलिए यह उचित है कि ऐसे काम किये जॉय जिनके सस्कार कमसे कम हानिकारक हो। इस प्रकार काम करनेसे, जिसमे अपने स्वार्थके स्थानमे दूसरोका हित लक्ष्य बनाया जाय, जो सस्कार बनते है उनमे

बाँधनेकी शक्ति बहुत कम होती है। काम करनेके इस भावको नैष्कर्म्य कहते है। नैष्कर्म्यकी चार मुख्य अभिव्यक्तियाँ होती है अर्थात् वह चार प्रकारसे प्रकट होता है। इनको मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा कहते है।

ससारमे सुखकी मात्रा बढ़ाना मैत्री और करुणा है। सुखीके सुखमे वृद्धि करना मैत्री और दुखियाको सुखी बनाना करुणा है। न बैठे-बैठे आशीर्वाद देना मैत्री है, न बैठे-बैठे चार आँसू गिरा देना करुणा। मैत्री और करुणा प्रयत्नापेक्षी है, क्रियासाध्य है। जो लोग अच्छे कामोंमे, लोकसंग्रहमे, अपने धर्मके पालनमे लगे है, उनके मार्गको निष्कण्टक बनाना, उनकी सहायता करना, उनको प्रोत्साहन देना मुदिता कहलाती है और जो लोग कुमार्गगामी है, लोकोत्पीड़नमे रत है, उनके साथ घृणा न करते हुए उनके और दूसरोके हितकी दृष्टिसे उनको विपथ-गमनसे रोकना उपेक्षा है। मुदिता और उपेक्षा भी कोरी भावनाएँ नही है, इनके लिए भी सक्रियताकी अपेक्षा है। इन चारोके लिए विवेक-बुद्धिकी भी अपेक्षा है। विवेकसे ही सत्य, असत्य, सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्यकी पहिचान होती है। मद्यप मदिरापानसे सुखी होता है, रोगी कड़वी औषध पीनेमे दुखी होता है। अतः लोगोकी प्रवृत्तिसे ही सुख-दुःखकी पहचान नही हो सकती। ऐसा हो सकता है कि जो प्रेय हो वह श्रेय न हो। मैत्री आदिका यथावत् पालन तो तब हो जब इनका अनु-सरण करनेवाला स्वयं पूर्ण ज्ञानी हो। जिज्ञासु तो ज्ञानके मार्गपर अभी चल रहा है। इसलिए उससे भूले होगी, इन भूलोका परिणाम भी बुरा होगा, फिर भी यदि उसकी भावना शुद्ध है और वह बराबर बुद्धिसे काम लेता चलता है तो भूलें सुधर भी सकेगी और उनके सस्कार बहुत बुरे न होगे। ज्यो-ज्यो ज्ञान बढ़ेगा, बुद्धि शुद्ध होती जायगी और धर्मा-धर्मादिकी परख बढ़ती जायगी। इस प्रकार ज्ञानपथपर आरूढ़ व्यक्तिकी यह साधना लोकहितका साधन बनेगी।

नैष्कर्म्यका सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह मै-तू, अपना-पराया-की उस भित्तिको पोली कर देता है जो स्वार्थसङ्घर्षके लिए उपजाऊ भूमिका

काम करती है। जितना ही अपनी वासनाओंका दमन करके परार्थको कर्मका नोदक बनाया जाता है उतना ही चित्तका विक्षेप कम होता है और वह वस्तुस्वरूपको समझनेमें समर्थ होता है। युष्मत्—ज्ञेय—का बहुत बड़ा अंग दूसरे प्राणी, उनके चित्त और उनकी चेष्टाएँ हैं। हम उनको अपने अहङ्कारके पर्देके भीतरसे देखते हैं। मैत्री आदि भावना-चतुष्टयके सतत अभ्याससे यह पर्दा झीना होता जाता है और हम दूसरोंके यथावत् ज्ञानके पास पहुँचते जाते हैं। चित्तकी ऐसी दशाका नाम प्रसाद है।

४. व्रताधिकरण

व्रतका अर्थ है शुद्ध चरित्र और आचरण। यों तो प्रत्येक मनुष्यको व्रती होना चाहिये परन्तु योगीके लिए तो व्रताचार अनिवार्य है। अव्रती योगी हो ही नहीं सकता। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और त्याग योगीके महाव्रत हैं। इनका पालन करना सुकर नहीं है। चित्त बहाने ढूँढ़ता है, पदे-पदे प्रलोभन मिलते हैं, स्खलन ऐसा धीरे-धीरे होता है कि पता भी नहीं चलता। इसलिए सतत सतर्क रहना आवश्यक है। व्रतोंके अनुष्ठानसे असीम लाभ होता है। इस समय हमारी बहुत-सी दैहिक और चैत्त शक्ति असदाचरणमें नष्ट होती है। चित्त बहिर्मुख बना रहता है, इसीसे विक्षिप्त रहता है। यदि उसका यमन किया जाय तो इस शक्तिका सञ्चय हो और उसे चित्तको अन्तर्मुख करके एकाग्र बनानेमें लगाया जा सके।

महाव्रतोंके अनुष्ठानमें बुद्धिका सहयोग आवश्यक है। किसी पुस्तक या उपदेष्टासे सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा या त्यागकी सर्वाङ्गीण शिक्षा नहीं मिल सकती। रोगीसे यह कहना कि वैद्य तुम्हारी व्याधिको असाध्यप्राय समझता है सत्य नहीं है और न केवल शस्त्र-प्रयोगसे हाथको खिंचा रखना अहिंसा है। कभी-कभी आततायीका हनन भी अहिंसा हो सकता है। उद्देश्य यह होना चाहिये कि दूसरोंके साथ-साथ उसका भी कल्याण हो।

महाव्रतोंके तुल्यप्राय स्थान उपव्रतोंका है। तप और श्रद्धा उप-व्रतोंके प्रतीक हैं। जो तपस्वी और श्रद्धालु नहीं है उसको योगमें सफलता

नही मिल सकती। तपके अनेक भेद है। खाने-पीनेका नियमन अर्थात् मास और मादक तथा नाडि-उत्तेजक द्रव्योका वर्जन, मिताहार, मित-निद्रा, मितभाषण, अवहास और अपहासका परित्याग, तितिक्षा अर्थात् शीत-उष्ण, क्षुधा-तृष्णाका सहन, पठन-पाठनमे भी ऐसे वाङ्मयका अध्ययन जो श्रेयस्कर अर्थात् ज्ञानलब्धिके अनुकूल मानस वातावरण उत्पन्न करनेवाला हो, यह सब तपके रूप है।

श्रद्धाका अर्थ अन्धविश्वास नही है। योगी विश्वके स्वरूपका साक्षात्कार करने चला है, उसे शब्दप्रमाणके भरोसे नही बैठना है, इसलिए उसे इस प्रकार किसीपर विश्वास करनेकी आवश्यकता भी नही है। परन्तु इतना विश्वास होना चाहिये कि विश्वस्वरूप ज्ञेय है, उसको जाननेके लिए अथक परिश्रम करना होगा। जो ज्ञानलव अवतक प्राप्त हुआ है वह अभिमानके लिए हेतु होनेके स्थानमे नम्रता और विनयमे एक पाठ है। श्रद्धाका एक बड़ा अङ्ग यह भी है कि जहाँ यह विश्व अपने स्वरूपको उस व्यक्तिके सामने आवृत रखता है जो केवल भोगका इच्छुक है, वहाँ वह उसे उसके सामने खोल देता है जो ज्ञानका खोजी है। यह भावना अन्वेषकके पथको सुगम बनाती है।

जो रोगी है उसको योगी बननेके पहिले स्वस्थ बनना चाहिये। जिसको भोजन नही पचता, बात-बातमे शिरोव्यथा होने लगती है, जरा-सा खटकेमे निद्रा भाग जाती है या लगती ही नहीं, तोंद निकली हुई है, मास लटक रहा है, उसे अपनी चिकित्सा करानी चाहिये। इसी प्रकार जो व्यक्ति चिन्ता, सशय, भयका शिकार बना रहता है वह भी योगदीक्षाका अधिकारी नहीं है। लोग मृत्युके डरसे योगी नही बनते, किसी उपास्यकी कल्पना करके त्राहि माम्-त्राहि माम् करते हुए उसकी शरणमे दौड़ते है। योग दुर्बलोंके लिए नही है। जो तप नहीं कर सकता वह पूर्णज्ञानका अधिकारी नहीं है।

५. प्राणाधिकरण

तत्त्वचिन्तन, गम्भीर विचार शान्त वातावरणमे शान्तिके साथ बैठ

कर ही हो सकता है। योगीको भी एकान्त और स्वच्छ तथा कीड़े-मकोड़े, शोर-गुलसे मुक्त स्थानका सेवन करना चाहिये। वह अपने चित्तको नियन्त्रणमें लाना चाहता है। बलवान् शत्रुके सहायकोंको पंगु कर देनेसे उसपर विजय पाना सुकर हो जाता है। योगी इसी युक्तिसे काम लेता है। शरीरमें मेरुदण्डके भीतर जो नाडिरज्जु है उसे सुषुम्ना कहते हैं। उसमें स्थान-स्थानपर नाडिकोष्ठ हैं जिनमेंसे नाडितन्तु निकले हुए हैं। इनमेंसे कुछ तो शाखा-प्रशाखामें बँटकर शरीरके बहिर्भागमें फैले हुए हैं और कुछ ऊपर कण्ठकी ओर जाते हैं। इसी प्रकार शिरके भीतर मस्तिष्क है जो नाडिकोष्ठों और तन्तुओंका गुच्छा है। मस्तिष्क और सुषुम्नाका मेल जहाँ होता है उस जगहको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना तो यहीं समाप्त हो जाती है परन्तु उसमें स्थित नाडिकोष्ठोंसे आये हुए तन्तु मस्तिष्कमें जाते हैं। वहाँ उनका विशेष केन्द्रोंसे सम्बन्ध होता है। आँख, कान, नाक और जिह्वासे आये हुए तन्तुओंका भी मस्तिष्कसे सीधा सम्बन्ध है। बाह्य विषयोंके आघातसे नाडितन्तु प्रकम्पित होते हैं। यह प्रकम्पन उनके मूल नाडिकोष्ठतक पहुँचता है। यदि वह कोष्ठ सुषुम्नामें है तो ऊपर जानेवाले तन्तु क्षोभको मस्तिष्कतक पहुँचाते हैं; आँख, कानसे आये तन्तु और उनके कोष्ठ मस्तिष्कको सीधे क्षुब्ध कर सकते हैं। यदि क्षोभ हलका हुआ तो चित्तपर प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु यदि बाहरी आघात तीव्र हो तो मस्तिष्कमें उग्र क्षोभ होगा और फिर चित्तपर भी प्रभाव पड़ेगा। आघात पहुँचानेवाली वस्तुका मनमें संवित्के रूपमें प्रवेश होगा। संवित्से प्रत्यय बनेगा और फिर बुद्धि अध्यवसाय करेगी। अध्यवसायके फलस्वरूप यदि कोई सङ्कल्प हुआ तो वह फिर मस्तिष्कमें क्षोभ-रूपसे प्रकट होगा और मस्तिष्कसे नाडिकोष्ठों और तन्तुओं द्वारा मांस-पेशियोंतक पहुँचेगा। इस प्रकार सुषुम्ना और मस्तिष्क मिलकर जो नाडिसंस्थान है वही बाहरी जगत्से सम्बन्धका साधन होता है। उसके द्वारा बाहरी वस्तुकी क्रिया चित्तपर ज्ञानके रूपमें और चित्तकी प्रतिक्रिया बाहरी वस्तुपर शरीरकी चेष्टा-विशेषके रूपमें होती रहती है। जबतक

नाडिसस्थान काम करता रहेगा तबतक चित्तका विक्षिप्त रहना स्वाभाविक है। जो शक्ति नाडियोमें दौडती है, जो उनको परिचालित करती है, उसको प्राण कहते है। चित्त और प्राणका अन्योन्याश्रय है। दोनो साथ-साथ चञ्चल और साथ-साथ निश्चल देख पड़ते है। योगी इस बातको जानता है, इसलिए वह चित्तको निश्चल बनानेके उद्देश्यसे प्राणको निश्चल बनानेका उपाय करता है। चित्तस्थैर्यकी अपेक्षा प्राणस्थैर्य सुकर है, क्योंकि प्राणका शरीरसे सीधा सम्बन्ध है। प्राणका नियन्त्रण करनेके उपायको प्राणायाम कहते है। यो तो कई ऐसी ओषधियाँ है जिनके उपचारसे नाडिसस्थान निष्क्रिय बनाया जा सकता है परन्तु ओषधि नाडियोको रोगी बना देती है जो योगीका अभीष्ट नही है और उनका प्रभाव यह होता है कि चित्त मूढ़ावस्थाको प्राप्त हो जाता है जो योगके लिए अनुपयोज्य है। इसलिए योगी दूसरी विधियोका आश्रय लेता है। प्राणायामके अभ्याससे वह पहिले सुषुम्नाके निचले भागमे स्थित नाडिकोष्ठों और उनसे सम्बद्ध नाडितन्तुओसे प्राण खीचनेमे समर्थ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि नाडिसस्थानके इस भागमे योगके अभ्यासकालमे प्राण-सञ्चार नही होता, अर्थात् शरीरके जिस भागसे वह तन्तु सम्बद्ध हैं वहाँका कोई विषयाघात मस्तिष्कको क्षुब्ध और एतद्द्वारेण चित्तको विक्षिप्त नही कर सकता। उतना भाग अभ्यासकालके लिए शून्य, जड हो जाता है। धीरे-धीरे सुषुम्नाके एक भागसे दूसरे भागतक बढ़ता हुआ यह क्रम मस्तिष्कतक पहुँचता है। इसीको सुषुम्नानाडीसे प्राणको ब्रह्माण्डमे चढ़ाना कहते है। अभ्यासके दृढ़ हो जानेपर बाह्य विषयोकी चित्तपर क्रिया और चित्तकी बाह्य वस्तुओपर प्रतिक्रिया, दोनो ही स्तम्भित की जा सकती है। प्राणका ज्यो-ज्यो नीचेसे प्रवाह रोका जाता है त्यो-त्यो वह संचित शक्ति इन्द्रियोकी सेवामे लगती है, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करनेका अद्भुत बल प्राप्त करती है और विक्षेपकारी आघातोंके क्रमशः कम होते जानेसे चित्तमे एकतानताका लाना सुकर होता है। वह जिन विषयोपर जमता है उनपर देरतक जमता है। इस प्रकार युष्मत्का

अध्ययन, उसके स्वरूपका ज्ञान अशेष और मर्मस्पर्शी होता है। जब ऐन्द्रिय नाडितन्तुओं और कोष्ठोंमे प्राणकी गतिका अवरोध हो जाता है और उसका सचार मस्तिष्कमात्रमे रह जाता है उस समय चित्तका बाह्य जगत्से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। वह अपने सस्कारों और वासनाओंको विषय बनता है। ज्यो-ज्यो चित्त इनके ऊपर उठता है त्यो-त्यो अस्मत्के स्वरूपका अधिकाधिक विशद ज्ञान होता है। इस प्रकार प्राणका नियमन योगीको चित्तके नियमनमे सहायक होता है। किसी अच्छे जानकारकी देख-रेखमे ही प्राणायामका अभ्यास किया जा सकता है, अन्यथा उससे कई प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती है और कई प्रकारके मानस विकारोंके उत्पन्न होनेकी भी आशङ्का रहती है।

९. समाध्यधिकरण

योगीका मुख्य लक्ष्य चित्तको सयत करना है। उसको किसी एक विषयपर लगाने और वहाँसे हट जानेपर फिर वहीं खीचकर लानेको धारणा कहते है। धारणाके दृढ़ होनेपर जो अवस्था आती है उसे ध्यान कहते है। ध्यान क्रमशः समाधिमे परिणत हो जाता है। समाधिमे चित्त निश्चल-सा हो जाता है। निश्चलताका एक रूप शून्य हो जाना है। यह पूर्वावस्थामात्र है, परन्तु बहुतसे साधक यही रुक जाते है। जबतक समाहित चित्तका विषय स्थूल रहता है अर्थात् जबतक विश्वके इन्द्रिय-ग्राह्य अंशका स्वरूप ज्ञेय रहता है तबतक समाधिको वितर्कसमाधि कहते है। जब स्वय इन्द्रियाँ और चित्तके प्रत्यय और सस्कार विषय होने लगते है उस समय विचारसमाधि आरम्भ होती है। ऐसा भी समय आता है जब द्रष्टा अपनेको भीतरी-बाहरी अन्य सब विषयोंसे हटाकर अपने स्वरूपको, अस्मत्को, अन्तस्तमको विषय बनाता है। उस अवस्थाको भी पार करके जिस दशामे युष्मदस्मदात्मक विश्वका सारा रहस्य खुल जाता है, जिस अवस्थामे विश्वस्वरूपका सम्पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है, जो ज्ञानकी पराकाष्ठाभूमि है, उस समाधिको असम्प्रज्ञात समाधि कहते है।

समाधि हँसी-खेल नही है। जो चित्त विक्षिप्त था उसीको समाहित करना होता है। वह सहसा अपने पुराने कलेवरका परित्याग नही कर सकता। वासनाएँ, स्मृतियाँ, पुराने विकल्प और अध्यास उसमे भरे पड़े है। उनसे अवच्छिन्न होकर ही वह नये विषयोका ग्रहण करता है। इसलिए जो ज्ञान होता है वह शुद्ध नही हो सकता। आसीन होकर बैठ जानेसे ही अनुभूतिके दोष नहीं मिट जाते। योगाभ्यास जादू नही है। योगी उसी कामको नियमित रूपसे करना चाहता है जिसे अपने-अपने व्यवसायोंमें कवि, वैज्ञानिक, व्यापारी, सभी थोड़ा-बहुत करते है। इसलिए वितर्कसमाधि साधारण ज्ञानसे कुछ ही शुद्ध होती है। विचार-समाधि उससे अधिक शुद्ध होती है। ज्यो-ज्यो अन्तःकरणके पुराने सस्कार दबते है, ज्यो-ज्यो वह स्वभावशून्य-इव होता जाता है, त्यो-त्यो वह वस्तुस्वरूपका अधिकाधिक बोधक होता जाता है। इसी क्रमकी दृष्टिसे योगके आचार्योंने वितर्कके सवितर्क, निर्वितर्क और विचारके सविचार, निर्विचार दो भेद किये है। यदि साधक स्वयं सावधान न हो, यदि उसका देशिक सावधान न हो और यदि अभ्यासके आरम्भकालमे बराबर मनन और स्वाध्याय न किया जाय तो योगीके लिए वितर्कसमाधिसे ऊपर उठना असम्भव हो जायगा और वह अपने नये अनुभवोको, जिनकी मात्रा बहुत थोड़ी होगी, पुराने सस्कारोके साँचेमे ढालकर सत्यका एक विकृत रूप बना लेगा। यह योगकी विडम्बना होगी।

समाधि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी परमावधि है। समाधिज ज्ञान किसी प्रमाणान्तरकी, अनुमान या शब्द या तर्ककी अपेक्षा नही करता। वह स्वयं अन्य प्रमाणोकी और तर्ककी कसौटी है। अन्य सब साधनोसे प्राप्त हुए ज्ञानका उसमे अन्तर्भाव होता है। उसके प्रकाशमे सब ज्ञानांशोका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और इनको मिलाकर विश्वस्वरूपको समझनेमे जो त्रुटियाँ रह जाया करती थी वह दूर हो जाती है। अतर्क्योंका निःशेष प्रत्यक्ष हो जाता है। अतीत और अनागत सिमटकर वर्तमान बिन्दुपर आ जाते है।

वस्तुतः जबतक प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् बुद्धिको श्रम करना पड़ता है तभीतक प्रश्न रहते है, समस्याएँ रहती है। कुछ प्रत्यक्ष हुए, उनके बीचमे चित्त अपनी ओरसे सम्बन्ध निर्माण करता है। पूरा प्रत्यक्ष न होनेसे तर्क करना पड़ता है। वहाँतक सशयादिके लिए जगह रहती है। साक्षात्कार होनेपर सशयोका क्षय हो जाता है, शङ्काके लिए स्थल ही नहीं रह जाता, समस्याओका लोप हो जाता है।

यह ज्ञान स्वसवेद्य है। इसको भाषाके द्वारा पूरा-पूरा व्यक्त करना असम्भव है। परन्तु जो ज्ञान केवल ऐन्द्रिय अनुभव और तर्कसे प्राप्त होता है और भाषाके द्वारा व्यक्त किया सकता है वह अधूरा है। जो दर्शनका सच्चा विद्यार्थी, सत्यका सच्चा खोजी हो, उसको निदिध्यासन करनेके सिवाय उपायान्तर नहीं है। जो योगी नहीं है वह दार्शनिक ज्ञानके विषयमे आप्त नही माना जा सकता। अज्ञाननिवृत्ति स्वय तो आनन्द-स्वरूपा है ही, ज्ञानोपलब्धिका यह राजमार्ग भी कठिन होते हुए आनन्दमय है।

शक्ति ज्ञानका रूपान्तर है। ज्यो-ज्यो योगीका ज्ञान बढ़ता है त्यो-त्यो उसकी शक्ति बढती है। धर्मकी खोज मोक्षकी ओर लायी थी। योगी धर्मको पहिचानता है और उसके आचरण करनेमे समर्थ होता है। उसके मन, वाणी और शरीरसे धर्मकी स्वाभाविक धारा निकलती है, इसलिए उसका ससर्ग लोकके लिए सतत कल्याणकारी है।

सातवाँ अध्याय

दिक् और काल

१. सत्कार्याधिकरण

विश्वका नाम जिसने जगत् रखा उसने गम्भीर बुद्धिमत्ताका परिचय दिया था। जगत्का अर्थ है चलनशील, गतिशील। साधारणतः गतिका तात्पर्य होता है एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना। परन्तु जगत्के सम्बन्धमे यह मीमासा नही हो सकती। समूचा जगत् स्थान-परिवर्तन नही कर सकता क्योकि जितने स्थान है सब उसके भीतर है। कुल अपने भीतर चल नही सकता, उसके बाहर चलनेकी कोई जगह नही है। पर जगत् कभी स्थिर नही रहता। उसमे उस दूसरे प्रकारकी गति है जिसको परिणाम कहते है। उसका दृश्यरूप बराबर परिवर्तित हुआ करता है। जो पदार्थ परिणत होता रहता है उसको धर्मी और उसके विभिन्न रूपोको उसकी विभिन्न अवस्थाएँ कहते है। कुण्डल, कड़ा, अँगूठी, पदक, कटोरी अवस्थाएँ है, सोना धर्मी है। विश्वका स्वरूप जिसकी दार्शनिकको खोज है, धर्मी है, विश्वकी जिन-जिन रूपोमे हमको प्रतीति होती है वह सब उसकी विभिन्न अवस्थाएँ है। अवस्था और धर्मी एक-दूसरेसे पृथक् नही किये जा सकते। सभी अवस्थाएँ उस एक धर्मीकी है इसलिए किसी एक अवस्थाको उसका स्वरूप नही मान सकते। जिसको सब अवस्थाओका प्रत्यक्ष हो वही यह कह सकता है कि मै धर्मीको जानता हूँ। यह हमारे अन्तःकरण और उसके उप-करणोंकी बनावटका परिणाम है कि हमको धर्मीका परिचय एक साथ न होकर उत्तरोत्तर होता है। जो अवस्था पहले गयी उसको कुछ लोग

कारण और जो पीछे आयी उसको कार्य कहते है। कभी-कभी ऐसा प्रयोग न करके धर्मीको कारण और उसकी सब अवस्थाओको कार्य कहा जाता है। कुछ लोग ऐसा मानते है कि सोना कारण है, कुण्डलादि उसके कार्य है। यदि सोनेको गलाकर पहिले कुण्डल बना, फिर उसे गलाकर कडा, फिर इसी प्रकार कटोरी तो यह माना जायगा कि सोनेका पिण्डरूपी कार्य नष्ट हुआ और कुण्डलरूपी कार्यकी उत्पत्ति हुई, फिर कुण्डलका विनाश हुआ और ॲगूठीकी उत्पत्ति। यो ही विनाश और उत्पादका क्रम चलता रहता है। सोना नामक द्रव्यके अपने कुछ स्थिर गुण है जो इन कार्योमे अनुस्यूत होते रहते है। इस मतको स्वीकार करनेमे कई कठिनाइयॉ पडती है। यदि ऐसा माना जाय कि अपरिणामी द्रव्यरूपी कारणसे कार्य उत्पन्न और नष्ट होते रहते है तो यह मानना पड़ेगा कि अपनी उत्पत्तिसे पहिले कार्यका अनस्तित्व, अभाव, था। वह नहीसे हॉ हुआ। दूध नामके द्रव्यमे दही नामके कार्यका और सोना नामके द्रव्यमे कुण्डल नामके कार्यका प्रागभाव था। जब नहीसे ही हॉ बनता है तो फिर कभी ऐसा भी हो जाना चाहिये कि दूधमेसे कुण्डल और सोनेमेसे दही बन जाय। पर ऐसा नही होता। दूधसे ही दही बनता है, इसलिए ऐसा मानना पडेगा कि किसी-न-किसी रूपमे दूधमे दही पहिलेसे ही था। इसी प्रकार सोनेमे कुण्डल, कटोरी, कड़ा, सब कुछ था। कार्यका अभाव नही था, वह असत् नही था, कारणमे बीजरूपसे था, सत् था। इसलिए स्थिर गुणवाले कारण द्रव्यके कार्योके उत्पाद और विनाशकी कल्पना करनेकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि धर्मी परिणामशील है, उसमे सभी अवस्थाऍ बीजरूपेण विद्यमान है, परन्तु उनका क्रमागत साक्षात्कार होता है और प्रत्येक अवस्थाके परिचायक लक्षण या गुण पृथक् होते है। जिसको कार्योका विनाश और उत्पत्ति कहा जाता है वह वस्तुतः एक अवस्थाके प्रत्यक्षका शान्त और दूसरीके प्रत्यक्षका उदय होना है। जिस प्रकार समुद्रमे एक तरग दबती और दूसरी उठती है उसी प्रकार चित्तमे वृत्तियोका

दबना और उठना होता रहता है। अवस्थाओंकी क्रमिक अभि-व्यक्तिको विकास भी कह सकते है।

२. निमित्ताधिकरण

ऊपरके अधिकरणमे हम जिस प्रकारके कारणके सम्बन्धमे विचार करते रहे है उसको उपादान कारण कहते है। उपादान वह कारण है जिससे या जिसमेसे कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे, दहीका उपादान कारण दूध, कुण्डलका सोना, घड़ेका मिट्टी है। परन्तु अकेले उपादान कारणसे ही काम नही चलता। कोई-न-कोई ऐसी बाहरी वस्तु चाहिये जो उपादानमेसे कार्यको उत्पन्न करे या उत्पन्न होनेमे सहायता दे। कुण्डल तब बनता है जब सोनार सोनेको गढ़ता है, कुम्हारके बिना घड़ा नही बनता। ऐसी उत्पत्ति-साधक वस्तुको निमित्त कारण कहते है। हम यह दिखला आये है कि जिसको उपादान कारण कहते है उसमे-से असत् कार्यकी, ऐसे कार्यकी जो उसमे पहिलेसे विद्यमान न रहा हो, उत्पत्ति नही हो सकती। इसी प्रकार यह भी सरलतासे समझमे आ सकता है कि जिसे निमित्त कारण कहते है वह भी असत्कार्यको उत्पन्न नही कर सकता अन्यथा ग्वाला सोनेमेसे दही और सोनार दूधमेसे कुण्डल बना देगा। पर ऐसा नही होता। इसलिए यह स्पष्ट है कि हम व्यवहारमे कारण शब्दका सुभीतेके लिए भले ही प्रयोग करे, परन्तु जो पहिलेसे नही है उसकी कार्य-रूपसे उत्पत्ति नही हो सकती। उपादान वह धर्मी है जिसमे सभी धर्म विद्यमान होते है। जब वह प्रकट होते है तब हम उनको कार्य कहा करते है। निमित्त स्वय किसी प्रागभावयुक्त वस्तुको उत्पन्न नही करता; वह धर्मीको एक धर्मसे दूसरे धर्ममे परिणत होनेमे सहायता देता है। वह ऐसी परिस्थिति एकत्र करता है जिसमे वाञ्छित धर्मपरिणाम हो सके। मिट्टीमे घड़ा, कटोरी, दिया, हॉड़ी, खपरैल सभी बीजरूपसे है। कुम्हाररूपी निमित्त उसको इनमेसे किसी एक धर्ममे या बारी-बारी अनेक धर्मोमे परिणत होनेमे सहायता देता है। यदि वह न होता तब भी मिट्टी

परिणत होती रहती। वायु, वृष्टि, आतप निमित्त बनकर उसको ठीकरा, ढेला, कीचड़, धूल जैसे धर्मोमे, जो सभी उसमे पहिलेसे ही विद्यमान है, परिणत बनाते। अविद्यमान धर्मको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य निमित्तमे नही होती। हवा-पानी सोनेको कीचड़ नही बना सकते। निमित्तका काम वही है जो खेत सीचते समय कृषक करता है। जल ऊँचेसे नीची भूमिकी ओर बहता है। यह उसका अपना स्वभाव है। किसान इधर-उधर मेड काटकर उसको अपनी इच्छित दिशामे ले जाता है पर उसके स्वभावके प्रतिकूल दिशामे नही ले जा सकता। यदि पानी ऊँचेपर था तो किसी-न-किसी नीची दिशामे बहता। उन सब दिशाओमे बहना उसके भीतर निहित था। कृषक इनमेसे किसी एक दिशामे बहनेमे सहायक हुआ।

३. दिगधिकरण

प्रत्येक धर्मपरिणाम एक दृग्विषय, एक घटना है। अधिकाश घटनाएँ किसी-न-किसी 'जगह' होती है। परीक्षणसे प्रतीत होता है कि इन्द्रियग्राह्य धर्मियोंके सभी धर्मोका यह लक्षण है कि वह जगह घेरते है। ऐसी भी जगहे है जहॉ कोई घटना नहीं हो रही है, जो रिक्त है, परन्तु हमको ऐसा विश्वास है कि वहॉ कोई घटना घट सकती है। घटना न सही, परन्तु घटनाकी सम्भावना जगहमात्रमे है। जगहोके समुच्चयको आकाश या दिक् कहते है। दिक् वह है जो घटनाओको अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोको अवकाश देता है, जिसमे इनके सब धर्मपरिणाम होते है। ऐसे सभी दृग्विषय दिक्मे होते है, इसलिए इनमे सम्बन्ध प्रतीत होते है। वह सम्बन्ध वस्तुओ अर्थात् धर्म-विशेषयुक्त धर्मियोके नही प्रत्युत दिक्के धर्म और लक्षण है। यदि हम दस-बीस वस्तुओको एक डोरपर लटका दे तो वह एक-दूसरीसे सम्बद्ध देख पडेगी, पर यह सम्बन्ध उनके सहज स्वभावके कारण नही है। उसका हेतु डोरमे है। कोई किसीके दाहिने, कोई बाये, कोई ऊपर, कोई नीचे होगी। डोरकी गतिके अनु-सार उनमे गति होगी, एक-दूसरीकी ओर आकृष्ट होती-सी प्रतीत होगी; एक

दूसरीकी ओरसे प्रतिक्षित होती देख पड़ेगी। यदि डोर और उसके अंशोकी चाल किसी विशेष तालके अनुसार होती है तो उसपर लटकी हुई वस्तुओं-की चालमे भी यह ताल अनुगत होगा। यह दृष्टान्त दिक् और तत्रस्थ वस्तुओंके अनुषङ्गका निदर्शन हो सकता है। वस्तुऍ सब दिक्मे है इसलिए सम्बद्ध है। इस कहनेका तात्पर्य यह नही है कि रासायनिक सङ्घटन और विघटन जैसी क्रियाओका कारण दिक्मे अवस्थान है। परन्तु भौतिक पिण्डोका इतरेतराकर्षण तथा वस्तुओके वह लक्षण, जिनका अध्ययन रेखागणित तथा तन्मूलक दूसरे गणिताङ्गोमे होता है, सम्भवतः दिक्-हेतुक है। इसके साथ ही यह न भूलना चाहिये कि लटकी हुई वस्तुओका डोरकी गतिविधि, तनाव और आकृतिपर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार दिग्वर्ती पिण्ड दिक्मे भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते है। वस्तुयुक्त आकाश और वस्तुशून्य आकाशके लक्षणोमे भेद होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

हमको दिक्मे तीन दिशाओकी प्रतीति होती है। समतलमे एक-दूसरेको समकोणपर काटनेवाली दो दिशाऍ है और तीसरी इन दोनोको समकोणपर काटती है। भौगोलिक शब्दोमे इनको पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और उपर-नीचे कह सकते है। परन्तु दिशाऍ वस्तुगत नही वरन् बुद्धि-निर्माण है। हमको वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। हम उसके लक्षणोमे लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई पाते है। अतः बुद्धिको दिक्मे तीन दिशाऍ प्रतीत होती है। लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाईका परिचय हमको उसपर अपनी ऑगुलियोको चलाकर या उसको देखनेके लिए सिरको चलाकर होता है। पॉवोसे चलपर भी हमको तीन दिशाऍ मिलती है। यदि हममे चलना, गति, न हो तो हमको दिशाओकी प्रतीति न हो। चलना शरीरनिर्माण-का परिणाम है। हमारे शरीरोका विकास इस ढङ्गसे हुआ है कि वह तीन दिशाओमे चल सकते है, इसलिए उनसे आये हुए अनुभवोके आधारपर बुद्धिको तीन दिशाओकी प्रतीति होती है। जैसा विकास शरीर-का होता है उसके अनुरूप ही चित्तका विकास होता है, अन्यथा चित्त

और शरीरका असामञ्जस्य हो जायगा। इस दशामे प्राणीका जीवन, जो देह और चित्तके योगका हेतु और परिणाम है, असम्भव हो जायगा। परन्तु यदि किसी प्राणीके शरीरकी बनावट ऐसी हो कि वह दो ही दिशाओमे हिल सकता हो तो उसके लिए दिक्‌मे दो ही दिशाएँ होगी। यदि कोई वस्तु हमारी उस दिशामे चले जिसमे उस प्राणीका शरीर नहीं हिल सकता तो उसके लिए वह अन्तर्द्धान हो जायगी। इसी प्रकार किसीके लिए दिक्‌मे एक दिशा भी हो सकती है। इससे हम यह तर्कणा कर सकते है कि दिक्‌मे चार और चारसे अधिक दिशाओकी प्रतीति भी सम्भव है। यह पृथक् प्रश्न है कि तीनसे कम या तीनसे अधिक दिशाओ-की गतिवाले प्राणी है या नहीं। यदि है तो उनकी अनुभूतियाँ हमसे भिन्न प्रकारकी होगी। वस्तुतः दिक् एक और अखण्ड है। वह सर्व-व्यापक है अर्थात् सब इन्द्रियग्राह्य विषयोमे ओत-प्रोत है, उनके भीतर और बाहर व्याप्त है। हमारे शरीरके बाहर है, शरीरके एक-एक परमाणुके भीतर और बाहर है। सब वस्तुएँ उसमे और वह सब वस्तुओमे है। हम उसके स्वरूपका सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते। जो आशिक ग्रहण होता है तदनुसार दिशाओकी कल्पना करते है।

दिग्गत अनुभव स्वभावतः सापेक्ष है। स्थान-परिवर्तन दाहिने-बाये, ऊपर-नीचेको उलट देता है। दिक्‌मे स्वय कोई स्थिर बिन्दु नही है। किसी बिन्दुको स्थिर मानकर ही दूसरे बिन्दुओकी दिशाओका निर्देश किया जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध गति भी किसी स्थिर और निश्चल बिन्दुकी अपेक्षासे ही नापी जा सकती है। परन्तु हम जिस पृथिवीपर है वह चल है। उसके साथ हम भी चल रहे है। चल बिन्दुसे गतिकी जो नाप होगी वह सापेक्ष होगी।

आकाशमे असख्य नक्षत्र और दूसरे पिण्ड स्थित है। आकाशके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेसे इनकी गतिविधिके सम्बन्धमे कई प्रकारके सिद्धान्तोका निर्माण करना पड़ता है। यह सिद्धान्त दृग्विषयोको, वस्तुओके प्रतीयमान सम्बन्धो और गतियोको, जहाँतक दिखलानेमे समर्थ

होते है वहाँतक गणितशास्त्र इनसे काम लेता है, यद्यपि बुद्धिमे इनके आधारपर विश्वका स्पष्ट चित्र नही बन पाता। गणितके यह सूत्र सम्बन्धोके प्रतीकमात्र है। इनको दिक्के लक्षणोका साकेतिक चिह्न समझना चाहिये। कोई भी लक्षण हो, वह धर्मीके स्वरूपका सम्पूर्ण वर्णन नही हो सकता। यहाँ कठिनाई यह पड़ती है कि परोक्ष दृग्विषयोकी अनुमित सत्ताके आधारपर उनके सम्बन्धोकी अनुमित सत्ताको सङ्केतों द्वारा व्यक्त करनेका गणितज्ञ प्रयत्न करता है। यह सङ्केत दिक्के विषयमे प्रमासाधनकी कोटितक नही पहुँच सकते।

हम यह कह आये है कि विश्वका वही अश दिक्मे है जो इन्द्रिय-ग्राह्य है। जो अंश किसी इन्द्रियका विषय नही है वह दिक्के बाहर है। अस्मत्की प्रतीति दिक्मे नहीं होती। सवित्, प्रत्यय, विचार, स्मृति, सकल्प जगह नही घेरते। अन्तःकरणके क्षेत्रमे हम दिक्का अतिक्रमण कर जाते है।

४. कालाधिकरण

जैसा कि हमने पिछले अधिकरणमे देखा है, विश्वके धर्मान्तर-परिणामका एक अश ऐसा है जो दिक्की परिधिके बाहर है परन्तु साराका सारा परिणाम कालावच्छिन्न होता है। जो भी परिणाम होता है वह कालकी सीमाके भीतर होता है। दिक् और कालके स्वरूपमें भेद है। दिक्की सत्ताकी अनुभूति चित्तके भीतर नही होती, परन्तु कालकी अनुभूति चित्तके भीतर भी होती है। चित्तके सब परिणाम एक साथ नही होते। परिणाम किसी प्रकारका हो—प्रमा हो, मिथ्याज्ञान हो, स्मृति हो या सङ्कल्प हो—परन्तु एक परिणामके हट जानेपर दूसरेका साक्षात्कार होता है। कभी तॉता नही टूटता, पर एक परिणामके क्षय होनेपर ही दूसरेका उदय होता है। ज्ञाताको अपने चित्तके परिणामोका जो ज्ञान होता है उसका नाम काल है। परिणामोका नैरन्तर्य कालप्रवाहका हेतु है। यदि बहुतसे विजातीय परिणाम एक-दूसरेके आगे-पीछे आते है तो हमको कालप्रवाहमे वेगका

अनुभव होता है। यदि एक-से ही परिणामोंकी लड़ी आ जाती है तो प्रवाहकी गति धीमी हो जाती है। सुषुप्तिमें कालप्रवाह रुक-सा जाता है। परिणामोंके क्षयोदयसे तद्विषयक ज्ञानका क्षयोदय होता है। ज्ञानके इस तिरोभाव-प्रादुर्भाव-क्रमसे कालमें अतीत, वर्तमान और अनागतका विभाग होता है। चित्तमें जो विकार एक बार हो चुका वह फिर नहीं लौट सकता। उसकी स्मृति हो सकती है, उसके सदृश विकार हो सकता है, परन्तु वही विकार फिर होनेका अर्थ होगा उसके पीछे चित्तमें जो संवित् और प्रत्ययादि उठे उन सबके संस्कारोंका मिट जाना। पर यह असम्भव है। इसलिए कालकी धारा पलटी नहीं जा सकती, अतीतको फिर वर्तमान नहीं बनाया जा सकता। असम्प्रज्ञात समाधिमें विश्वके सम्पूर्ण स्वरूपका ज्ञान होता है। उस अवस्थामें परिणामक्रमके अभावसे हम कालका अतिक्रमण कर जाते हैं।

मैंने कहा है कि चित्तके परिणामोंके ज्ञानका नाम काल है। चित्तके संवित् आदि परिणाम बाह्य वस्तुओंके धर्मपरिणामोंके अनुगत होते हैं। उधर इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें परिणाम होता है, इधर साथ ही चित्तमें परिणाम होता है। इन चित्तपरिणामोंका ज्ञान वास्तविक काल है। इसलिए बाहरी वस्तुओंके धर्मपरिणामों अर्थात् दृग्विषयों और घटनाओंकी प्रतीति कालमें होती है।

दिक् दृश्यका अंग है, इसलिए सभी सदृश चित्तवालोंके लिए उसकी सत्ता सदृश है। सबको उसकी समान प्रतीति होती है। इस कारण किसी एक बिन्दुको स्थिर मानकर उसके आश्रयसे अन्य बिन्दुओं और तत्रस्थ वस्तुओंका दिङ्निर्देश करना सम्भव है। परन्तु सबके चित्त पृथक् हैं, और दो व्यक्तियोंकी ज्ञानधाराएँ कभी लड़ती नहीं। इसलिए एकका काल दूसरेके कालसे भिन्न है। इसका परिणाम यह होगा कि घटनाओंका काल-निर्देश दृष्टिसापेक्ष्य होनेसे असम्भव होगा। परन्तु केवल स्थाननिर्देश घटनाको पहिचाननेके लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। 'कहाँ'के साथ 'कब' भी बतलाना चाहिये। इस कठिनाईको दूर करनेके लिए मनुष्यकी बुद्धिने

एक कृत्रिम कालका निर्माण किया है। हम सूर्य-चन्द्रको चलते देखते है। यह चलना आकाशमे होता है और हममेसे प्रत्येकके कालमे होता है। ऐसा मान लिया गया है कि कालकी मात्राओका अनुपात दूरियोके अनुपातमे होता है। ३०° या ६० कोस चलनेमे १०° या २० कोस चलनेका तिगुना काल लगता है। यह मानना हमारी कल्पना है क्योकि वास्तविक कालमे कोई ऐसी मात्रा नही होती जो नापी-तौली जा सके। कभी प्रवाहकी गति द्रुत, कभी मन्द-सी लगती है, परन्तु यह अनुभूतियॉ गणनाका विषय नही बनायी जा सकती। अस्तु, किसी वस्तुका चलना कालका प्रतीक मान लिया जाता है। अपनी सुविधाके अनुसार हम किसी तारा ग्रह या उपग्रह, घड़ीकी सुई या सूर्यकी छायाकी चालसे काम लेते है। यदि क, ख नामकी दो घटनाओके अनुभूतिकालोके बीचमे घड़ीकी सुई १के चिह्नसे २के चिह्नतक गयी और ग, घ नामकी दो घटनाओकी अनुभूतियोके बीचमे १ से ५ तक गयी, तो यह कहा जायगा कि पिछली दोनो घटनाओके बीचका काल पहिली दोनोकी अपेक्षा चौगुना है क्योकि १ से ५ तककी दूरी १ से २ तककी दूरीकी चौगुनी है। इस प्रकार लम्बाईको कालका प्रतीक मान लिया गया है। लम्बाई दिक्मे होती है इसलिए यह कृत्रिम काल जो सार्वजनिक व्यवहारमे आता है वस्तुतः दिक्मे कालकी प्रतिच्छाया या प्रतिक्षेप है। हम कालके नामसे दिक्से काम लेते है।

कालमापक दिग्वर्ती वस्तुओकी चालके एकाकार छोटे टुकडे किये जा सकते है। कला, काष्ठा, मिनिट, सेकेण्ड इस प्रकारके टुकडे है। यह सबके लिए एक-से है। परन्तु वास्तविक कालका प्रवाह एकाकार नही होता। कभी काल जल्दी भागता है, कभी पहाड़-सा हो जाता है। इसलिए हम कुछ ही पलोके स्वप्नमे ऐसी घटनाओका अनुभव कर जाते है जिनके लिए जाग्रत् अवस्थामे घण्टोकी आवश्यकता होगी। चेतनको अपनी सत्ताका जो सतत अनुभव होता रहता है उसे क्षण कहते है। अनुभवोकी यह अविच्छिन्न धारा, क्षणोका यह अटूट तॉता, कालप्रवाह है।

यह स्पष्ट है कि न तो सब व्यक्तियोंके क्षण बराबर होते हैं, न एक ही व्यक्तिके सब क्षण बराबर हो सकते हैं।

वास्तविक काल तो सापेक्ष है ही, कृत्रिम या व्यावहारिक काल भी सापेक्ष होता है। जो एकका भूतकाल है वह दूसरेका वर्तमान और तीसरेका भविष्यत् है। घटनास्थलकी ओर बढ़नेवाले और घटनास्थलकी ओरसे हटनेवालेके लिए कालक्रम एक-सा नहीं हो सकता।

ज्ञानखण्ड

पहिला अध्याय

विकल्पजाल

हम प्रथम खण्डके दूसरे अध्यायमें कह आये हैं कि निराधार शब्दमूलक ज्ञानाभासको विकल्प कहते हैं। गधेको सींग नहीं होता परन्तु 'गधेका सींग' पदको सुनकर हमको जो एक प्रकारका ज्ञान होता है वह विकल्प है। शशशृङ्ग, वन्ध्या-पुत्र, खपुष्प जैसे और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह सब बहुत ही स्थूल उदाहरण हैं। इस प्रकारकी भूलसे बचना बहुत कठिन न होना चाहिये। जो कुछ भी हो, ऐसा अज्ञान कभी-कभी और किसी-किसीको ही होता है। परन्तु विकल्पकी इतिश्री इतनेसे नहीं होती। उसका विस्तार बहुत बड़ा है और उससे सर्वथा बचनेके लिए बहुत सावधानीकी आवश्यकता होती है। इस विषयका विस्तृत विवेचन करना हमारे लिए अप्रासङ्गिक है परन्तु कुछ मुख्य भेदोंकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनपर विचार करनेसे अगले अध्यायको समझनेमें सहायता मिलेगी।

१. अभिसिद्धान्ताधिकरण

मनुष्य निरन्तर दृग्विषयोंके बीचमें रहता है, प्रत्येक भीतरी-बाहरी घटना एक दृग्विषय है। दृग्विषयोंका साक्षीमात्र बनकर रहनेसे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह दृग्विषयोंमें, विशेषतः ऐसे दृग्विषयोंमें जो नियत रूपसे एक-दूसरेके पीछे आते हैं या जो एक-दूसरेके सदृश प्रतीत होते हैं, सम्बन्ध ढूँढ़ता है। जब सम्बन्ध निश्चित रूपसे मिल जाता है तब उसे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त सत्य मानकर प्रतिपादित किया जाता है। जो उसको उपस्थित करता है उसको यह विश्वास होता है कि जगत्में

वस्तुतः ऐसा ही हो रहा है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृग्विषयोंके सम्बन्धमें जो बात समझमें आती है वह निश्चय-कोटितक नहीं पहुँची होती। ऐसा विश्वास होता है कि इसके सत्य होनेकी बहुत सम्भावना है फिर भी सिद्धान्तरूपसे माननेके पहिले और परीक्षा करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। ऐसी अवस्थामें उसको अभिसिद्धान्त कहते है। विद्याकी उन्नतिमें अभिसिद्धान्तोंसे बहुत सहायता मिलती है। विद्युत् और प्रकाशकी गति समझनेमें इस अभिसिद्धान्तसे बड़ी सहायता मिली कि दिक्‌मे एक बहुत ही सूक्ष्म गुरुत्वहीन पदार्थ सर्वत्र फैला हुआ है जो विद्युत्, प्रकाश और तापकी तरङ्गोंका माध्यम बन जाता है। इसको आकाशतत्त्व कहा गया। ज्योतिषियोंको सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, गुरु जैसे खवर्ती पिण्डोंकी गतिविधि समझनेमें इस अभिसिद्धान्तसे सहायता मिली कि यह सब पृथिवी-की, जो खमध्यमें निश्चल खड़ी है, परिक्रमा करते है। अभिसिद्धान्तको अभ्युपगत करके, उसको सत्य मानकर, यह परीक्षा की जाती है कि वह सब सप्रकरण दृग्विषयोंको समझानेमें कहाँतक समर्थ होता है। यदि वह इस परीक्षणमे निर्दोष उतरता है तो सिद्धान्तपदवीपर पहुँचता है, अन्यथा उसका परित्याग कर दिया जाता है।

यहाँतक कोई आपत्ति नहीं है। बुराई तब आती है जब प्रमादके कारण पूरा परीक्षण नहीं किया जाता और अभिसिद्धान्त झटसे सिद्धान्त मान लिया जाता है।

२. अपसिद्धान्ताधिकरण

ऐसा सिद्धान्त अपसिद्धान्त होता है। वह उन्नतिका साधक होनेके स्थानमें घोर बाधक होता है। धार्मिक विश्वासोंके क्षेत्रमें इसके बहुत-से उदाहरण मिलते है। लाखों मनुष्योंको यह विश्वास है कि हमारे चित्तमें जो कुवासनाएँ उठती है उनका प्रेरक एक दुर्दम बलवान् व्यक्ति है जिसको शैतान, इब्लीस, अह्रिमन जैसे अनेक नाम दिये गये है। लाखों मनुष्य ऐसा मानते है कि हमको जो कुछ सुख-दुःख भोगना है वह सब

ही नही वरन् हमारी बुद्धि और वासनाएँ भी एक अदृश्य और अनुल्लङ्घनीय शक्तिने नियत कर दी है। इनमे परिवर्तनकी रत्तीभर जगह नही है। इसके साथ ही यह लोग पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक मे भी विश्वास करते है। यह शङ्का इनके चित्तमे उठती ही नही कि जब भाग्य नियत है तो हमारे कामोका दायित्व उस नियत करनेवाली शक्तिपर होना चाहिये और पुरस्कार तथा दण्ड भी उसीको मिलना चाहिये। शान्तिसे विचार करनेसे अपसिद्धान्तोकी निःसारता प्रतीत हो सकती है परन्तु बहुधा मूढ़ग्राह शान्त विचार करने नही देता। जबतक सच्चा सिद्धान्त नही मिलता तबतक चित्तमे एक प्रकारकी बेचैनी रहती है और बुद्धिको श्रम करना पड़ता है। बेचैनी और श्रमसे छुटकारा पानेके लिए अपसिद्धान्तका आश्रय लिया जाता है। उसको यथार्थ मानकर जो ज्ञान होता है वह विकल्प है। शैतानका स्वरूप कैसा है, वह जीवोको क्यो छेड़ता है, उसकी कार्यशैली क्या है, वह नित्य है या अनित्य, यदि अनित्य है तो उसका अन्त क्या होगा, इत्यादि विषयोको लेकर जिस विशाल वाङ्मयका सर्जन हुआ है वह विकल्पका बहुत अच्छा उदाहरण है।

अपसिद्धान्त वैज्ञानिक उन्नतिके मार्गको बन्द कर देते है। भौतिक पदार्थोके निरीक्षण करनेसे कणाद तथा उनके अनुयायी इस निष्कर्षपर पहुँचे कि इन पदार्थोंके जो बड़े पिण्ड देख पड़ते है उनकी रचना बहुत छोटे-छोटे टुकड़ोके मिलनेसे हुई है। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि हम विभाजन करते चले जायँ तो अन्तमे हमको ऐसे छोटे टुकड़े मिलेगे जिनका विभाजन नही हो सकता। इन अविभाज्य टुकड़ोको उन्होने परमाणु नाम दिया। अभिसिद्धान्तके रूपमे परमाणुवाद सर्वथा श्लाघ्य था। परन्तु प्रगति वही रुक गयी। बहुत ही कच्चे परीक्षणके आधारपर यह मान लिया गया कि परमाणु त्रसरेणुके षष्ठांशके बराबर होता है। यहाँ पहुँचकर यह अभिसिद्धान्त अपसिद्धान्त बन गया। यदि अधिक परीक्षण किया जाता तो यह बात ज्ञात हो जाती कि जो त्रसरेणु नाम गर्दके उन उड़ते हुए कणोको दिया जाता है जो सूर्यकी रश्मियोमे देख

पड़ जाते है उसके अभिधेयका कोई निश्चित आयतन नहीं है। सब त्रसरेणु एक नापके नही होते। जहाँ जैसी मिट्टी होगी वहाँ वैसे त्रसरेणु होगे। फिर परमाणुका आयतन त्रसरेणुका शतांश मान लिया जाय तब भी अविभाज्य नहीं है। रसायनशास्त्र इनसे कई गुना छोटे टुकड़ोंसे काम लेता है। परमाणुओंके सम्बन्धमे जो विस्तृत वाङ्मय लिखा गया है वह सब विकल्पमय है।

३. चिन्त्यास्तित्वाधिकरण

बहुतसे विकल्पोंके मूलमे यह भ्रान्त धारणा है कि जो चिन्त्य है उसका अस्तित्व है। प्रौढ मनुष्योंके विचार मुख्यतः भाषात्मक होते हैं। सोचते समय हम मन ही मनमे बोलते हैं। इसलिए जो चिन्त्य है वह अभिधेय है, उसका कोई नाम है, उसका व्यञ्जक कोई-न-कोई शब्द है। हम यह मान बैठे है कि शब्द और अर्थका ऐसा अविच्छेद्य सम्बन्ध है कि जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ निःसन्देह होगा। इसलिए जब चिन्तना की जा सकती है, जब शब्द प्रयोग किया जा सकता है, तब उस शब्दा-वलिका सहवर्ती अर्थ भी होना ही चाहिये। यह धारणा भ्रान्त है, अन्यथा गर्दभशृङ्ग और वन्ध्यापुत्रका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। परन्तु विचार करनेसे देख पड़ता है कि न केवल जनसाधारण प्रत्युत विद्वानोंके भी ज्ञानके कुछ अंशका आधार केवल इतना ही है।

शब्द किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं है। पीढियोंसे लोग उनको बोलते आये है इसलिए, व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, प्रत्येक शब्द अपने साथ बहुत-सा अव्यक्त अर्थ बटोर लाया है। इस प्रकारके अर्थको ध्वनि कहते हैं। जो शब्द न्यूनाधिक समानार्थक होते हैं उनमें भी प्रायः ध्वनिभेद होता है, इसलिए बहुधा एक शब्दकी जगह दूसरा नहीं ले सकता। जिस स्त्रीसे किसी पुरुषका विवाह होता है उसको सहधर्मिणी, पत्नी, जाया या कलत्र कह सकते है। यह सब शब्द किसी एक ही प्राणी-का बोध भले ही कराये परन्तु इनमे सूक्ष्म अर्थभेद है। प्रत्येक शब्दके

अनुकूल ज्ञान होगा। यदि किसी स्त्रीमे सहधर्मिणीके लक्षण नहीं हैं तो उसके लिए इस शब्दका प्रयोग करनेसे जो ज्ञान होगा वह या तो मिथ्या ज्ञान होगा या विकल्प। प्राणके सम्बन्धमे हम प्रथम खण्डके छठे अध्यायमे विचार कर आये है। प्राचीन कालसे ही इसका प्रयोग श्वास-प्रश्वासके लिए भी होता आया है। इस अर्थव्यभिचारने बड़ा अनर्थ ढाया है। प्राण-को हवा मानकर विशाल साहित्यकी रचना हुई है जो विकल्पसे भरी पड़ी है। विद्वान् लोग इस बातका प्रयत्न करते है कि ऐसे पारिभाषिक शब्दोसे काम ले जो बोलचालमे प्रयुक्त न होते हो, क्योकि प्रचलित शब्द अपने पुराने अर्थको छोड़ नही सकते और कुछ-न-कुछ विकल्प उत्पन्न किये बिना नही रहते। परन्तु भाषाके घेरेसे बाहर जाना कठिन होता है, सब जगह क, ख, ग जैसे चिह्नोसे काम लेना सम्भव नही होता, इसलिए विकल्पकी सम्भावना रह जाती है। विज्ञानके इतिहाससे इसके कई उदा-हरण मिल सकते है।

४. अलीकसर्जनाधिकरण

सिद्धान्त, अभिसिद्धान्त और अपसिद्धान्तका आदर इसलिए किया जाता है कि वह सच समझे जाते है। भले ही भ्रान्त ज्ञान हो पर कोई जान-बूझकर असत्यको सिद्धान्त नही बनाता। जो बाते चिन्त्य है उनमेसे कुछ अवस्तु हो, पर जो उन सबको सत्य मानता है वह जान-बूझकर प्रतारणा नही करता। उसको ऐसा ही विश्वास है कि जो चिन्त्य है वह सत्य है। यह उसकी दुर्बलता है कि प्रमाणोसे उचित रूपसे काम नही लेता। परन्तु कुछ अवसरोपर बुद्धि जानकर अलीकसर्जन करती है, ऐसे निर्माण करती है जिनको वह असत्य जानती है। जबतक यह ज्ञान बना रहता है तबतक तो कोई हानि नही होती, पर जब यह बात भूल जाती है और यह अलीक सत्य मान लिये जाते है उस समय इनसे विकल्प मिलनेकी आशङ्का उत्पन्न हो जाती है। अलीकोसे कई क्षेत्रोमे काम लिया जाता है; कुछ क्षेत्रोमे इनके प्रयोगसे ज्ञानकी वृद्धिमे बड़ी सहायता मिली है। हम कुछ उदाहरणोसे अलीकोंका स्थान स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेगे।

(क) गणितमें अलीकोपयोग

गणितमें अलीकोसे बहुत काम लिया जाता है। यह बात सुननेमें आश्चर्यकी प्रतीत होती है कि झूठ सत्य कैसे मिल सकता है परन्तु यदि जितना झूठ मिलाया जाय उतना ही पीछेसे निकाल लिया जाय तो वस्तु-स्थितिमें कोई अन्तर न पड़ना चाहिये। बच्चे एक खेल करते हैं; तुम अपने मनमें कुछ रुपया लो, उतना ही किसी मित्रसे लो और एक नियत रकम हमसे लो। कुल जोड़कर आधा दान कर दो और मित्रका रुपया लौटा दो, हम बतला देंगे कि तुम्हारे पास क्या बचा है। इसे यों समझिये। मान लीजिये क रुपये मनमें लिये गये; उतने ही मित्रसे मिले और खेल दिखानेवाले बालकने अपनी ओरसे ख रुपये दिये। अब दूसरे बालकके पास कुल क + क + ख = २क + ख रुपये हुए। इसका आधा दान करनेपर क + $\frac{ख}{२}$ बचा। मित्रका रुपया लौटाने पर $\frac{ख}{२}$ बचेगा, अर्थात् जो उस बालक-ने अपनी ओरसे दिया था उसका आधा बच रहेगा, इसलिए वह झटसे बता सकता है कि क्या बचा। असली रुपया दानमें उठ गया और मित्रका लौटा दिया गया। यह तो खेलकी बात हुई परन्तु और गम्भीर समस्याओंमें भी इस प्रकारकी प्रक्रियासे काम लिया जाता है। वर्गसमी-करणके विमर्शकी जो पद्धति श्रीधराचार्यने निकाली थी वह इसीपर निर्भर है।

$$क अ^२ + ख अ = ग$$

एक वर्गसमीकरण है; इसमें क, ख और ग ज्ञात संख्याएँ हैं। अ अज्ञात है। उसीको जानना है। इस प्रकारके प्रश्नके सामने तर्कसे काम नहीं चलता, पर बुद्धि हार नहीं मानती। वह चालाकीसे एक उपाय ढूँढ़ निकालती है। श्रीधराचार्य पहिले दोनों ओर क से भाग देते हैं। इससे कोई अन्तर नहीं पडता और यह रूप हो जाता है—

$$अ^2 + \frac{ख}{क} अ = \frac{ग}{क}$$

फिर बायीं ओर $\frac{ख^2}{४क^2}$ जोड़ा गया। इससे यह बाँया भाग पूरा वर्ग हो गया। अब $अ^2 + \frac{ख}{क}अ + \frac{ख^2}{४क^2}$ को $(अ + \frac{ख}{२क})^2$ लिख सकते हैं। यह तो हुआ, पर $\frac{ख^2}{४क^2}$ जोड़नेसे समीकरण बिगड़ गया। इसलिए उतना ही दाहिनी ओर जोड़ दिया, जिसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि न कुछ जोड़ा गया न घटाया गया। अब नया रूप यह हो गया—

$$(अ + \frac{ख}{२क})^2 = \frac{ख^2}{४क^2} + \frac{ग}{क} = \frac{ख^2 + ४ग क}{४क^2}$$

दोनो ओरका वर्गमूल निकालनेसे

$$अ + \frac{ख}{२क} = \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४ ग क}}{\sqrt{४ क^2}} = \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४ ग क}}{२ क}$$

अब दोनो ओर से $\frac{ख}{२क}$ घटा दिया जाय तो भी कुछ अन्तर न पड़ेगा, अतः

$$अ = \frac{-ख}{२क} \frac{\pm\sqrt{ख^2 + ४ ग क}}{२ क} = \frac{-ख \pm\sqrt{ख^2 + ४ ग क}}{२ क}$$

इस प्रकार अज्ञात अ निकल आया। जितने भी वर्गसमीकरण हों सबके उत्तर ऊपरके सूत्र द्वारा निकाले जा सकते है।

एक और उदाहरण लीजिये। इसमे अलीकका प्रयोग और खुलकर किया गया है। हमको खेतो या दूसरे समतलोके क्षेत्रफल नापनेकी बार-बार आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए हमने वर्ग इञ्च, बिस्वा,

बीघा जैसे माप बना रखे हैं। यदि लकड़ीका ऐसा टुकड़ा लिया जाय जो एक इञ्च लम्बा और एक इञ्च चौड़ा हो तो उसके क्षेत्रफल को एक वर्ग इञ्च कहेंगे और उससे दूसरी वस्तुओंके क्षेत्रफलोंको नापेंगे। परन्तु यह नापनेका काम सुगमतासे वहीं हो सकता है जहाँ वस्तुकी सीमाओंपर सरल रेखाएँ हो। गोली वस्तुमें यह नाप ठीक-ठीक नहीं बैठती। गणितके सामने प्रश्न यह था कि गोलाईका क्षेत्रफल कैसे नापा जाय। इसके पहिले गोलाईकी परिधि नापनेमें भी कठिनाई पड़ती थी, क्योंकि गोल रेखाको इञ्च आदिसे नापना सुकर नहीं होता। विशेष युक्तियोंसे यह परिणाम निकला था कि यदि गोलेका व्यासार्द्ध व हो तो उसकी परिधिकी लम्बाई २πव होगी (π = ३·१४१५···)। अब क्षेत्रफल नापनेमें फिर विशेष युक्तियोंकी आवश्यकता पड़ी। हम ऐसी युक्तियोंका स्वरूप उदाहरण द्वारा समझाते हैं।
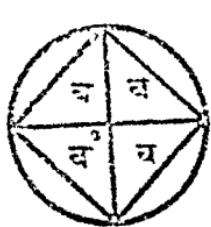
विद्वानोंने गोलाईके भीतर कई त्रिभुज बनाये। प्रत्येक त्रिभुजकी दो भुजाएँ तो व्यासार्द्ध व के बराबर होंगी, परन्तु तीसरी भुजाकी लम्बाई त्रिभुजोंकी संख्यापर निर्भर करेगी। हमने ऊपर दो चित्र दिये हैं, एकमें चार त्रिभुज हैं, दूसरेमें आठ। पहिले चित्रमें तीसरी भुजा दूसरीसे बड़ी है, उसके सामनेका चाप भी बड़ा है। पहिला चाप कुल परिधिका चतुर्थांश है, दूसरा अष्टमांश। अब यदि हम इन त्रिभुजोंका क्षेत्रफल निकालें तो उनका जोड़ गोलेके क्षेत्रफलसे कम होगा क्योंकि चारों ओर कुछ भाग छूट जायगा। हम यह भी देखते हैं कि ज्यों-ज्यों त्रिभुजोंकी संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनकी तीसरी भुजा पासवाले चापके

बराबर होती जाती है और क्षेत्रका छूटा हुआ अंश कम होता जाता है। यदि दस-बीस लाख त्रिभुज बनाये जायँ तो उनके क्षेत्रफलोंका जोड़ गोलेके क्षेत्रफलसे कुछ ही कम होगा और उनकी तृतीय भुजा और पासके चापकी लम्बाईमें बहुत ही कम अन्तर होगा। गणितज्ञ ऐसा मान लेता है कि त्रिभुजका आधारभुज सचमुच लम्बाईमें चापकी लम्बाईके बराबर है। यह बात अलीक है। त्रिभुजोकी संख्या चाहे जितनी बढ़ायी जाय, परन्तु आधारभुज और चापकी लम्बाईमे कुछ-न-कुछ अन्तर रहेगा ही और त्रिभुजोका सम्मिलित क्षेत्रफल गोलेके क्षेत्रफलसे सदैव कुछ-न-कुछ कम रह जायगा। परन्तु व्यवहारमे यह अन्तर बहुत कम होगा। कुछ देरके लिए इसे भुलाया जा सकता है। यदि त्रिभुजोंकी संख्या स हो तो परिधिके भी स टुकड़े हो जायँगे अतः प्रत्येक चापकी लम्बाई $\frac{२ \pi व}{स}$ होगी।

यदि उसकी ज्या अर्थात् उसके ऊपरके त्रिभुजके आधारभुजकी लम्बाई भी यही मान ली जाय तो प्रत्येक त्रिभुजका क्षेत्रफल

$$\frac{\pi व^२\sqrt{स^२-\pi^२}}{स^२} \text{ होगा।}$$

अतः सब त्रिभुजोका सम्मिलित क्षेत्रफल इनका स गुना अर्थात्

$$\frac{स \times \pi व^२\sqrt{स^२-\pi^२}}{स^२} = \frac{\pi व^२\sqrt{स^२-\pi^२}}{स} \text{ हुआ।}$$

इसको यो भी लिख सकते है—

$$\pi व^२\sqrt{\frac{स^२-\pi^२}{स^२}} \text{ या } \pi व^२\sqrt{१-\frac{\pi^२}{स^२}}$$

π की मात्रा नियत है, $\pi^२$ दससे कुछ कम पड़ता है। ज्यो-ज्यो त्रिभुजोंकी संख्या अर्थात् स में वृद्धि होती जायगी, त्यो-त्यो $स^२$ बढ़ता जायगा और $\frac{\pi^२}{स^२}$ घटता जायगा। ज्यो-ज्यो स अनन्तप्राय बड़ा होगा

त्यों-त्यो $\frac{\pi^2}{स^2}$ अनन्तप्राय छोटा होगा। जब त्रिभुजोकी संख्या असंख्य हो जायगी अर्थात् स बढकर अनन्त हो जायगा उस समय $\frac{\pi^2}{स^2}$ घटकर ० हो जायगा। उस समय $\sqrt{1-\frac{\pi^2}{स^2}}$ का $\sqrt{1}$ अर्थात् १ रह जायगा और त्रिभुजोके क्षेत्रफलोका जोड़ $\pi व^2\sqrt{1-\frac{\pi^2}{स^2}}$ उस अवस्थामे $\pi व^2$ के बराबर हो जायगा। पर हम यह देख चुके है कि ज्यो-ज्यो स बढ़ेगा त्यों-त्यो त्रिभुजोके सम्मिलित क्षेत्रफल और गोलेके क्षेत्रफलका अन्तर घटेगा। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि जिस समय स अनन्त हो जायगा उस समय दोनोके क्षेत्रफलोका अन्तर शून्य हो जायगा। अतः हमको यह सूत्र मिलता है कि यदि किसी गोलेका व्यासार्द्ध व हो तो उसका क्षेत्रफल $\pi व^2$ होगा। यह सूत्र सत्यप्राय, व्यवहारमे सत्य, है क्योकि गगनचारी पिण्डोकी गतियोकी गणनामे, घरोंके बनानेमे, यन्त्रोके निर्माणमे इसकी बराबर परीक्षा होती रहती है, पर इसकी उपलब्धि अलीक धारणाओके आधारपर हुई है।

बिन्दुकी परिभाषाके अनुसार उसमे न लम्बाई होती है, न चौड़ाई, न मोटाई; रेखामे न चौड़ाई होती है न मोटाई। जगत्मे न कही ऐसा बिन्दु होता है, न ऐसी रेखा होती है। चाहे जैसा छोटा बिन्दु बनाया जाय, चाहे जैसी पतली रेखा खीची जाय, पर कुछ-न-कुछ परिमाण होगा, तीनो दिशाओमे कुछ-न-कुछ फैलाव होगा। परन्तु गणितज्ञ वस्तुओका विचार नही करता। वह वस्तुओका विचार दूसरे शास्त्रोंके लिए छोड़ता है और स्वय उनके व्यक्तित्वके केवल एक अंशपर दृष्टि डालता है। यह पार्थक्य अलीक है। जैसे बिना लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई-के वस्तु नही हो सकती वैसे ही वस्तुसे पृथक् लम्बाई, चौड़ाई भी नही हो सकती। फिर भी गणितज्ञ वस्तुविरहित मापोको अपना विषय बनाता

है। फिर वह जिन परिणामोपर पहुँचता है, ज्यामिति और त्रिकोणमिति जैसे शास्त्रोमे जो सिद्धान्त स्थापित करता है, यह व्यवहारमे वस्तुओपर लागू होते है और व्यवहारमे ठीक उतरते है। दो चार दस वस्तुएँ होती है, बिना वस्तुओके अकेले संख्याका कोई अस्तित्व नही है, परन्तु अङ्कगणितमे केवल संख्याओको विषय बनाया जाता है और बीजगणित तो संख्याओको हटाकर उनकी जगह अक्षरोसे काम लेता है। व्यवहारमे अङ्कगणित और बीजगणितके सिद्धान्त उपयोगी पाये जाते है। इस प्रकार गणित असत्तावानोकी सहायता लेकर सत्तावानोके विषयमे ज्ञानोपार्जन करता है। कई प्रतीक तो ऐसे है जिनका कुछ ठीक अर्थ ही नही होता। $\sqrt{-१}$ का कोई अर्थ नही होता, किसी भी ऋणात्मक संख्याका वर्गमूल नही निकल सकता, परन्तु गणितमे इस संख्यासे बहुत काम लिया जाता है।

गणितमे ऐसे प्रयोग सर्वथा वैध है। साधारण मनुष्य चाहे न भी जानता हो परन्तु गणितका प्रत्येक विद्वान् इनकी अलीकताको जानता है और जानकर काम लेता है। जिन अलीकोका समावेश किया जाता है वह अन्तिम निष्कर्षके पहले निकाल दिये जाते है और निष्कर्षकी सत्यताकी परख व्यवहारसे की जाती है। मकरध्वज बनानेमें सोना डाला जाता है। प्रत्येक वैद्य जानता है कि क्रियाके अन्तमे सोना ज्योका त्यो निकल आता है परन्तु उसको डाले बिना वह रासायनिक क्रिया सम्पन्न नही हो सकती जिसके फलस्वरूप मकरध्वज बनता है। गणितमे अलीक यही सोनेका काम करते है।

(ख) वर्गीकरणमें अलीकोपयोग

हम प्रथम खण्डमे दिखला आये है कि अध्ययनके लिए वस्तुओका वर्गीकरण करना पड़ता है। यदि वर्गोमे न बॉटा जाय तो वस्तुओके जङ्गलसे पार पाना कठिन हो जाय। वर्गीकरणका आधार उन वस्तुओके कोई विशेष लक्षण ही हो सकते है। कुछ लक्षणोको चुनकर हम शेषको छोड देते है। यदि सब लक्षणोंको लिया जाय तो वर्गीकरण हो ही नही

सकता, क्योंकि किन्हीं भी दो वस्तुओंके सब लक्षण एक-दूसरेसे पूर्णतया नहीं मिलते। प्रत्येक वस्तु अपना व्यक्तित्व रखती है। एक लक्षणको लेकर जो व्यक्ति एक वर्गमें पड़ेगा वही व्यक्ति दूसरे लक्षणके आधारपर दूसरे वर्गमें डाला जा सकता है। जो भारतमें जन्म लेनेके नाते भारतीय है वह रङ्गके नाते गोरा, सम्प्रदायके नाते ईसाई, व्यवसायके नाते वकील आदि हो सकता है। जो लोग एक दृष्टिसे एक ही वर्गमें है वह किसी दूसरी दृष्टिसे दूसरे-दूसरे वर्गोंमें देख पड़ते हैं। यह वर्गभेद सुभीतेके लिए किया जाता है परन्तु है कृत्रिम। वस्तुतः प्रकृतिमें ऐसा बँटवारा नहीं है। इसको अलीक जानते हुए काम लेना वैध है परन्तु डर इस बातका रहता है कि यह वर्गभेद नित्य और सत्य मान लिये जायँगे। उस दशामें विकल्प होगा। सामान्योंके सम्बन्धमें हम प्रथम खण्डमें विचार कर चुके हैं। उनकी सत्ताको अलीक मानते हुए यदि उनके व्याजसे वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया जाय तब तो कोई क्षति नहीं है, परन्तु बहुतसे विद्वान् भी इस भूलमें पड़ जाते हैं कि सामान्योंकी स्वतन्त्र सत्ता है। यह भूल बहुतसे विकल्प उत्पन्न करती है।

(ग) समाधि-भाषामें अलीक

योगी लोग अपने अनुभवोंको जैसी भाषामें व्यक्त करते हैं उसे समाधि-भाषा कहते हैं। इस स्थलपर हम इस बातपर विचार नहीं करना चाहते कि योगीके अनुभव कहाँतक विश्वसनीय होते हैं। इस सम्बन्धमें प्रथम खण्डके छठे अध्यायमें जो लिखा जा चुका है वह पर्याप्त है। मैं स्वयं योगानुभवको सत्य मानता हूँ। इस प्रकरणके लिए इतना ही पर्याप्त है कि योगी इसको यथार्थ मानता है। परन्तु वह उसको ज्योंका त्यों शब्दोंमें व्यक्त नहीं करता। कुछ तो ऐसा करना उसके लिए असम्भव होता है। शब्दोंके द्वारा वही बातें व्यक्त की जा सकती हैं जो किसी-न-किसी रूपमें श्रोता और वक्ता दोनोंके अनुभवका विषय हो या रही हो। मैंने कुत्तोंसे खिंचती गाड़ी नहीं देखी है पर कुत्ते देखे हैं, गाड़ियाँ देखी हैं, पशुओंसे उनको खिंचते देखा है। इसलिए यदि कोई मुझसे

रूसकी स्ले नामकी कुत्ते जुती हुई गाड़ियोंका वर्णन करे तो उसकी बात समझ सकता हूँ। परन्तु जिसने शक्कर न खायी हो और कोई दूसरी मीठी वस्तु भी न खायी हो उसे मीठापन नही समझाया जा सकता। योगियोको साधारण लोगोके सामने अपने अनुभवोंको व्यक्त करनेमे कुछ ऐसी ही कठिनाई होती है। दूसरी कठिनाई यह होती है कि अतर्क्य विषय स्वसंवेद्य होते है, उनका वर्णन नही किया जा सकता। वात्सल्य, पातिव्रत, सौन्दर्य वाणीकी पहुँचके बाहर है। जो लोग इनका समान रूपसे अनुभव करते है वह भी केवल नामसे निर्देश करते है, विस्तारसे एक-दूसरेको भी समझा नहीं सकते। तीसरी बात यह है कि कई कारणोसे योगी लोग कुछ बातोंको गुप्त रखना चाहते है। उनका प्रयत्न यह होता है कि हम जो कहें उसका अर्थ अधिकारी तो समझ ले, दूसरे न समझें! इन सब कारणोसे वह सीधी भाषा न लिखकर ऐसी भाषा लिखते या बोलते हैं जिसका अर्थ जल्दी समझमें नही आता या यो कहिये कि जो अर्थ समझमे आता है वह उसका वास्तविक तात्पर्य नही होता। कही उपमाओ और लक्षणाओसे काम लिया जाता है, कहीं प्रतिपादनको कथाका, कहीं कथोपकथनका रूप दिया जाता है। सभी धर्मोंके श्रुति-ग्रन्थ, जैसे वेद, कुरान, बाइबिल, अवेस्ता, ऐसे स्थलोसे भरे पड़े हैं। इनकी मीमासा करनेके लिए बड़ी सतर्कता चाहिये। सत्यको प्रकट करनेके लिए वक्ताको अर्थ-वाद, कल्पित कहानी, उपमा जैसी अनेक अलीक बातोंकी सृष्टि करनी पड़ी है। जबतक हम इन अलीकोको पहिचानकर और इनके आवरणको हटाकर अर्थको ढूँढ़ते है तबतक तो ठीक है, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि लोग अलीकोको सत्य मान लेते है। फिर किसी निहित अर्थको ढूँढ़नेका प्रश्न ही नहीं उठता। दुर्गासप्तशती इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। उसके तीनो रहस्योमें तीन कथाएँ है। इनमे वस्तुतः मधुप्रतीक[1] साधककी अवस्था, शरीरके सब बाहरी भागो तथा इन्द्रियोसे खींचकर

१. योगशास्त्रकी परिभाषामें योगियोंके उत्तरोत्तर चार वर्ग होते हैं। इनमेसे दूसरेको मधुप्रतीक कहते हैं।

जगायी हुई प्राणशक्ति द्वारा साधकके तमोगुण और रजोगुणसे मिले हुए अधम स्वका निधन, साधकका दुर्दम वासनाओंसे युद्ध और अन्तमें परविद्याके हाथों अस्मिता और अविद्याका संहार, इन सब योगानुभवोंका वर्णन है। परन्तु इस अर्थतक कोई विरला ही पहुँचता है। साधारणतः सोये हुए विष्णुके कानकी खूँटसे दो असुरोंके उत्पन्न होने और उनकी मृत्युकी कहानी, भैंसे जैसे सिरवाले असुरके मारे जानेकी कहानी और रक्तकी बूँदसे उत्पन्न होनेवाले असुर तथा दूसरे कई बलवान् असुरोंके मारे जानेकी कहानी—बस कहानियोंका संग्रह देख पड़ता है। योगचर्चासे शान्त रस दीप्त होना चाहिये, यह पोथी बीभत्स रस जगाती है। जो लोग इन कहानियोंको ऐतिहासिक घटना मान बैठे हैं तथा जो लोग इन्हें बे-सिर-पैरकी भोंडी कल्पना मानते हैं, दोनों ही विकल्पके शिकार हैं।

योगियोंको ऐसी अनुभूति होती है कि इस विश्वका मूल एक अद्वय, परमसूक्ष्म, चिद्घन, परमानन्दमय तत्त्व है। उस परतत्त्वकी शक्ति, उसकी सत्ता, आद्याशक्ति या परादेवता है। सर्जन, संहार, पालन, शिक्षण, सम्मोहन, उद्बोधन, जो कुछ हो रहा है या होता प्रतीत होता है उस सबका उद्गम परतत्त्व और परादेवतामें है। अनेक दृष्टियोंसे शक्ति और शक्तिमान्‌का वर्णन किया गया है, लाक्षणिक भाषामें उनका स्वरूप समझाया गया है। इन वर्णनोंको ध्यान कहते हैं। विष्णु, रुद्र, प्रजापति, इन्द्र, काली, शाकम्भरी आदिके ध्यान तन्त्रग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। उदाहरणके लिए शक्तिका चतुर्भुज ध्यान लीजिये। तन्त्रकारका यह कहना नहीं है कि सचमुच कोई चार हाथोंवाली स्त्री जगत्‌का सञ्चालन कर रही है। ध्यानके एक हाथमें पाश देकर यह सूचित किया गया है कि वह मूल-शक्ति तमोगुणरूपा है और जीवको मोहपाशमें बाँध रखती है। दूसरे हाथका अंकुश यह बतलाता है कि वही रजोगुणस्वरूपा है। रजोगुणका लक्षण निरन्तर चञ्चलता, क्रियाशीलता है। यदि उसपर रोक न रहे तो वह भयानक अनर्थ कर दे, परन्तु संयत रजोगुण समस्त अभ्युदयकी कुञ्जी है। इसलिए हाथमें अंकुश है। तीसरे हाथका वर सत्त्वगुणका चिह्न है। सत्त्वगुणके

उदय होनेसे सब विद्याबुद्धिकी प्राप्ति होती है। यह तीनो हाथ उस शक्तिके लौकिक स्वरूपके बोधक है। चौथे हाथकी अभयमुद्रा यह इङ्गित करती है कि वह त्रिगुणातीत, अलौकिक, अभयपद, मोक्षको भी देनेवाली है। यह हो सकता है कि जिन लोगोको ऐसी अनुभूतियॉ हुई उनको भ्रान्ति-दर्शन, मिथ्याज्ञान हुआ हो, परन्तु जो लोग उनकी भाषाका ज्योंका त्यो अर्थ लगाकर ऐसा मानते है कि सचमुच विश्वका सञ्चालन अनेक सिर, ऑख और हाथवाले, अनेक पुरानी चालके हथियार लिये, काले-गोरे, लाल-पीले, नरनारीविग्रह कर रहे है वह घोर विकल्पमे पड़े हुए है।

इसी प्रकार सत्य, सदाचार, अहिसा, श्रद्धा जैसे सद्गुणोकी महत्ता और उपादेयताको आकर्षक ढङ्गसे अवगत करा देनेके लिए धर्मोपदेष्टाओं-ने कहानियोंसे काम लिया है। इनमेकी घटनाऍ कल्पित हैं, नायक-नायिका कल्पित है, पर इस अलीकरचनाका उद्देश्य स्तुत्य है। दोष तब आता है जब लोग इस बातको भूलकर इनको इतिवृत्त मान लेते है। वहॉसे विकल्प आरम्भ होता है

(घ) कलामें अलीक

कवि क्रान्तदर्शी होता है। उसका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष उच्च कोटिका होता है, इसीलिए गोप्य रखनेकी इच्छा न होते हुए भी उसको उसी प्रकारकी कठिनाइयोका सामना करना पड़ता है जो योगीके सामने आती है। बाध्य होकर उसे भी उसी प्रकारकी युक्तियोंसे काम लेना पड़ता है। कवि दृश्यमान् जगत्का चित्रमात्र नहीं खीचता, वह उसके रहस्यको भी उद्घाटित करता है और शिवेतरक्षतिके उद्देश्यको भी अपने सामने रखता है। वह धर्माचार्यकी भॉति गुरुपीठसे उपदेशात्मक शैलीसे काम नही ले सकता। वह श्रोतामे रसको उद्बुद्ध करके उसके चित्तको अनुकूल दशामे लाता है। रसको जगानेके लिए जिन विभावोकी आव-श्यकता होती है उनका उपयोग करनेके लिए वह कथा-कहानियोकी रचना करता है, नायक-नायिकाओकी सृष्टि करता है। उपमा, लक्षणा और अन्य एवंभूत उपायोसे काम लेता है; सत्य, सौन्दर्य, दया जैसे

हृद्गत भावोको मूर्त बनाता है और जड़ वस्तुओंसे चेतनवत् आचरण कराता है। जो बाते हमने कविके लिए कही है वह दूसरे कलाकारोंके लिए भी न्यूनाधिक लागू होती है। कवि जानबूझकर अलीकसर्जन करता है और सब जानते है कि वह ऐसा करता है परन्तु उसकी सफलता इस बातमे है कि श्रोता अलीकसे उत्पन्न रसधारामे इस प्रकार बह जाय कि उसको उसके उद्गमकी स्मृति भी न रहे। नाटक देखनेवाला जानता है कि अभिनेता राजा-रानी नही है, रङ्गमञ्चपर न कोई मरता है, न कोई मारता है, परन्तु कवि और नटकी कलाकी यही कसौटी है कि प्रेक्षक अपनेको भूल जायँ, यह भूल जायँ कि हम खेल देख रहे है और उतनी देरके लिए पात्रोंके साथ तदात्म हो जायँ। इस प्रकार अलीकके द्वारा कलाकार द्रष्टा और श्रोताके अधम स्वको शुद्ध करता है, उनके चित्तमे ऐसे भावोको जगाता है जो स्यात् अन्यथा उनके जीवनमे न उठते, उनके समवेदना-क्षेत्रका विस्तार कराता है और इस प्रकार उनको अर्थकाममय दैनन्दिनीसे ऊपर उठकार रहस्य, सौन्दर्य और धर्मके जगत्मे प्रविष्ट करता है।

यदि कलाकारसे अलीकप्रयोगका अधिकार छीन लिया जाय तो उसका काम असम्भव हो जाय। उसका अलीकोसे काम लेना वैध है। जब उसकी कृति ऐतिहासिक वर्णन मान ली जाती है तब उसकी उपयोगिता नष्टप्राय हो जाती है। कई प्राचीन काव्योकी इस प्रकार दुर्गति हुई है। जो लोग काव्यको काव्य न मानकर यह समझते है कि कवि विज्ञान या इतिहासकी पोथी लिखने बैठा था और उसमे ऐतिहासिक त्रुटियोको देखकर उसकी निन्दा करते है वह भी विकल्पके वशीभूत होते हैं।

पुरुषसूक्त इस बातका बहुत अच्छा निदर्शन है। उसमे आदर्श समाजका चित्र खीचा गया है। यह बतलाया गया है कि सभी देशों और सभी कालोंमे समाजका सङ्घटन किस प्रकार किया जाय कि प्रत्येक व्यक्तिका अधिकसे अधिक कल्याण हो। यह हो सकता है कि वह आदर्श किसीको ठीक न जँचे परन्तु सूक्तमे इसके सिवाय और कुछ नही है। पर

आज उसके आधारपर दोहरा विकल्प फैला हुआ है। एक ओर वह लोग है जो ऐसा मानते हैं कि सचमुच विराट्के मुँह और दूसरे अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति हुई है। यह भलेमानस इतना भी नही सोचते कि सूक्तके पहिले मन्त्रमें ही यह कहा गया है कि सब प्राणियोंके सिर विराट्के सिर है, फिर ब्राह्मणकी उत्पत्ति किस सिरसे हुई? यदि सभी सिरोंके निचोड़से हुई तो ब्राह्मणकी श्रेष्ठता कहाँ रही, उसमे शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ, सिह, वृक, शृगाल, चींटी, बिच्छू सभीके गुण-दोष पाये जायँगे। यही बात इतर वर्णोंके लिए भी लागू होगी और बेचारे म्लेच्छादिका तो नाम ही नहीं लिया गया। वह क्या विराट् शरीरके बाहर है? दूसरी ओर वह लोग है जो यह समझते है कि सूक्तकार सचमुच यह समझता था कि ब्राह्मणादि विराट्के मुखादिसे निकले है या वह जन्मगत वर्णव्यवस्थाका प्रतिपादन करके ब्राह्मणोको पुजवाना और शूद्रोंको मानव अधिकारोसे वञ्चित रखना चाहता था। यह दोनो धारणाएँ भ्रान्त है। कविको समाजका जो रूप ठीक जँचा वह उसने उपस्थित किया। उसकी समीक्षा करके स्वीकार-अस्वीकार करनेका सबको अधिकार है परन्तु उसमे जातिव्यवस्थाका मण्डन देखना और इस आधारपर उसकी प्रशंसा या निन्दा करना विकल्प या विपर्यय है।

५. चेतोव्यापाराधिकरण

व्यावहारिक जीवनमे हम कई अलीकोसे परिचित है। विधानशास्त्रमें सस्थाओंको व्यक्ति माना जाता है। राजनीतिमे राज, लोकमत, सरकार शब्दोंका व्यक्तिवाची नामो जैसा प्रयोग किया जाता है। परन्तु इनके अभिधेयोमे सत्ताका आरोप किया जाय तो वह विकल्प होगा।

यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि चित्त अलीकोकी सृष्टि क्यो करता है? यदि सत्यका ज्ञान न प्राप्त हो सके तो शान्त रहनेके स्थानमे अभि-सिद्धान्तों और अपसिद्धान्तोंकी रचना क्यो होती है? इसका उत्तर यह है कि अलीकोंकी रचना उसी लिए होती है जिस लिए अध्यवसाय और

तर्क किया जाता है और सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं। विचार करनेसे प्रतीत होता है कि इस सब चेतोव्यापारका एकमात्र प्रयोजन द्रष्टाका भोग है। चित्तकी यह सब क्रियाएँ द्रष्टाके भोगका साधन है। द्रष्टामें अनेक प्रकारकी वासनाएँ हैं। एक प्रसुप्त होती है, दूसरी उदार होती है। इन वासनाओंकी तृप्तिका नाम भोग है। भोग तब हो सकता है जब भोज्यसे सम्पर्क स्थापित हो। सम्पर्क तो इन्द्रियोंके द्वारा होता है परन्तु अकेले इन्द्रियोंसे काम नहीं चल सकता। यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि भोज्यकी परिस्थिति क्या है, उसका ग्रहण इस अवसरपर किस प्रकार किया जाय, इत्यादि। यदि यह अध्यवसायरूपी चेतोव्यापार न हो तो भोज्योंके रहते हुए भी बहुधा उनका उपभोग न हो सके। अतः चेतोव्यापार—अध्यवसाय और तर्क—भोगका साधन है। सबकी वासनाएँ एक-सी नहीं होतीं। वासनाको आशय भी कहते हैं इसलिए कोई महाशय, कोई अल्पाशय कहलाता है। किसीको तुष्टि बीघेभर भूमिसे हो जाती है, किसीके लिए वसुन्धराका साम्राज्य भी पर्याप्त नहीं होता, किसीकी दृष्टि महेन्द्रपदपर रहती है। कोई केवल अपने पेट भरनेकी सोचता है, कोई ऐश्वर्यवान् अभिजनके अर्थकाम-सम्पादनसे सुखी होता है। आशयभेदसे भोज्योंमें प्रकारभेद और उनकी मात्राओंमें तारतम्य होता है। यदि इन सब भोज्योंकी उपलब्धि होनी है तो फिर इनके सम्बन्धमें व्यापक अध्यवसाय करना आवश्यक हो जाता है। चेतोव्यापारका लक्ष्य द्रष्टाका भोगमात्र है, परन्तु भोगके लिए ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है इसलिए चेतोव्यापार ज्ञानोपार्जनका भी साधन बन जाता है। अध्यवसायसे ज्ञान और ज्ञानसे भोग होता है। जिसका ज्ञान जितना ही व्यापक होगा वह यथेष्टाचरणमें उतना ही कुशल होगा।

कभी-कभी अलीक भी सज्ज्ञानका साधन बन सकता है। इसके कई उदाहरण हम देख चुके हैं। घर बनानेमें राजगीर बाँस-लकड़ी-रस्सीसे पायट बाँधते हैं और नसेनियाँ लगाकर ऊपर चढते हैं। काम पूरा हो जानेपर नसेनियाँ फेंक दी जाती हैं और पायट तोड दिया जाता है।

यदि कोई पायटको घरका अङ्ग समझकर उसे सुरक्षित रखना चाहे तो उसे पागल कहेंगे। इसी प्रकार चित्त कभी-कभी अलीकोंसे काम लेता है। सत्यपर पहुँचकर उनको छोड़ देता है। अन्तिम निष्कर्षमें उनका कोई स्थान नहीं होता। अपसिद्धान्त ज्ञानप्राप्तिमें सहायक नहीं होते, परन्तु जिज्ञासाकी व्याकुलता उनसे भी मिट जाती है। जबतक भोगमें उनसे बाधा नहीं पड़ती तबतक उनका ग्रहण करनेसे कोई कष्ट नहीं होता। जब बाधा पड़ती है—और ऐसा कभी-न-कभी होना अवश्यम्भावी है—उस समय उनके प्रति शङ्का और फिर अविश्वास हो जाता है।

अलीकोंका व्यापक प्रयोग देखकर हमको जो व्यग्रता होती है उसका कारण यह है कि हम चित्तको ज्ञानका साधन मानते आये हैं। हमारी यह धारणा है कि चित्त यथावस्तु ज्ञान देता है और चेतोव्यापार, चित्तका परिणामक्रम, वस्तुओंके धर्म-परिणामका प्रतीक है। परन्तु ऐसा नहीं है, हो भी नहीं सकता। हमको कुछ संवित् हुए जिनके आधारपर हम यह कहते हैं कि दूधका प्रत्यक्ष हुआ। कुछ दूसरे संवित् हुए जिनको हम दहीका प्रत्यक्ष कहते हैं। दोनों संवितोंका होना निर्विवाद है पर इनके आधारपर हुए प्रत्यक्ष और फिर दूध-दहीका सम्बन्ध चेतोव्यापार है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि चित्तके बाहर तदनुरूप कुछ है। सीपके पेटमें बालूका कण जाता है और जाठर सामग्रीसे मिलकर मोती बन जाता है। वैसा ही कण मनुष्यके पेटमें पूति व्रणकेन्द्र बन सकता है। एक ही प्रकारके संवित्को दूध नामसे भले ही पुकारा जाय, परन्तु स्वस्थ मनुष्य और मन्दाग्निग्रस्तको एक ही प्रकारका प्रत्यक्ष कदापि नहीं होता। संवित् होते रहते हैं परन्तु चित्तको न तो वस्तुओंकी सत्तामें कोई अभिरुचि है न संवितोंमें। उसको तो द्रष्टाके लिए भोग, अर्थात् वासनाओंकी तृप्ति, सम्पन्न करना है। इसलिए वह उनको भाँति-भाँतिसे मिलाता है, उनमेंसे कुछकी ओरसे यथाशक्य पराङ्मुख हो जाता है, पिछले अनुभवके आधारपर, और जहाँ इससे काम नहीं चलता वहाँ अर्थापत्ति और निराधार व्याप्ति-विरहित अनुमानके द्वारा सम्बन्ध जोड़ता है और इस

प्रकार तोड़-मोड़कर उनको भोज्याभोज्यके प्रत्यक्षका माध्यम बनाता है। संवित् बराबर होते रहते हैं, यही अंकुश है, अन्यथा चेतोव्यापार वस्तुस्थितिसे बहुत दूर जा पड़े। संवित्मात्रको छोड़कर अपने परिणामोंका शेष अंश चित्तकी अपनी सम्पत्ति है। संवित् भी चित्तका परिणाम है पर उसके विषयमें अभी इस स्थलपर ऐसा माना जा सकता है कि वह बाह्य जगत्का प्रतीक है अर्थात् चित्तके बाहरकी किसी वस्तुकी सत्ताका सूचक है।

चित्त भोगका साधन है इसलिए उसे अन्तःकरण—भीतरी उपस्कर, औजार—कहते हैं। उससे उतने ही ज्ञानकी आशा की जा सकती है जितनेकी भोगके लिए आवश्यक है। परन्तु यदि वासनाएँ क्षीण हो तो भोगकी आवश्यकता भी कम हो जायगी, चेतोव्यापार भी दूसरे प्रकारका होने लगेगा, संवित् और प्रत्यक्षके बीचकी दूरी भी कम होती जायगी और ज्ञानकी यथावस्तुता भी बढ़ जायगी। उस अवस्थामें चित्त मोक्षका साधन बन जायगा। द्रष्टाके भोग और मोक्षको सम्पादन करनेमें ही चित्तकी कृतार्थता है।

हमने ऊपर कहीं चेतोव्यापार और कहीं चित्त शब्दका प्रयोग किया है। वस्तुतः दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। व्यापारहीन चित्तका कोई अस्तित्व नहीं है। जल निरन्तर बहता रहता है। कहीं उसमें तरंगें उठती है, कहीं शान्त देख पड़ता है परन्तु प्रवाह नहीं रुकता। ऐसी जल-राशिको नदी कहते हैं। बहते जलसे भिन्न नदीका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार अच्छेद्य चेतोव्यापार—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, सङ्कल्प आदि परिणामोंकी निरन्तरवर्तिनी माला—का ही नाम चित्त है। प्रज्ञानोंके सतत प्रवाहसे भिन्न चित्तकी कोई सत्ता नहीं है।

जिस प्रकार चित्त अन्तःकरण है उसी प्रकार इन्द्रियाँ बाह्यकरण, बाहरी उपस्कर हैं। वह चित्तका ही स्थूल रूप हैं। इन्द्रियोंकी भी द्रष्टाके भोग और मोक्षमें कृतकृत्यता है और इन्द्रियव्यापार भी चेतोव्यापारके अन्तर्गत है। इन्द्रियोंकी सत्ता चित्तसत्ताका ही भेद है।

दूसरा अध्याय

मनःप्रसूति

शरत्के कृष्णपक्षकी रातमे आकाशकी ओर देखिये, सहस्रो तारे चमकते प्रतीत होते है। इनमेसे अधिकाशका रङ्ग श्वेत है, कुछमे नीलापन या रक्तिमा देख पड़ती है। कुछ बहुत चमकीले है, कुछ बहुत धुंधले। सभी पूर्वमें उदय होते है, पश्चिममे डूबते है। यदि आकाश-प्रेक्षण बराबर कुछ दिनोतक किया जाय तो यह भी प्रतीत हो जायगा कि ऋतुओंके साथ तारोके उदयास्त-कालमे भी अन्तर पड़ता है और कुछ पिण्ड जो देखनेमे तारे प्रतीत होते है दूसरे तारोके बीचमे अपना स्थान भी बदला करते हैं। इतना जान लेना पर्याप्त नही होता। मनुष्य तारोंकी चालको समझना चाहता है, उनके स्थानको देखकर वर्षाका अनुमान करना चाहता है, बीज डालनेका समय जानना चाहता है। इस ब्योरेवार अध्ययनसे ही वह तारोको अपने उपयोगकी सामग्री बना सकता है। वह सारे आकाशका युगपत् अनुशीलन नही कर सकता, इसलिए उसको टुकड़ोमे बॉटता है। न तो आकाशमे पशु-पक्षी है, न नर-देहधारी बैठे हैं, परन्तु मनुष्य तारोंके विस्तारको पुञ्जोंमे बॉटता है और ईषत् आकारसादृश्य देखकर इन पुञ्जोंको सिह, मेष, मृग, श्येन, तिमि जैसे नाम देता है। इसी प्रकार विशेष तारोको अगस्त्य, मरीचि, रोहिणी, ध्रुव नामोसे पुकारता है। आकाश एक और अखण्ड है, क्षितिजसे क्षितिजतक कोई गोल रेखा नहीं खिची है परन्तु अपने सुभीतेके लिए १३°२०′ के सत्ताईस भाग कर लिये गये हैं। इस प्रकार ज्योतिषके अध्येताका काम सरल हो जाता है, परन्तु यह न भूलना चाहिये कि यह सारा विभाजन बुद्धिकृतक है।

चित्तको ऐसे ही काम करने पड़ते है। एक ओर तो वासनाएँ और स्मृतियाँ उठती रहती है, सुख-दुःखकी अनुभूति होती रहती है, दूसरी ओर सवितोंका प्रवाह जारी रहता है। संवित् कभी तीव्र होते है, कभी मन्द, कभी गहरा सस्कार छोड़ जाते है, कभी हल्का, उनमे कोई-कोई बार-बार आते है, कुछ एक-दूसरेके पीछे नियत रूपसे आते है। सवित् भोज्यके सूचक तो है, पर जबतक वह अस्तव्यस्त रहते है तबतक भोगके निश्चित उपस्कर नहीं हो सकते। द्रष्टाके भोगकी सिसाधयिषासे प्रेरित होकर चित्त सवितोको विभक्त करता है, उनको भाँति-भाँतिसे सजाता है। वह उनमे पारस्परिक सम्बन्ध ढूँढ़ता है। सम्बन्ध बाहर तो मिलते नहीं, उनके स्वतन्त्र सवित् तो होते नहीं, चित्त अपने आभ्यन्तर व्यापारसे उनकी प्रतिष्ठा करता है; अनेक प्रकारके नियमो और विधानोंकी कल्पना करके सवितोको एक सूत्रमे ग्रथित करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार संवितोके प्राचुर्यसे चित्त जगत्का निर्माण करता है।

सबके लिए जगत् एक-सा नहीं होता। किसी युगमे लोग अपने देशोकी संकुचित सीमाओंके भीतर रहते है और शरीरकी मुख्य आवश्य-कताओंकी पूर्तिके सिवाय अन्य बातोंकी ओर कम ध्यान देते है, कभी सारी पृथिवी एक हो जाती है और कई पद्म कोस दूरकी नीहारिकासे लेकर त्रसरेणुसे कई सहस्रगुनी छोटी वस्तुओका अनुशीलन किया जाता है। इस प्रकार सवितोमे भेद होता है, सविच्छेदके अनुसार नये सम्बन्धोकी खोज होती है और नये जगत्का निर्माण होता है। प्रत्येक सस्कृतिका अपना जगत् होता है और उस संस्कृतिके भीतर प्रत्येक व्यक्तिका पृथक् जगत् होता है। जो लोग इन जगतोको बरतते है वह उनको मनःप्रसूति नहीं मानते। उनको ऐसा विश्वास रहता है कि सवित् तो सत्य है ही, उनके जो सम्बन्ध और हेतु हमारी समझमे आते है वह भी उतने ही सत्य है। बुद्धिनिर्माण वस्तुस्थितिकी प्रतिच्छाया प्रतीत होता है।

भिन्न होते हुए भी यह जगत् सर्वथा विजातीय नहीं हो सकते। मोती सब एक-से नहीं होते परन्तु नितान्त विसदृश भी नहीं होते, क्योकि

सीप भी सजातीय है और रजःकण भी। इसी प्रकार सभी मनुष्योंकी इन्द्रियाँ सजातीय है, शरीर सजातीय हैं, वासनाएँ सजातीय है। इसलिए संवित् भी सजातीय ही होते है और उनके आधारपर निर्मित जगत् भी सजातीय होते है। इसका तात्पर्य यह है संवित्को जगत् बनानेमे जो चेतोव्यापार होते है वह भी सजातीय होते है। दूसरे शब्दोमे हम यह कह सकते है कि संवितोका संव्यूहन करनेमे चित्त स्वच्छन्द नही है, वह कुछ नियत मार्गोसे ही चल सकता है। इसका फल यह हुआ है कि कुछ बुद्धि-निर्माण ऐसे हैं जो आजसे सहस्रो वर्ष पूर्व प्रस्फुटित हुए और अद्यावधि चले आ रहे है। समय-समयपर उनका संस्कार और संशोधन होता रहा है परन्तु उनका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय तो जगत्का सङ्घटन नही हो सकता। द्रष्टा रह जायगा, चित्त रह जायगा, वासनाएँ और स्मृतियाँ रह जायँगी, दैहिक चेष्टाएँ रह जायँगी और संवित् रह जायँगे परन्तु सङ्घटित जगत्का लोप हो जायगा।

इस अध्यायमे हम इनके सम्बन्धमे विचार करना चाहते है। हमारे सामने प्रश्न यह है कि यह केवल सुविधाजनक बुद्धिनिर्माण है या पारमार्थिक सत्ता रखते है।

१. ईश्वराधिकरण

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत्का कोई कर्ता है, किसीने इसे बनाया है। यह देख ही पड़ता है कि बहुत-सी बाधाओंके रहते हुए भी मनुष्य जी रहा है, पशु-पक्षी जी रहे है, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पहाड़, समुद्र सभी बने हुए है, अतः जगत्का पालन भी हो रहा है। इस बातके माननेमे लाघव होता है कि जो कर्ता है वही पालक है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगत्का संहार भी करेगा। इस कर्ता-पाता-संहर्ताको ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्षका विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाणसे ही हो सकता है। जबतक सर्वसम्मत आप्तपुरुष

निश्चित न हो जाय तबतक शब्द-प्रमाणसे काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न सम्प्रदायोमें जो लोग आप्त माने गये हैं उनका ईश्वरके सम्बन्धमें ऐक्यमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाणका सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। ईश्वरकी सत्तामें यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई रचयिता होता है इसलिए जगत्का भी कोई रचयिता होना चाहिये। इस अनुमानमें कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तुका कर्ता होता है तो फिर वस्तु होनेसे ईश्वरका भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरेका तीसरा। यह परम्परा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्कमें अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वरको कर्ताकी अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है कि विश्वको कर्ताकी अपेक्षा नहीं है? फिर ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है, साध्यसम है। सूर्य-चन्द्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़को बनाये जाते किसने देखा है? जबतक यह सिद्ध न हो जाय कि प्रत्येक वस्तुका कर्ता होता है तबतक जगत्का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

इस तर्कपर यह आपत्ति की जाती है कि ऊपर प्रयोग किया हुआ वस्तु शब्द वहीं लागू होता है जहाँ सङ्घटन होता है। कई अवयवोंके मिलनेसे जहाँ अवयवी बनता है, वहीं उपयोगका प्रश्न उठता है और कर्ताकी खोज होती है, क्योंकि आवश्यकताकी पूर्ति करना ही उपयोगी चीजका लक्षण है। ईंट, चूना, गारा आदिका योग घर है। घर कार्य-विशेषके लिए है। हम ऐसा मानते हैं कि किसी कर्ताने इस सामग्रीको उस कार्यविशेषकी सिद्धिके लिए बनाया। ईश्वर अवयवी नहीं है। सङ्घटन नहीं है, उसका कलेवर किसी उद्देश्यकी सिद्ध नहीं करता। अतः वह 'वस्तु' नहीं है, कर्ताकी अपेक्षा नहीं करता। यह आपत्ति समीचीन नहीं है। यह कैसे जाना गया कि ईश्वर सङ्घटन नहीं है, अवयवोंके मेलसे नहीं बना है?

वेदमे, जिसको भारतीय ईश्वरवादी प्रमाण मानता है, उसके सिर, हाथ, पाँवका उल्लेख है। दूसरे ईश्वरसाधक ग्रन्थमे कहते है उसने देखा, उसने आज्ञा दी, उसने सोचा, उसने कहा इत्यादि। यह वाक्य तो मनुष्यसम किसी प्रकारकी शरीरकी ओर संकेत करते है। और फिर हमारा मूल प्रश्न तो अपनी जगहपर वर्तमान है। ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण क्या है? जब ईश्वर हो तब तो उसके स्वरूपके विषयमे विचार किया जाय, यदि कोई अपनी ओरसे किसी कल्पित मूर्तिकी मनमानी परिभाषा बना ले तो इससे उस पदार्थकी सत्ता सिद्ध नही होती।

जो लोग जगत्को कर्तृक मानते है उनके सामने अपने व्यवहारकी वस्तुएँ रहती है। घर बनानेके लिए राजगीर, घड़ेके लिए कुँभार, गहनेके लिए सोनार, घडीके लिए घड़ीसाज चाहिये। यह कारीगर ईंट-पत्थर, मिट्टी, सोना, पुर्जोसे गृहादिका निर्माण करते है। कारीगर उपादान-सामग्रीको काममे लाता है और निर्माणकार्यमे लगनेका कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन यदि हमको पहिलेसे न भी ज्ञात हो तो निर्मित वस्तुको देखनेसे समझमे आ सकता है। अब यदि गृहादिकी भाँति जगत् भी कर्तृक है तो उसकी उपादान-सामग्री क्या थी? और सृष्टि करनेमे ईश्वरका प्रयोजन क्या था? जगत्मे जो कुछ भी है वह या तो जड़ है या चेतन, अतः जो भी उपादान रहा होगा वह या तो इनमेसे किसी एक प्रकारका रहा होगा या उभयात्मक। दोनो ही अवस्थाओ-मे यह प्रश्न उठता है कि वह जगत्की उत्पत्तिके पहिले कहाँसे आया? यदि उसका कोई कर्ता नही था तो फिर जगत्के लिए ही कर्ताकी कल्पना क्यो की जाय? यदि कर्ता था तो वह ईश्वरसे भिन्न था या अभिन्न? यदि भिन्न था तो ईश्वरकी कल्पना क्यों की जाय? क्या जो व्यक्ति जड़-चेतनको उत्पन्न कर सकता था वह उनको मिलाकर जगत् नही बना सकता था? जड़-चेतनके बननेपर तो बिना किसी ईश्वरको माने भी जगत्का विस्तार समझमे आ सकता है। यदि उपादानकर्ता ईश्वरसे अभिन्न था अर्थात् यदि ईश्वरने ही जड़-चेतनकी सृष्टि की तो इसका तात्पर्य

यह हुआ कि असत्से सत्की उत्पत्ति हुई जो प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे अनुमानसे भी बाधित है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरने अपने सत् स्वरूपसे जड-चेतनको उत्पन्न किया तो यह प्रश्न होगा कि उसने ऐसा क्यो किया, ऐसा करनेमे प्रयोजन क्या था ? यह नही कह सकते कि जीवोकी भोगोपलब्धिके लिए ऐसा किया गया क्योकि जीवोको तो उसीने बनाया ! न उनको बनाता न उनके लिए भोगका प्रश्न उठता। जीवोका मोक्ष भी उद्देश्य नहीं हो सकता क्योंकि जब जीव थे ही नही तो फिर उनका बन्धन कहॉ था जिसे तोड़ना था ? यह कहना भी सन्तोषजनक नही है कि जगत् ईश्वरकी लीला है। निरुद्देश्य खेल ईश्वरत्वके साथ अन-मेल है। क्या वह एकाकी घबराता था जो इतना प्रपञ्च रचा गया ? यह भी ईश्वरत्व-कल्पनासे असङ्गत है। यह कहनेसे भी काम नहीं चलता कि ईश्वरकी इच्छा अप्रतर्क्य है। इच्छा किसी ज्ञातव्यके जाननेकी, किसी आतव्यके पानेकी होती है। ईश्वरके लिए क्या अज्ञात या अप्राप्त था ? फिर जब उसकी इच्छा ऐसी ही अकारण, निष्प्रयोजन है तो अब उसपर कोई अकुश तो लग नही गया है। वह किसी दिन भी सृष्टिका संहार कर सकता है, आगको शीतल कर सकता है, कमलके वृन्तपर चन्द्र-सूर्य उगा सकता है। अन्धविश्वास चाहे जो कहे परन्तु किसीकी बुद्धि यह स्वीकार नही करती कि ऐसा होगा। ईश्वरवादी यह कहते है कि ईश्वरका स्वभाव ही अकुश है और नियमवर्तित्व उसका स्वभाव है। जगत्मे जो कुछ हो रहा है वह नियमोके अनुसार हो रहा है। इन सब नियमोकी समष्टिको ऋत कहते है। ऋत ईश्वरका स्वभाव है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि यह स्वभाव ईश्वरका सदासे है या जगत्की सृष्टिके पीछे हुआ ? यदि पीछे हुआ तो किसने यह दबाव डाला ? वह कौन-सी शक्ति है जो ईश्वरसे भी बलवती है ? यदि पहिलेसे है तो जो इच्छा जगत्की उत्पत्तिका मूल थी वह ईश्वरके स्वभावसे अविरुद्ध रही होगी अर्थात् जगत्को उत्पन्न करना ईश्वरका स्वभाव है। परन्तु जहॉ स्वभाव होता है वहॉ पर्याय रहते ही नही। ईश्वरकी सिसृक्षा उसके स्वभावके अनुकूल होगी। पानीका स्वभाव

नीचेका ओर बहना है, आगका स्वभाव गर्मी है, ईश्वरका स्वभाव जगत् उत्पन्न करना है। न पानी नीचे बहना छोड़ सकता है, न ईश्वर जगत्को उत्पन्न करना। ऐसी दशामें उसको जगत्का कर्ता कहना उतना ही उचित होगा जितना पानीको नदी या आगको जलनका कर्ता कहना। कर्तृत्वका व्यपदेश वहीं हो सकता है जहाँ सङ्कल्पकी स्वतन्त्रता हो। यह काम करूँ या न करूँ, स्वभावमें इस प्रकारकी स्वतन्त्रताके लिए स्थान नहीं रहता। अतः यह सब तर्क ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध नहीं करते।

यह हो सकता है कि हम किसी अपरिचित यन्त्रके बननेके उद्देश्यको न समझ सकें, फिर भी उसकी बनावट देखकर इस निश्चयपर पहुँचें कि यह कर्तृक है, स्वतः नहीं बन गया है। क्या जगत् हमको ऐसा माननेपर विवश करता है कि उसका कोई कर्ता है? ऐसा माननेके पक्षमें सबसे बड़ा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि जगत्का सञ्चालन ऋतमय है, सब काम नियमोंके अनुसार होते हैं, प्रत्येक घटनाका कोई-न-कोई कारण होता है। नियमितताके कारण हम भविष्यत् घटनाओंको पहिलेसे जान सकते हैं और वस्तुओंको अपने भोगकी सामग्री बना सकते हैं। नियम नियामककी अपेक्षा करता है। इससे प्रतीत होता है कि जगत्का कोई कर्ता है, चाहे हम उसके प्रयोजनकी थाह न पा सकते हों। इस तर्कमें भी दो दोष हैं। पहिले तो यह माननेका कोई आधार नहीं है कि नियमके लिए नियामक चाहिये। प्राकृतिक नियम मानव-विधान नहीं है। विधानका रूप होता है: आजसे इस प्रकार काम किया जाय, जो न करेगा उसको अमुक प्रकारका दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियमका रूप होता है: ऐसा होता देखा गया है। उसमें दण्डका कोई प्रश्न नहीं उठता। मानव-विधान आज्ञात्मक होता है: कोई दुकानदार रुपयेके ढाई सेरसे कम गेहूँ न बेचे, जो बेचेगा उसे पाँच सौ रुपये जुर्माने तथा दो वर्ष कारावासका दण्ड दिया जायगा। प्राकृतिक नियम वर्णनात्मक होता है: धनविद्युत् और ऋणविद्युत् एक-दूसरीको आकृष्ट करती हैं। ऐसी दशामें प्राकृतिक नियमोंको देखकर नियामकका अनुमान नहीं किया

जा सकता। यह माननेमे लाघव है कि जगत्का स्वभाव ऋत है। जगत्के जड़-चेतन जो भी अवयव है वह अपने अवयवीके स्वभावका अतिक्रमण नही कर सकते। तर्कमे दूसरा दोष यह है कि यह मान लिया गया है कि सचमुच जगत्मे ऋतकी सत्ता है पर यह निर्विवाद नही है। हम पहिले कई वार कह आये है कि सवितोसे ही हमको वस्तुओकी सत्ताकी सूचना मिलती है। यह संवित् होते है यहॉतक तो ठीक है। इससे यह भी भले ही मान लिया जाय कि वस्तुऍ है और उनमे कुछ परिवर्तन होते है, जिनको हम घटना या दृग्विषय कहते है। यह सव होगा, परन्तु दृग्विषयोमे जो सम्बन्ध प्रतीत होते हैं वह चेतोव्यापारके फलस्वरूप है। चेतोव्यापार द्रष्टाके भोगके हेतु होता है, इसलिए चित्तमे ऐसे सम्बन्ध स्थापित करता है जो भोगके लिए अधिक अनुकूल प्रतीत होते है। भौतिक पिण्ड एक-दूसरेके सान्निध्यमे स्थानपरिवर्तन करते है, ऐसा हमको प्रत्यक्ष होता है। इस स्थान-परिवर्तनके सम्बन्धमे न्यूटनने यह मत प्रकट किया कि भौतिक पिण्ड एक-दूसरेको आकर्षित करते है और इस आकर्षणके सम्बन्धमे यह नियम निकाला कि यदि दो पिण्डोका गुरुत्व $गु_1$ और $गु_2$ हो और उनकी दूरी दू हो तो उनके वीचका आकर्षण होगा

$$क \frac{गु_1 \times गु_2}{दू^2}$$ [क एक नियत सख्या है जो वस्तुमात्रके लिए समान है।]

यह तो नियम हुआ, परन्तु कोई मनुष्य यह भी तो मान सकता है कि स्थानपरिवर्तन वरुणदेवकी इच्छाके अनुसार होता है। यह कैसे सिद्ध होगा कि उसका मानना निराधार है ? हम वरुणदेवको नही जान पाते परन्तु इससे क्या होता है। आज यह पता चला है कि कुछ छोटे-छोटे कीटाणु है जो दूधको दहीमे परिणत कर देते है। जिस समय लोग यह वात नही जानते थे उस समय भी कीटाणु अपना काम करते थे। हम वरुणकी इच्छाको गणनाका विषय नही वना सकते और नियमको वना सकते है पर इतनेसे ही नियमकी सत्ता सिद्ध नही होती। हॉ, यह

बात निश्चित है कि वरुणेच्छा माननेकी अपेक्षा नियम माननेमे सुभीता है। सूर्य, मङ्गल, गुरु, शनि पृथ्वीकी परिक्रमा नही करते, परन्तु प्राचीन ज्योतिषी ऐसा मानकर गणना करते थे और उस गणनासे इन पिण्डोके स्थानोका ठीक पता लगा सकते थे। ग्रहोके असम्बद्ध भ्रमणकी अपेक्षा उनका पृथिवीकी परिक्रमा करना माननेमे गणनाकी सुविधा थी, इसलिए बुद्धिने इसे स्वीकार किया। जब रेलके डब्बे लाइनपर चलते है तो जो स्वन उत्पन्न होता है उसमे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार लोग नाना प्रकारकी बोलियाॅ सुनते है। वह स्वन तो जैसा है वैसा है, यह सब बोलियाॅ श्रोताओका बुद्धिनिर्माण है। इसी प्रकार सवित् तो है, वह 'कुछ' भी होगे जिनकी सूचना सवित् देते है परन्तु वस्तुओके सम्बन्ध, उनको एकमे बाॅधनेवाले नियम, बुद्धिनिर्माण है। जब नियमोकी चित्तके बाहर सत्ता असिद्ध है तो फिर नियामककी सत्ता भी असिद्ध है। अतः जगत्का दृश्यरूप हमको ईश्वरकी सत्ता माननेको बाध्य नही करता।

कुछ लोग ईश्वरको जगत्का स्रष्टा न मानकर आरम्भक मानते है। उनका ऐसा विश्वास है कि जगत्की रचनाकी जो जड़-चेतनात्मक उपादान-सामग्री थी उसको ईश्वरने बनाया नही परन्तु ईश्वरके सान्निध्यसे सामग्रीका उस रूपमे सव्यूहन हो गया जिसको जगत् कहते है। चुम्बकके सान्निध्यमात्रसे लोहेके टुकड़े अपनेको विशेष प्रकारसे विन्यस्त कर लेते है। यह विन्यास लोहेका स्वभाव होगा अन्यथा चुम्बक सोने या चाॅदी या लकड़ीको भी वैसे ही विन्यस्त कर देता। लोहेका स्वभाव किन्ही बाधाओसे अभिभूत था, चुम्बक उन्हे हटा देता है। यह सोचना चाहिये कि जगत्के आरम्भमे वह कौनसे अवरोध थे जिन्हे ईश्वरने हटाया। ऐसी कोई बात समझमे नही आती। लोहा अकेला नही है, जगत्मे और पदार्थ भी है। इनमेसे कोई उसका अवरोधक हो जाय तो कोई आश्चर्य नही है। पानीका स्वभाव नीचे बहना है पर उसके अतिरिक्त दूसरे भौतिक पदार्थ उसकी गतिको कभी-कभी रोक देते है। वह स्वय अपना अवरोधक नही होता। जगत्की मूल सामग्रीके सिवाय तो कुछ था नही,

फिर वह अपने स्वभावके अनुसार क्यों सव्यूढ न हो सकी जो ईश्वरकी आवश्यकता पडी ?

मैने कुछ दिन पहिले बिल्लीका एक बच्चा देखा। आज उसे फिर देखता हूँ तो पहिलेसे बड़ा पाता हूँ। इस वृद्धिका साक्षी कौन था ? ज्ञाता और ज्ञेयका ऐसा सम्बन्ध है कि जब एक होगा तो दूसरा भी होगा। बिल्ली ज्ञेय है, उसकी वृद्धि ज्ञेय है अतः कोई ज्ञाता भी चाहिये। यदि कोई मनुष्य बिल्लीको बढते नहीं देख रहा था तो कोई दूसरा साक्षी रहा होगा। यह साक्षी ईश्वर है। ईश्वर सब घटनाओंका साक्षी है, उसके लिए नित्य वर्तमान है। जिस समय मुझको प्रत्यक्ष होता है उस समय मै ईश्वरका सधर्मा हो जाता हूँ अर्थात् ईश्वरको और मुझको विषयका समान रूपसे ज्ञान होता है। मेरे चित्तमे ईश्वरीय ज्ञान प्रतिबिम्बित हो जाता है।

यह तर्क समीचीन नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञेय और ज्ञाताका अन्योन्याश्रय है पर जब ज्ञेय न हो तब ज्ञाताकी कल्पना नहीं की जा सकती। बिल्ली दोनो बार ज्ञेय थी, उसका दोनो बार ज्ञाता मै था। पहली बार और दूसरी बारके सवित्तोमे भेद था, इसलिए मुझे एक बार छोटी बिल्ली, दूसरी बार बड़ी बिल्लीका प्रत्यक्ष हुआ। यों कहिये कि पहली बारके प्रत्यक्षको मैने छोटी बिल्ली, दूसरी बारके प्रत्यक्षको बड़ी बिल्ली नाम दिया। सवित्तोमे समानताके कारण दोनोको बिल्ली कहा गया और उनकी असमानताके कारण छोटी-बड़ीका व्यपदेश हुआ। दोनो बार सवित् तो हुए पर उनके बीचके वृद्धि नामका जो सम्बन्ध हम जोडते है वह तो चेतोव्यापारका फल है। यदि मै बिल्लीके बच्चेको अपनी आँखो-के सामने बराबर बँधा रखूँ तो भी यही बात होगी। बराबर नये संवित् होते रहेगे और मैं इन सवित्तोको वृद्धि नामके कल्पित सूत्रपर पिरोता जाऊँगा। सवित्तोका होना निर्विवाद है परन्तु वृद्धि चित्तमे है। बुद्धि-निर्माण अवस्तु, अथ च अज्ञेय है, इसलिए उसको मेरे सिवाय ईश्वर या किसी अन्य ज्ञाताकी अपेक्षा नहीं है।

यह आपत्ति की जा सकती है कि इस तर्कसे तो दोनो बार देखनेके

बीचमें बिल्लीका अस्तित्व ही न रह जायगा। न रहे, इसमे घबरानेकी क्या बात है? अस्तित्व था, इसका ही क्या प्रमाण है? कुछ संवित् होते है, उनके आधारपर हम कहते है कि बिल्ली है। जब संवित् नही है तब बिल्ली भी नहीं है। अप्रत्यक्षावस्थामे बिल्लीका अस्तित्व तो बुद्धि-निर्माण है।

इस सम्बन्धमे बारम्बार मनन करना चाहिये। हमको वस्तुओंके अस्तित्वका ऐसा विश्वास जमा हुआ है कि सहसा यह सोचकर घबराहट होती है कि चित्तके बाहर वस्तुऍ नहीं है। मेरे सामने कुर्सी पड़ी है। क्या सचमुच यह नहीं है? ऐसो कथा है कि किसी विद्वान्ने कहा था कि एक ठोकर मारो, चोट लगना कुर्सीके अस्तित्वको सिद्ध कर देगा। यही उनकी भूल थी। चोट लगना एक संवित् है और हम संवित्का अस्तित्वका अनङ्गीकार नहीं करते। एक विशेष प्रकारका संवित् होगा इतना ठीक है, चक्षुरिन्द्रियादिसे कुछ और भी संवित् हो रहे है, जिनके आधारपर हमको कुर्सीका प्रत्यक्ष हो रहा है। हम सभी संवितोंकी सत्ता स्वीकार कर रहे है परन्तु इनके सिवाय कुर्सी कहॉ और क्या है? तो फिर प्रश्न उठता है कि क्या वह कुर्सी जिसपर मै बैठा हूॅ मेरे चित्तके भीतर है? जिस कुत्तेने मुझे कल काटा था मेरे भीतर था? यह प्रश्न विभज्यवचनीय है अर्थात् इनके उत्तरमें सीधा हॉ या नहीं नहीं कहा जा सकता वरन् दो-तीन टुकड़ोंमें उत्तर देना होगा। वह संवित्—रङ्ग, स्पर्श आदि—जो कुर्सीकी विशेषता है चित्तमे है; वह संवित्—रङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, चाटनेकी प्रवृत्ति हो तो रस, वह अनुभूति जिसे पीड़ा कहते हैं—यह सब कल चित्तके भीतर थे। इनकी सत्ता निर्विवाद है। इस अर्थमे ऐसा कहा जा सकता है कि कुर्सी चित्तमे है, कुत्ता चित्तमे था। इनके सिवाय कुर्सी और कुत्तेका कोई अस्तित्व नहीं है; न कुर्सी चित्तके भीतर है न बाहर, न कुत्ता चित्तके भीतर था न बाहर। इससे व्यवहारमे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुछ संवित् हुए जिनको मिलाकर यह प्रत्यक्ष हुआ कि कुत्ता है। कुछ देरके बाद कई और संवित्

हुए जिनके आधारपर यह कहा गया कि कुत्ता पास आया, वह गुर्राया, उसने दाँत निकाले, शरीरके अमुक भागको दाँतोसे दवाया, पीडा हुई। संवित्क्रम ठीक है, संवितोके बीचके सम्बन्ध बुद्धिनिर्माण है। पर यह अनुमान किया जा सकता है कि फिर संवित् इसी क्रमसे अपनेको दुहरायेगे। कुक्कुरदर्शनवाले संवित्से आरम्भ हुई संविन्माला पीड़ापर जाकर समाप्त होगी। इसको व्यावहारिक ढङ्गसे यो कहेगे कि कुत्ता देख पड़ा है तो काटेगा। अतः मालाको बीचसे काट देनेके जो भी उपाय हो सकते हो—पीड़ा नामके हेय संवित्से बचनेके जो उपाय हो सकते हो—उनकी करणीयतामे बाधा नहीं पड़ती। 'कुत्तेने नहीं काटा' कहनेका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक अप्रिय संवित् नहीं हुए।

इससे कुछ लोगोको परितोष नहीं होता। यह हमारा परिचित जगत् लुप्त हुआ जाता है, इससे एक प्रकारकी घबराहट होती है। इसको बचानेकी युक्तियाँ सोची जाती है। एक युक्ति यह है कि द्रव्यकी परिभाषा इस प्रकार की जाय कि उसमे संवेद्यताकी सम्भावना भी अन्तर्गत हो जाय। मेरे हाथमे एक बीज है। मैने उसे भूमिमे गाड़ दिया। इस समय उससे सम्बद्ध कोई संवित् नहीं हो रहा है, परन्तु यदि कोई खोदे तो बीज मिल जायगा, संवित् होने लगेगे। अतः यह माननेसे कि बीजमे संवित् देनेकी सम्भावना है, बीजकी सत्ता भूमिके नीचे होनेकी अवस्थामे भी सुरक्षित रहेगी। पर सम्भावनाको हमने कब अस्वीकार किया? सम्भावनाका अर्थ यही है कि अमुक अव्यवस्थामे अमुक प्रकारके संवित् प्रायः होते है। हम इसे मानते हैं। देखे जानेपर कुत्ता काटता है इसकी मीमासा हमने की है। कुत्तेमे काटनेकी सम्भावना है, इसका अर्थ यह है कि अमुक-अमुक संवित्के पीछे अमुक-अमुक संवित् होते है। इसी प्रकार भूमि खोदनेपर बीजविषयक संवित् होते है। बस, सम्भावनाका इतना ही अर्थ है।

कुछ लोगोका ऐसा विश्वास है कि यदि ईश्वरकी सत्ता न स्वीकार की जायगी तो सदाचारके लिए कोई सहारा न रह जायगा। ऐसा माननेसे

कि ईश्वर लोकोपयोगी कामोमे प्रसन्न होता है और उनके लिए कभी-न-कभी, कही-न-कही, पुरस्कार देता है और लोकोद्वेजक कामोसे अप्रसन्न होता है तथा उनके लिए कभी-न-कभी, कही-न-कही, दण्ड देता है सत्कर्मकी मर्यादा बनी रहती है। पुरस्कार और दण्डकी बात छोड़ दी जाय, तब भी ईश्वरकी प्रसन्नता प्रोत्साहन देती है। हम इस सम्बन्धमे एक अगले अध्यायमे फिर विचार करेगे परन्तु इतना तो स्पष्ट ही होना चाहिये कि यह कोई पुष्ट तर्क नही है। कोई ईश्वरकी प्रसन्नताकी क्यों परवाह करे? कौन-सा काम अच्छा, कौन बुरा है इसका निर्णय ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छासे करता है या इस बातकी समीक्षा करता है कि वर्तमान परिस्थितिमे क्या श्रेयस्कर है? किस कामके लिए क्या पुरस्कार या दण्ड दिया जाय यह ईश्वरकी स्वतन्त्र इच्छापर निर्भर है या नियमबद्ध है अर्थात् अमुक कामका अमुक फल होगा यह नियत है? यदि इन बातोमे ईश्वरकी इच्छा स्वतन्त्र है तो फिर सदाचार निराश्रय हो जाता है। इच्छाका क्या भरोसा, न जाने कब पलट जाय; जो पुण्य है वह पाप हो जाय, जो दण्ड्य है वह पुरस्कार्य हो जाय। यदि कार्याकार्यका निर्णय वस्तुस्थितिकी समीक्षापर निर्भर है तो प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिके अनुसार स्वय समीक्षा करनी होगी क्योकि किसी समयविशेषपर ईश्वरकी क्या सम्मति है इसके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि कामका फल नियमानुकूल मिलता है तो ईश्वरको मानना बेकार है। ईश्वर फल देता है न कहकर यह कहना ठीक होगा कि नियतिके अनुसार फल मिलता है। ऐसी नियतिको वैदिक वाङ्मयमे सत्यका नाम दिया गया है। अपनेसे बाहर किसी ईश्वरकी ओर दृष्टि लगाये रहनेकी अपेक्षा काम और फलके अटल सम्बन्धको, जिसे कर्म-सिद्धान्त कहते है, बराबर सामने रखना सदाचारके लिए दृढ़तर सहारा है।

मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है, उसकी इच्छाओका पदे-पदे अभिघात होता है, इसलिए वह वह एक ऐसे व्यक्तिकी कल्पना करता है, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। ऐसे व्यक्तिकी इच्छाएँ सदा अप्रतिहत

होंगी। यह कल्पित व्यक्ति आदर्शका काम करता है। मनुष्य जो कुछ होना चाहता है उस सबको एकत्र करके इस आदर्शकी सृष्टि करता है। हम दूसरोकी सेवा करना चाहते है पर उपकरणोकी कमी ऐसा करने नहीं देती; कभी-कभी यह समझमे नहीं आता कि क्या करें, क्या न करें; स्वार्थसङ्घर्षके फलस्वरूप किसीके अधिकारोका कुचला जाना, किसीके हृदयका विदारण, आये दिन देखना पड़ता है। ऐसी अवस्थामे अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त वैराग्य, अनन्त करुणा, अनन्त माधुर्यमय व्यक्तिकी सत्तापर विश्वास होनेसे बड़ा सम्बल प्राप्त होता है। अन्यायसे लड़नेके लिए स्फूर्ति मिलती है, दुःख सह्य हो जाते है।

ईश्वर मनुष्यका परिवर्द्धित और परिशोधित सस्करण है। उसमे वह सब सद्गुण है जो मनुष्य अपनेमे देखना चाहता है। इसीलिए प्रत्येक सस्कृति, प्रत्येक व्यक्तिके ईश्वरमे थोड़ा-थोड़ा भेद है। किसीके लिए कोई गुणविशेष मुख्य है, किसीके लिए गौण। जो एककी दृष्टिमे सद्गुण है वह दूसरेकी दृष्टिमे दुर्गुण हो सकता है। परन्तु इतनी बात सभी ईश्वरवादी मानते है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, नित्य है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वसद्गुणसम्पन्न है, निराश्रयोंका आश्रय है और सत्कर्म करनेवालोका सहायक है। उनका यह भी विश्वास है कि उसपर दृढ़ विश्वास रखनेवालोंकी आध्यात्मिक उन्नति होती है, उनके चरित्रमे निर्मलता आती है और उनकी लोकसग्रह-शक्ति बढ़ती है।

हम इन बातोको अस्वीकार नही करते, पर इनसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नही होता। वह उन उपयोगी अलीकोमेसे है जिनकी सृष्टि अपनी, सुविधाके लिए चित्त करता है। बहुत-सी बाते है जो समझमे नहीं आती, बहुत-सी घटनाएँ हैं जो अप्रिय लगती है। इन सबके लिए 'ईश्वरकी इच्छा' कह देनेसे चित्तका क्षोभ मिट जाता है, अज्ञात और अप्रियका अदृश्य सम्बन्ध-सूत्र मिल जाता है।

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमे यह विचारविमर्श अपरिचित-सा प्रतीत होता है परन्तु नितान्त नया नही है। प्राचीन भारतमें सांख्य आचार्योंका

यह मत था कि ईश्वर असिद्ध है अर्थात् उसके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिकोने आस्तिक-नास्तिक, सभी अनीश्वरवादियोके तर्कोंके खण्डन करनेका प्रयत्न किया है। उनके तर्कको संक्षेपमे न्यायकुसुमाञ्जलिके पञ्चमस्तवकका यह श्लोक व्यक्त करता है :

कार्यायोजनधृत्यादेः, पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च, साध्यो विश्ववदव्ययः ॥

थोड़ेमे इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदिके कार्य होनेसे, आरम्भमे परमाणुओंके आयोजनसे, विश्वके धारणादिसे, वृद्धव्यवहारसे, वेदसे, और सख्याविशेषसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

शव्दान्तरसे इसके कई तर्कोंपर हम विचार कर चुके है। यह जगत् कार्य है, इसलिए इसका कोई कर्ता रहा होगा। आरम्भमे इसकी उपादान सामग्री निश्चेष्ट रही होगी, क्योकि वह अचेतन थी : विना उस सामग्रीमे गति हुए जगत्का निर्माण हो नही सकता था, यह गति बतलाती है कि किसी चेतनने उसका आयोजन, प्रेरण, आरम्भण किया होगा; जगत्की धृति अर्थात् पालन और संहार चेतन निमित्तकी ओर संकेत करता है क्योंकि यह क्रियाएँ आपसे आप नही हो सकतीं; बहुतसे काम जैसे खेती करना, घर बनाना, आदि अनादिकालसे परम्परया होते चले आ रहे है। लोग इनको वृद्धोंके आचरणसे सीखते है परन्तु जगत्के आरम्भमे जो मनुष्य हुए उनको सिखानेवाला कौन था ? उन्होने इन कामोको किया है, इससे प्रतीत होता है कि उनको सिखानेवाली कोई चेतन सत्ता थी। इन सब उपपत्तियोपर हमने विचार कर लिया है और इनकी निःसारता देख चुके है।

दो तर्क और हैं—वेद और संख्या। हम पहिले सख्याको लेते है। माना यह गया है कि आरम्भमे क्षिति आदि महाभूतोंके पृथक् परमाणु थे। इनके मिलनेसे ही जगत् क्रमशः स्थूलसे स्थूलतर होता गया। यह स्थूलता कैसे आयी ? नैयायिक कहता है कि मिलनेसे आयतनमे वृद्धि नहीं होती। परमाणुका परिमाण परम अणु—इतना छोटा जिससे छोटा

होना असम्भव है, शून्यवत्—है। यदि दो परमाणु मिलेंगे तब भी आयतन वही रहेगा क्योंकि कुछ नहीमें कुछ नहीं मिलनेसे ० + ० = ० योगफल कुछ नहीं ही रहेगा।

परन्तु वृद्धि होती तो है। यह वृद्धि परिमाणसे नहीं, संख्यासे होती है। जहाँ पहिले एक परमाणु था, वहाँ अब दो हो गये। परन्तु यह दो-की संख्या कहाँसे आयी? दोकी संख्या किसी पृथक् परमाणुमें नहीं थी। नैयायिक कहता है कि दो, तीन आदि संख्याकी कल्पना हमारी बुद्धि करती है। सृष्टिके आदिमें तो कोई मनुष्य नहीं था, अतः चेतन ईश्वरकी बुद्धिने यह काम किया होगा।

देखनेमें यह तर्क बहुत सूक्ष्म और गम्भीर प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इसमें कोई तथ्य नहीं है। आजकल तो परमाणुका परिमाण नापा जा सकता है। यह प्रत्यक्षका विषय है कि दो परमाणुओंका आयतन या परिमाण एकका दूना होता है। आजसे कई सौ वर्ष पहिले आयतन नापना तो सम्भव नहीं था, परन्तु इतना तो समझा जा सकता था कि चाहे कितना भी छोटा हो परमाणुका आयतन शून्य नहीं हो सकता, वह कुछ जगह तो घेरता ही होगा। अतः परमाणुओंके मिलनेपर आयतन बढ़ेगा ही। फिर, यह ठीक है कि संख्याकी कल्पना द्रष्टाकी बुद्धि करती है परन्तु ऐसा क्यों माना जाय कि सृष्टिकालमें कोई कल्पना करनेवाला होना ही चाहिये था? हो सकता है कि कोई द्रष्टा न रहा हो। परमाणु मिलते गये हों। कोई दो-तीन-चार-दस उनकी संख्या गिननेवाला न रहा हो। यदि यह कहा जाय कि बिना द्रष्टाके दृश्य नहीं रह सकता तो हमको इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी अधिकरणमें यह बात आगे चलकर दिखलायी गयी है। यदि ईश्वरवादी यह मान सकता हो कि बिना साक्षीके भी वस्तु रह सकती है तो हम यह कहेंगे कि उस अवस्थामें यह संख्यावाला प्रमाण कोई अर्थ नहीं रखता।

अन्तिम तर्कका आधार वेद है। वेद वाक्योंके रूपमें है। वाक्यका कोई वक्ता, कर्ता होता है, परन्तु वेदवाक्योंका कोई मनुष्य कर्ता नहीं

है, मन्त्र अनादि कालसे चले आ रहे है। अतः वह ईश्वरकृत है। इससे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है। इस तर्कको देखिये। वेदमन्त्र अनादि कालसे चले आ रहे है, इसका क्या प्रमाण है ? यदि किसी मन्त्रके रचयिताका पता न हो तो वह ईश्वरकृत कैसे सिद्ध हो जायगा ? यदि किसी कुर्तेके सीनेवालेके नामका पता न चलता हो तो क्या वह ईश्वरका सिया हुआ माना जायगा ? प्रत्येक मन्त्रके साथ उसके ऋषिका नाम दिया रहता है। ऐसा माना जाता है कि ऋषि समाधिकी अवस्थामे मन्त्रको देखता या सुनता है, उसको बनाता नही। इसका क्या प्रमाण है ? ऋषिका कथन-मात्र प्रमाण नही हो सकता। बुद्ध और महावीर भी समाधिकी उच्च कोटितक पहुँचे थे, ऐसा उनके अनुयायी मानते है। उनको तो मन्त्र नही देख-सुन पड़े। क्यो ऐसा हुआ ? इसका क्या प्रमाण है कि वह वैदिक ऋषियोसे नीचेके स्तरपर थे ? यह आश्चर्यकी बात है कि याज्ञवल्क्यपर तो मन्त्र अवतरित हुए, परन्तु उनके परमगुरु व्यासको ऐसा अनुभव नही हुआ। कुछ मन्त्रोमे स्पष्ट कहा गया है : मै, अमुक ऋषि, हे इन्द्र तुम्हारे लिए साम प्रस्तुत करता हूँ या नया स्तोत्र रचता हूँ। मुझपर प्रसन्न हो। क्या यह मंत्र ईश्वरकृत है ? ब्राह्मण भी वेदके अग माने जाते है। उनमे तो बहुत-सी कथाएँ है, पारिक्षितों अर्थात् परीक्षित-वंशीय नरेशोका चर्चा है। यह मानना सम्भव नही है कि ईश्वरने ही इन कहानियोकी, जिनमे ऐतिहासिक घटनाओ और व्यक्तियोका उल्लेख है, सृष्टिके आरम्भमे ही रचना कर डाली।

श्रुतिके सम्बन्धमे यह कहा जाता है कि एक तो वह निर्दोष रचना है, दूसरे उसमे साधिकारोक्ति है। निर्दोष रचनाका लक्षण यह है कि वह रचना उक्ति, अनुक्ति और पुनरुक्ति दोषोसे मुक्त हो अर्थात् उसमे कोई आवश्यक बात छूट न गयी हो, कोई अनावश्यक बात न कही गयी हो और पुष्ट कारणविशेषके विना कोई बात दुहरायी न गयी हो। इस कसौटीपर वर्तमान सहिताओको कसनेसे कोई उपयोगी परिणाम नही निकलता। सपत्नीपर विजय पानेका उपाय दिया हुआ है : क्या यह

बहुत आवश्यक था ? कई रोगोंके, प्रसववेदनाके उपशमके, रुके मूत्रको उतारनेके मन्त्र है : यदि यह बाते आवश्यक मानी भी जायँ तो और बहुत-सी व्याधियाँ क्यो छूट गयी ? एक ही आशयके सैकड़ो मन्त्र मिलते है : यह पुनरुक्ति क्यो की गयी ? यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः पुनरुक्ति नही है, मन्त्रोके गम्भीर अर्थ केवल कोश और व्याकरणसे नही जाने जा सकते। यह बात भले ही यथार्थ हो, पर इसका प्रमाण क्या है ? किसी भी सरल वाक्यका गम्भीर अर्थ लगाया जा सकता है। साधिकारोक्तिका अर्थ यह है कि वेद ऐसी बात कहता है जिसको मनुष्य अपनेसे नही जान सकता था। अमुक यज्ञ करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है—यह इस प्रकारका आदेश है। यह ठीक है कि मनुष्य इस बातको अपनेसे नहीं जान सकता था, परन्तु इसकी सत्यताका क्या प्रमाण है ? यदि वेदमे दिये हुए अन्य आदेश सत्य निकला करते थे तब भी एक बात थी। अमुक इष्टिसे पुत्र होगा, अमुक यज्ञसे धन मिलेगा—यदि तत्तत् यज्ञ-यागका वह फल बराबर मिलता रहता तो भी यह भरोसा होता कि अन्य बाते, स्वर्गपरक आदेश, भी सत्य होगी। परन्तु ऐसी क्रियाओमे इस प्रकारकी फलवत्ता देखी नहीं जाती, इसलिए वेदके आधारपर ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

२. सर्गप्रतिसर्गाधिकरण

ईश्वरके अस्तित्वके पक्षमे जो तर्क उपस्थित किये जाते है उनमेसे कईके मूलमे यह विश्वास है कि जगत्की कभी-न-कभी सृष्टि हुई, परन्तु इस बातका प्रमाण क्या है ? हम वस्तुओका बनना-बिगडना देखते है, इस आधारपर यह अनुमान किया जा सकता है कि जगत्का भी कभी सर्ग हुआ होगा और उसका भी कभी प्रतिसर्ग होगा। परन्तु जिसको वस्तुओका बनना-बिगड़ना कहते है उसमे क्या होता है ? छोटे टुकड़ोंके मिलनेसे बड़े पिण्ड बनते है, बड़े पिण्ड टूटकर छोटे टुकड़ोंमे बिखर जाते हैं, तत्त्वोंके मेलसे मिश्रित पदार्थ बनते है और मिश्रित पदार्थोंके अवयव पृथक् हो जाते है, स्थूलसे सूक्ष्म रूपोमे परिणत हो जाते है, परन्तु ऐसा

कदापि नहीं होता कि जो है वह कुछ नहीं हो जाय, कुछ नहींसे कुछ बन जाय। सत्का असत् नहीं होता, असत्से सत् नहीं निकलता। बनना-बिगड़ना केवल रूपान्तरित होनेका, धर्मपरिणामका नाम है। जो बात छोटे पिण्डोंके लिए है वह समूचे जगत्के लिए भी लागू हो सकती है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुराने तारे, ग्रह, गिरि, सागर आदिका क्षय हो रहा है और नयोंका उदय। जो परिवर्तन थोड़े कालमें नहीं देख पड़ता वह भी दीर्घ कालमें प्रत्यक्षका विषय बन जाता है। यह माना जा सकता है कि कभी ऐसा रहा होगा कि यह नीहारिकाएँ, यह नक्षत्र और ग्रह न रहे हों और फिर एक दिन ऐसा आ सकता है कि न रहें। इसको सर्गप्रतिसर्ग कह सकते हैं पर इसमें उत्पत्ति-विनाशकी कोई बात नहीं है। केवल एक रूपसे दूसरा रूप हुआ है और होगा। किसी बाहरी व्यक्ति या शक्तिको बीचमें लानेकी आवश्यकता नहीं है। जो ऋत, जो स्वभाव, आज परिवर्तन करा रहा है वह आजसे पहिले भी था और बादमें भी रहेगा। उसीने यह रूप दिया, वही दूसरा रूप देगा। हम यह न बतला सकें कि जिसको हम सर्ग कहते हैं उसके पहिले क्या रूप था और जिसको हम प्रतिसर्ग कहते हैं उसके बाद क्या रूप होगा, पर इतना अनुमान कर सकते हैं कि वह सर्गवाला रूप भी पहिला नहीं था, परिणामका फल था और प्रतिसर्गवाला रूप भी अन्तिम न होगा, उसमें भी परिणाम होगा। वह धर्मी क्या है जिसमें इस प्रकार धर्म-परिणाम होता रहता है, यह स्वतन्त्र प्रश्न है जिसपर अन्यत्र विचार होगा। इस विमर्शका यह मथितार्थ निकला कि जिसको हम जगत् कहते हैं वह सदा एक-सा नहीं रहता, रूप बदलता रहता है पर उसका न प्रागभाव था, न प्रध्वंसाभाव होगा, परिणामप्रवाह निरन्तर जारी रहता है। इसलिए उसके आत्यन्तिक उत्पाद और विनाशकी कल्पना निराधार है।

ज्योतिषके विद्वानोंने दृश्यजगत्के स्वरूपका गहिरा अध्ययन किया है। उनको ऐसा लगता है कि जैसे विश्वका विस्तार हो रहा है। इसमेंकी सब वस्तुएँ एक-दूसरेसे दूर होती जा रही हैं। यदि किसी रबरके गेंदपर बहुतसे

चिह्न बना दिये जायँ और फिर गेंदमे धीरे-धीरे हवा भरी जाय तो गेंद बढ़ेगा और उसपरके निशान एक-दूसरेसे दूर होते जायँगे। जो एक-दूसरेसे जितने ही दूर होगे उनकी दूरी उतने ही वेगसे बढती प्रतीत होगी। वस्तुतः यह दूरीका बढ़ना हवा भरनेके वेगपर निर्भर है। तारे और नीहारिकाएँ भी ठीक इसी प्रकार एक-दूसरेसे दूर भागती प्रतीत होती है। जिस क्रमसे विश्व बढ़ रहा है और यह पिण्ड दूर होते जा रहे है वह नापा गया है। आजके स्थानोको देखकर यह गणना की जा सकती है कि सौ वर्ष बाद क्या स्थान होगे और सौ वर्ष पहिले-क्या स्थान रहे होगे। इस प्रकार गणना करनेसे ऐसा विदित होता है कि यह फैलाव लगभग ५,००,००,००,००० वर्ष पहिले आरम्भ हुआ। इसका अर्थ यह है कि उस समय यह सभी पिण्ड एक-दूसरेमे चिपके हुए थे। क्या उस दिनको सर्गका आरम्भ मान सकते है ? यदि आपसमे चिपके थे तो अलगाव क्यो आरम्भ हुआ ? जो शक्ति उनको अब अलग कर रही है वह कहाँ थी ? यदि कहे कि विश्वने बढना आरम्भ किया तो उसी दिनसे यह क्रिया क्यो होने लगी ? कुछ वैज्ञानिक ऐसा मानते है कि उस समय यह सब नीहारिक आदि वर्तमान स्थूल रूपमे न थे। किसी प्रकारका प्रबल विस्फोट हुआ, जिसके फलस्वरूप भाँति-भाँतिके परमाणु बने, परमाणुओके समूह बने, और सब, जैसा कि विस्फोटमे होता है, बिखर गये और दूर होते जा रहे है। फिर भी वही प्रश्न रहता है, उस दिन विस्फोट क्यो हुआ ? किसमे हुआ ? कुछ था, तब तो फूटा, फिर सर्ग कैसा ?

यदि यह पिण्ड दूर होते गये तो एक दिन एक-दूसरेके आकर्षणक्षेत्रके बिलकुल बाहर हो जायँगे। इनकी शक्ति भी क्षीण होती जा रही है। तब क्या दूर होना, फैलाव, बन्द हो जायगा ? यह पिण्ड तो रहेगे, इनका विनाश तो होगा नही। फिर क्या इसे प्रतिसर्ग कह सकते है ? क्या फिर कोई शक्ति प्रकट होगी ? फिर किसी प्रकारका विस्फोट होगा ? फिर इनमे गति होगी ? फिर एक-दूसरेके पास आने लगेगे ? फिर एक दिन टकरायेगे और

इस प्रकार नष्ट हो जायेंगे ? क्या उसे प्रतिसर्ग कहेंगे ? हो सकता है कि उसी विस्फोटसे नया फैलाव आरम्भ हो, प्रतिसर्गके साथ ही सर्ग हो। विज्ञान नयी सृष्टि और पूर्ण विनाशकी बात नही सोच सकता।

३. द्रव्याधिकरण

गुणोके अधिष्ठानको द्रव्य कहते है अर्थात्, द्रव्य वह है जिसमे गुण होते है, जो गुणवाला होता है। जिसके द्वारा एक वस्तु दूसरीसे व्यावर्तित होती है, पहिचानी जा सकती है, उसको गुण कहते हैं। आगे चलकर हमको गुण शब्दका दूसरे अर्थमे प्रयोग करना है इसलिए द्रव्यके प्रसङ्गमे हम लिङ्ग शब्दसे काम लेगे। लिङ्गोकी कोई नियत सूची नही है। विद्वानोने कई बड़ी लम्बी तालिकाएँ बनायी है। इन तालिकाओमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, एकत्व, पृथक्त्व, सयोग, सख्या, परिमाण, आकृति जैसे नाम मिलते है। यह निश्चित है कि इनमेसे कुछ लिङ्गोसे कई तिर्यक् प्राणी भी परिचित है।

लिङ्गोकी सूची देखनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम इनको दो वर्गोमे बॉट सकते है। पहिले वर्गमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध है। इनको हम बराबर सवित् कहते आये है। इनके ही सम्बन्धमे प्रथम खण्डके प्रामाणाध्यायमे यह कहा गया था कि विषय इन्द्रियके द्वारा चित्तमे सवित्रूपसे प्रवेश करता है। जहॉतक शेष लिङ्गोकी बात है उनको ग्रहण करनेके लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय नही है। अतः न उनका संवित् होता है, न प्रत्यक्ष। ऐसी दशामे उनके स्वतन्त्र अस्तित्वका कोई प्रमाण नही है। वह बुद्धिनिर्माण है। संवितोमें सम्बन्ध स्थापित करके चित्त उनकी सृष्टि करता है। यदि किसी मनुष्यके अनुभवमे केवल एक दृग्विषय आये तो उसे एकत्व, सख्या, पृथक्त्व, सयोग आदिका ज्ञान न होगा। कमसे कम दो अनुभूतियॉ हो तब उनको मिलानेसे यह सम्बन्ध बनते हैं, क्योकि इन सब शब्दोके अर्थ सापेक्ष है। परिमाण—छोटाई-बड़ाई, अल्प-महा—भी सापेक्ष होता है। आकृति निरपेक्ष प्रतीत होती

है पर वह भी वस्तुगत नहीं है। जो वस्तु ठीक ऊपरसे देखनेसे समचतुरस्र प्रतीत होती है वही दूरसे दीर्घचतुरस्र लगती है। जो आकृति ऊपरसे गोली प्रतीत होती है वह दूरपर अण्डाकार बन जाती है। बहुत दूरसे दोनो ही रेखावत् प्रतीत होती है। इनमे वस्तुकी अपनी आकृति
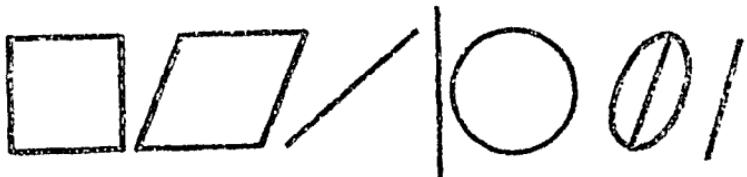
कौन-सी मानी जाय ? विचार करनेसे प्रतीत होगा कि आकृति वह गौण लिङ्ग है जिसका निर्माण बुद्धि रूप और स्पर्शको मिलाकर करती है। बुद्धि-निर्माण चेतोव्यापारके फल हैं अतः वस्तुगत नहीं है। इसलिए द्रव्यस्वरूपके सम्बन्धमे विचार करनेमे हमको केवल शब्द; स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी ओर ध्यान देना चाहिये।

अभीतक हम ऐसा मानते आये है कि सवितोका होना बाह्य वस्तुओ-के अस्तित्वका सूचक है। यह उपयोगी अभिसिद्धान्त है पर अब इसकी समीक्षाका अवसर आ गया है। यदि नाडिसस्थानका वह अंश जो इन्द्रियोके बाहरी अधिष्ठानोसे सलग्न है प्रकम्पित हो तो संवित् होते हैं। ऑखको ॲगुलियोसे दबानेसे, सिरके दीवारसे टकरा जानेसे, हम भॉति-भॉतिके रंगीन गोले, तारे, फूलझडीको देख सकते हैं। बिजलीसे भी ऐसा प्रकम्पन उत्पन्न किया जा सकता है। स्वप्नमे बहुत-कुछ देख पड़ता है, बहुत-कुछ सुन पड़ता है। किसी-किसी वायुरोगमे नाना प्रकारके चलाचल दृश्य देख पड़ते है और शब्द सुन पडते है। किसी-किसी कर्णशूलमे सङ्गीत सुन पड़ता है। सवित् होनेके नाते इन सवितोका पद किन्ही दूसरे सवितोसे छोटा नहीं है। तो फिर क्या इनको वस्तुसत्ताका सूचक माना जा सकता है ? यदि माना जाय तो जगत् अवस्तु हो जायगा क्योंकि एक तो जिस जगत्का अनुभव एक व्यक्तिको होगा उसी देश-कालमे उसका अनुभव दूसरे व्यक्तिको नही होगा; दूसरे, उसी व्यक्तिके लिए जाग्रत् और स्वास्थ्यवाला

जगत् स्वप्न और रोगवाले जगतोको बाधित कर देगा और स्वप्न तथा रोगवाले जगत् जाग्रत् और स्वास्थ्यवाले जगत्को बाधित कर देगे। यदि हम कहे कि हम इन सवितोको वस्तुसत्ताका सूचक नही मानते, तो न माननेका हमको क्या अधिकार है? यदि यह कहा जाय कि यह सवित् थोड़ी देरतक और विशेष अवस्थाओमे ही होते हैं इसलिए अमान्य है तो प्रश्न यह होगा कि देरतक होना क्यो मान्यताके लिए आवश्यक है? यदि किसीने अपने जीवनमे एक ही बार शक्करको चखा तो क्या उसके लिए शक्करका स्वाद अमान्य होगा और उसको शक्करके अस्तित्वको अस्वीकार करना चाहिये? विशेप अवस्थाका अनुभव क्यो अस्वीकार्य है? नाड़िसंस्थानका क्षोभ उभय दशामे होता है; एक अवस्थामे हमको सूर्य देख पड़ता है, दूसरीमे पिशाच। पिशाच भी उतना ही सत्य है जितना कि सूर्य। ऐसा क्यो नही माना जा सकता कि जगत्मे सूर्य भी है और पिशाच भी? साधारणतः नाड़ियोमे उस प्रकारका कम्पन नही हो पाता जिससे पिशाचका प्रत्यक्ष हो सके। विशेष अवस्थामे उनमे उस नाप-तौलका प्राण-सञ्चार होता है जिससे प्रेत-दर्शनके उपयुक्त कम्पन हो सके। इसको यो कहना अधिक अच्छा होगा कि शरीरकी विशेप अवस्थाओमे ही पिशाच चक्षुरिन्द्रिय द्वारसे चित्तमे सवित् रूपसे प्रवेश कर सकता है। यदि साधारण अवस्थामे जो देख पड़े वही मान्य हो तो फिर दूरबीन जैसे यन्त्रोका प्रयोग अवैध हो जायगा।

कुछ सवितोको वस्तुसत्ताका सूचक न माननेके पक्षमे यह हेतु दिया जाता है कि सर्वमान्य नही होते अर्थात् उसी देशकालमे सबको नही होते। परन्तु जो अनुभूति सर्वमान्य हो वही क्यो मान्य हो? क्या कोई माता अपने बच्चेको इसलिए प्यार करना छोड़ देती है कि कोई दूसरा उसको प्यार करने योग्य नही समझता? बहुतसे सूक्ष्म गन्धो, स्वादो और स्वरोका अनुभव थोड़े लोगोको ही होता है परन्तु इस हेतुसे उनकी सत्ता अमान्य नही होती। कमलके फूलका रंग दिनमे कुछ होता है, रातमे दीपकके प्रकाशमे कुछ और। जिसने रातमे फूल देखा है वह रङ्गके विषयमे

उन लोगोकी बात क्यो मान ले जिन्होने दिनमे देखा है ? जिन दूसरे लोगोके सवित् मेरे सवितोको मान्यता प्रदान करनेवाले है उनकी सत्ताका मेरे लिए क्या प्रमाण है ? मेरे लिए तो वह लोग सवित् मात्र है। मुझको 'ट'का सवित् हो रहा है; क, ख, ग को ऐसा सवित् नही हो रहा है। मुझसे कहा जाता है कि तुम अपने सवित्का विश्वास मत करो क्योकि क, ख, ग उसका समर्थन नही करते। परन्तु मेरे लिए तो क, ख, ग भी सवित् है। मै क्यो अपने उन सवितोका विश्वास करूँ जिनसे क, ख, ग के अस्तित्वकी सूचना मिलती है और उस सवित्का विश्वास न करूँ जो 'ट'के अस्तित्वका सूचक है? इसका एक ही उत्तर है। कुछ सवित् ऐसे है जिनको विश्वसनीय अर्थात् वस्तुसूचक मान लेनेसे हमको व्यवहारमे सुविधा होती है। भोगके लिए जो चेष्टा की जाती है उसका नाम व्यवहार है। जो सवित् भोगोपयोगी होते है वह वस्तुसूचक माने जाते है, शेषका हम परित्याग कर देते है।

चित्तपर एक ओर वासनाओका प्रहार हो रहा है, दूसरी ओर सवित् उठ रहे है। उसकी दशा उस रस्सीके समान है जिसके दोनो सिरे खिच रहे है। यदि वासना और सवित्मे सामञ्जस्य स्थापित न हो सका तो रस्सी टूट जायगी, चित्त पागल हो जायगा। सौभाग्यसे सामञ्जस्य करना कठिन नही है। वासनाओकी तृप्ति सवितोसे होती है। यह मानना भूल है कि वासनाको भोगके लिए वस्तु चाहिये। किसी-न-किसी स्पर्श या गन्ध या रूप या रस या शब्दकी चाह होती है। परन्तु अस्त-व्यस्त सवितोसे काम नही चलता। चित्त इनको छाँटता है, जो भोगानुकूल होते है उनके गुच्छे बनाता है, इस प्रकार उनको पृथक् करता है। यह वर्गीकरण चेतोव्यापार है। वस्तुस्थितिमे संवित् इस प्रकार विभक्त नही है, एक-दूसरेसे सम्बद्ध नही है। भीड़मे सैकडो मनुष्य जा रहे है। सब एक-दूसरेसे अलग है परन्तु मोची अपने सुभीतेके लिए उनको नगे पाँववाले, नये जूतोवाले और फटे जूतोवाले, तीन वर्गोमे बाँट लेता है।

सवित् चित्ततन्त्र नही है। कभी होते है, कभी नही होते। इसलिए

चित्तको ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक संवित्का कोई-न-कोई हेतु होगा, 'कुछ' होगा जो उस संवित्को उत्पन्न करता है। वह यही नही रुकता, एक कदम और आगे जाता है। ऐसा मान लेता है कि जिन सवित्-गुच्छोको उसने चुना है उनके भी हेतु होगे, कुछ वस्तुएँ होगी जो उनको उत्पन्न करती होगी। इन हेतुओकी द्रव्य संज्ञा की जाती है। सुभीतेके लिए प्रत्येक द्रव्यका नामकरण किया जाता है, पर यह सिद्ध है कि द्रव्य अवस्तु है, उसकी कोई सत्ता नही है। सवितोके कृत्रिम गुच्छोके हेतु भी अलीक, बुद्धिनिर्माणमात्र ही हो सकते है।

एक उदाहरण लीजिये। हम कहते है कि दूध ऐसा द्रव्य है जिसमे मीठा स्वाद, श्वेत रङ्ग, तरलता आदि लिङ्ग पाये जाते है। पहिली बात तो यह है कि यह लिङ्ग सवितोसे अभिन्न है। मीठा स्वाद सवित् है, श्वेत रंग संवित् है, तरल स्पर्श सवित् है। यदि चित्त न हो तो न स्वाद होगा, न रङ्ग, न स्पर्श। तो फिर दूधके सब लिङ्ग तो चित्तके सवित्विशेष है, लिङ्गोका आश्रय, लिङ्गी, क्या है? निश्चित रूपसे तो इतना ही कहा जा सकता है कि हम अपने सुभीतेके लिए इन तीनो संवितोको दूसरे सवितोसे अलग करके दूधका नाम देते है अतः

मीठा रस + श्वेत रूप + तरल स्पर्श = दूध

जब हम यह कहते है कि दूध मीठा होता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम दूध नामक द्रव्यके किसी लिङ्गविशेषको बतला रहे है, परन्तु वस्तुतः हम उन सवितोमेसे, जिनकी समष्टिको हमने दूध नाम दे रखा है, एकका उल्लेख कर रहे है। 'दूध मीठा होता है' कहनेका तात्पर्य है मीठा रस + श्वेत रूप + तरल स्पर्श मीठा होता है। मिठास तो उन तीन संवितोमे है ही जिनका सम्मिलित नाम दूध है अतः 'दूध मीठा होता है' कहनेसे हमारे ज्ञानमे कोई वृद्धि नही होती। इससे सिद्ध है कि हमारे सवितोसे पृथक् द्रव्यका अस्तित्व नही है। वह बुद्धिनिर्माण है।

द्रव्यकी दूसरे प्रकारसे भी परिभाषा की जाती है। जिसमे अवस्था-परिणाम होता है, जो बदलता रहता है, जो परिवर्तनका आश्रय है, वह

द्रव्य है, ऐसा कहा जाता है। यहाँ परिणाम, बदलना, परिवर्तन शब्दोंका प्रयोग विचारमें बाधक होता है क्योंकि यह सब किसी परिणामीकी विवक्षा रखते हैं। इनको छोड़कर उदाहरणके द्वारा विचार कीजिये। हम कुण्डल, कड़ा, अँगूठी, कटोरीको जानते हैं क्योंकि यह सब संवित् रूपसे हमारे चित्तमें आते हैं; घड़ा, सर्पिल, ठीकरा भूमिके संवित् होते हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त धर्मोंकी सत्ताका क्या प्रमाण है? सोने या मिट्टीका अस्तित्व क्यों माना जाय? ऐसा कहना निराधार है कि कोई द्रव्यविशेष है जो कुण्डलादिमें परिवर्तित होता रहता है। हम संवितोंके एक गुच्छेको कुण्डल, दूसरेको कड़ा, तीसरेको अँगूठी कहते हैं। इन संवितोंका सन्तुलन करनेसे कुछ समता प्रतीत होती है, कुछ संवित् बार बार आते हैं। अतः उनमें सम्बन्ध जोड़कर चित्त सोनेकी कल्पना करता है। यों कह सकते हैं कि कुण्डलादि गुच्छोंमें जो संवित समान रूपसे पाये जाते हैं उनका चित्तने एक पृथक् गुच्छा बना लिया है और उसे सोना नाम दे दिया गया है। इसके बाद यह कहा जाता है कि सोना धर्मी है, कुण्डलादि उसकी अवस्थाएँ हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि संवितोंके बाहर द्रव्यकी सत्ता नहीं है, वह बुद्धिनिर्माण है।

हम प्रथम खण्डमें कई जगह 'वस्तुस्वरूप' शब्दका प्रयोग कर आये हैं। इस अधिकरणके अन्तमें यह परिणाम निकलता है कि संवितोंसे अलग न वस्तु है, न वस्तुस्वरूपका प्रश्न उठ सकता है।

४. भूताधिकरण

द्रव्योंकी जितनी भी सूचियाँ मिलती हैं उनमें महाभूत या भूतका नाम रहता है। कोई भूतको एक मानता है, कोई पाँच भूतोंकी सत्ता मानता है। भूत वह है जो इन्द्रियोंके द्वारा चित्तमें संवित् उत्पन्न करता है। भारतीय विद्वानोंने भूतोंकी संख्याको नामका अंग-सा बना दिया है, यहाँतक कि यदि यूरोपीय 'मैटर' शब्दके लिए पर्याय लिखना हो तो पञ्चभूत संज्ञाका प्रयोग किया जाता है। भूतका एक पर्याय तत्त्व भी है,

परन्तु इसको उन अमिश्र पदार्थोंकी संज्ञाके लिए अलग कर रखना अच्छा है जो रासायनिक क्रियाओंमे भाग लेते हैं। भूतोंके नाम क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश है। क्षितिसे पाँचो प्रकारके संवितोंका, अपसे गन्ध छोड़कर शेष चारका, तेजसे गन्ध और रस छोड़कर अन्य तीनका, वायुसे स्पर्श और शब्दका, तथा आकाशसे केवल शब्द संवित्का होना माना जाता है। क्षितिका अर्थ मिट्टी और उसके प्रस्तरादि भेद, अपका जल, तेजका आग, वायुका हवा और आकाशका क्षितिजसे क्षितिजतक फैला हुआ नीला वितान या हवासे भी पतला कोई तरल पदार्थ मानना अशास्त्रीय है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भूत दिग्वर्ती होते है अर्थात् दिक्में जगह घेरते हैं।

रासायनिक प्रयोगोसे यह देख पड़ता है कि लगभग नब्बे या छानवे ऐसे पदार्थ है जिनके एक-दूसरेसे मिलनेसे वह सब वस्तुएँ बनती है जो सामान्यतः इन्द्रियग्राह्य है। इनको तत्त्व कहते है। तत्त्व अमिश्र है, क्योंकि इनका रासायनिक विश्लेषण करके इनमेंसे पदार्थान्तर नही मिलता। यह सम्भव है कि आगे चलकर इनमेंसे भी कुछ मिश्र सिद्ध हो जायँ, तब उनका नाम तत्त्वोकी सूचीसे निकल जायगा। यह भी सम्भव है कि ऐसे उपाय उपलब्ध हो जायँ जिनसे एक तत्त्वसे सब तत्त्वान्तर बन सकें। तत्त्व वह सामग्री है जिससे समस्त इन्द्रियग्राह्य जगत् बना है। मिट्टी, पर्वत, जल, हवा, औषधि, प्राणियोंके शरीर, खनिज तथा ग्रह, नक्षत्र, सभी इन तत्त्वोसे बने है। तत्त्व और मिश्र पदार्थोंके समुदायका नाम क्षिति है। ऐसे कई तत्त्व और मिश्र पदार्थ है जिनसे साधारणतः पाँचो प्रकारके संवितोकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु ऐसा मानना असमीचीन नही है कि प्रत्येकमे प्रत्येक प्रकारकी संवेद्यता रहती है। हवामे यो न रस है, न रूप, परन्तु वैज्ञानिक उपायोसे उसको ठोस बनाया जा सकता है। उस अवस्था-मे वह रूप और रसयुक्त प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार बहुत-सी वस्तुओंमे गन्ध नही मिलती। यह हमारी नाककी बनावटका फल है। कुत्तो तथा कई अन्य प्राणियोंको ऐसी वस्तुओंमे गन्धकी अनुभूति होती

है जो साधारणतः मनुष्यके लिए निर्गन्ध है।

तत्त्वके सबसे छोटे टुकड़ेको परमाणु कहते है। परमाणुकी छोटाईका अनुमान नीचेके अकोसे किया जा सकता है—

परमाणुका व्यासार्द्ध$=\frac{१०^{-८}}{२\text{'}५४}$ इंच

(=१ इञ्चका लगभग १ खर्बवॉ भाग

हाइड्रोजनतत्त्वके परमाणुका गुरुत्व=१'६५ × $१०^{-२४}$ ग्राम

(१ ग्राम = लगभग ८½ रत्ती)

इसका तात्पर्य यह है कि एक रत्तीमें हाइड्रोजनके जितने परमाणु हैं उनकी संख्या बतानेके लिए सात लिखकर उसके पीछे छब्बीस शून्य लिखने पड़ेगे। हमने हाइड्रोजनके परमाणुका गुरुत्व दिया है। सब तत्त्वोके परमाणुओके गुरुत्व बराबर नही होते। हाइड्रोजन सबसे हल्का होता है। परमाणु-रूपसे ही तत्त्व रासायनिक क्रियाओमे सम्मिलित होते है। परमाणुओके मिलनेपर तत्त्वोके समूह और मिश्र द्रव्य बनते है और मिश्र द्रव्य तथा तत्त्वसमूह टूटकर फिर परमाणु रह जाते है। परमाणुओकी सम्मिलित सज्ञा अप है।

रासायनिक क्रियाओमे अविभक्त रहते हुए भी परमाणु वस्तुतः अविभक्त नही है। इतना छोटा-सा कलेवर है पर वह भी छोटा-सा जगत् है। बीचमे ऋण-विद्युन्मय कण, उसके चारो ओर एक या अधिक धन-विद्युन्मय कण घूमते रहते है। सभी परमाणुओंके ऋण और धन-विद्युत्कण एक-से होते हैं। कणोकी सख्यापर ही तत्त्व-तत्त्वका भेद निर्भर करता है। इस विद्युत्कणावस्थाको तेज कहते हैं।

क्षिति, अप और तेजमे गुरुत्व होता है। इनसे परे चौथा भूत वायु है। वायुका पर्याय शक्ति है। विद्युत्, ताप, प्रकाश, रासायनिक शक्ति, मांस-पेशियोकी शक्ति, पाचन शक्ति सब वायुके भेद है। वायु गुरुत्वहीन है। पिण्डीभूत वायु तेजरूप धारण करती है, तेज टूटकर वायुरूप हो

जाता है। पाँचवाँ भूत आकाश रह जाता है। उसके सम्बन्धमे हम दिक्स्वरूपाधिकरणमे विचार करेंगे।

भूतोका यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। तेज और वायुके सम्बन्धमे आज विज्ञान जो कुछ कहता है वह आश्चर्यजनक है। सम्भवतः आगे चलकर इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बातोका पता लगेगा। वायुके भेदोंमे विद्युत् सबसे सूक्ष्म है। वह अभीतक ऋण और धन दो प्रकारकी मानी जाती थी। अब ऐसा सोचा जाने लगा है कि वस्तुतः विद्युत् केवल ऋणात्मक है; उसके विभुविस्तारमे कही-कही रिक्त स्थल है। वही हमको धन-विद्युत्की प्रतीति होती है। विद्युत्कण छोटे भौतिक पिण्ड है परन्तु उनका व्यवहार कुछ प्रयोगोमे तरङ्गो जैसा होता है। दूसरी ओर विद्युत्की तरङ्गोंका भौतिक कणोपर कण जैसा आघात होता है और उसकी भी ऐसी बँधी मात्राएँ होती है जिनको भौतिक कणोकी भाँति विद्युल्लव कह सकते है। इन सब शोधोका परिणाम यह हुआ है कि यह कहना कठिन है कि जगत्की आदिम वस्तु तरङ्ग है या कण है या उभयात्मक है। एक वैज्ञानिक मत यह है कि यह जगत् मनःप्रसूति है। सम्भावनाकी महाराशि तरङ्गित होती रहती है। यह तरङ्गे ही भौतिक वस्तु और घटनाएँ है।

अबतक जो कुछ कहा गया है वह इस समयतककी वैज्ञानिक खोजका निचोड़ है। जिसको इस विषयमे अभिरुचि हो उसको एतत्सम्बन्धी भौतिक विज्ञानकी पुस्तके पढ़नी चाहिये। अभी तेज और वायुके सम्बन्धमे बहुत शोध करना है। बहुत सम्भव है कि आगे चलकर जो शोध हो उसके फलस्वरूप वैज्ञानिक मतमे बहुत परिवर्तन हो जाय। दर्शनका स्वसिद्धान्त आगे चलकर भूतविस्ताराधिकरणमे दिखलाया गया है। उस सीमाके भीतर विज्ञानका जो भी मत होगा, दार्शनिक उसका आदर करनेको तैयार होगा।

यह भौतिक विज्ञानका क्षेत्र है, दर्शनका निजी क्षेत्र नहीं। शुद्ध दार्शनिक दृष्टिसे इन बातोका महत्त्व यही है कि इनसे उस कथनका निदर्शन मिलता है जो हम पिछले कई अधिकरणोमे, विशेषतः

द्रव्याधिकरणमे, साग्रह करते आये है।

हम क्षिति, अप, तेज और वायुके सम्बन्धमे क्या जानते है? तारा, ग्रह, गिरि, सागर, तत्त्व, परमाणु, विद्युत्कण, विद्युत्, ताप, प्रकाश, वायु, प्राकृतिक नियम और सिद्धान्तकी सत्ताका क्या प्रमाण है? इन प्रश्नोका एक ही उत्तर है, हमारे संवित्। वेधालय और प्रयोगशालामे लाखो रुपये लगाकर बारीकसे बारीक यन्त्र बनाये जायँ परन्तु उनसे काम लेनेपर प्रयोक्ता-को कुछ सवित् ही मिलते है: नलीमे पारा चढ़ता देख पड़ा, अमुक यन्त्रमे रखी सूई इधरसे उधर हिली, प्रकाशका बिन्दु इतना हट गया, इत्यादि। सवित्का होना विवादका विषय नही है। बस इतना समझ लेना चाहिये कि इन सवितोके बीचमे जो सम्बन्ध स्थापित किये जाते है, सवित् क्यो और कैसे होते है यह समझनेके लिए जो बाते आवश्यक प्रतीत होती है, वह अवस्तु हैं। समझदार वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानता है। वह जानता है कि सवित् मात्रकी सत्ता तो प्रत्यक्षका विषय है परन्तु उनके आधारपर जो सिद्धान्त या अभिसिद्धान्त खड़े किये गये हैं या होगे वह बुद्धिनिर्माण है और होगे। अन्य द्रव्योकी भाँति भूतोकी पारमार्थिक सत्ता असिद्ध है।

५. भूतवादाधिकरण

वायु, तेज, अप और क्षितिके समुच्चयको चतुर्भूत कह सकते है। वैज्ञानिकोका विश्वास है कि इनमे वायु आदिम रूप या मूल अवस्था है। वायुका स्वरूप विद्युत् या इससे भी कोई सूक्ष्म भेद है, यह बात शोधा-पेक्षी है। यह भी हो सकता है कि शोधसे वायुसे भी सूक्ष्म किसी भूतभेद-का पता चले। पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि कोई-न-कोई ऐसा भूत होगा जिससे क्रमात् और भूत निकले होगे। उसे मूलभूत कह सकते है। यह मूलभूत जगत्के उस सारे प्रपञ्चका मूल या मूलावस्था होगा जिसका ज्ञान हमको आज सवित् रूपसे हो रहा है। यदि एकसे अधिक प्रकारके मूलभूतोका अस्तित्व वैज्ञानिक दृष्टिसे सिद्ध हो तब भी हमारे तर्कमे कोई

अन्तर न पड़ेगा। मूलभूतका स्वभाव परिवर्तनशील है। वह इस स्वभावकी अन्तःप्रेरणासे अवस्थासे अवस्थान्तरमे परिणत होता हुआ आज इस विशाल जगत्‌के रूपमे आ गया है। परिणाम होता तो बराबर रहता है परन्तु इतने धीरे-धीरे होता है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओमे बहुत भेद नही होता। काल पाकर इन छोटे-छोटे परिवर्तनोका योग हमको नयी अवस्थाके रूपमे प्रतीत होता है। पानी जब गरम होने लगता है तो हमको पहिले पानीके रूपमें ही प्रतीत होता है परन्तु जब तापवृद्धिकी मात्रा सीमा-विशेषतक पहुँच जाती है तो पानीका स्थान भाप लेती है। इस प्रकारके क्रमिक परिवर्तनको 'मात्राभेदसे लिङ्गभेद' कहते है। दूसरी अवस्था पहिली अवस्थाकी प्रतियोगी, उससे विपरीत होती है, परन्तु परिवर्तनक्रम वहीं नहीं रुक सकता। वह और आगे बढता है और मात्राभेदसे लिङ्गभेद होकर तीसरी अवस्थाका उदय होता है जो दूसरीकी प्रतियोगी होती है और इस प्रकार पहिलीकी प्रतियोगीकी प्रतियोगी होती है। इसको यो कहते है कि पूर्वावस्था, तत्प्रतिषेध, प्रतिषेधका प्रतिषेध—इस क्रमसे अवस्था-परिणामका प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है वह सर्वथा नष्ट नही होती, अपने प्रतिषेधकमें अपने संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्तीमे प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तनकी इस प्रक्रियाको द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते है। परिवर्तनका क्रम अन्यथा भी सोचा जा सकता है परन्तु औरोकी अपेक्षा यह प्रक्रिया अधिक पुष्ट और विस्तृत है। इसको सिद्धान्तरूपसे उपस्थित करनेका श्रेय मार्क्सको है। यह न भूलना चाहिये कि मार्क्सके विचारके अनुसार सभी धर्मियोके धर्म-परिवर्तन इस प्रक्रियाके अनुसार होते है। मार्क्सने इस प्रक्रियाका ग्रहण हीगेलसे किया था। भेद यह था कि हीगेल ऐसा नही मानते थे कि जगत्‌की आदिम अवस्था किसी प्रकारके मूलभूतसे आरम्भ हुई थी।

मूलभूतकी सत्ताको स्वीकार करते हुए ऐसा माना जा सकता है कि आदिम अवस्थामे उसके साथ-साथ किसी प्रकारका चेतन, कोई द्रष्टा भी था। ऐसा मानना कपिलके मतका भेदविशेष होगा। परन्तु कई ऐसे

दार्शनिक है जिनका यह मत है कि जगत्का मूल केवल अचेतन भूलभूत है। अपनी स्वाभाविक नोदनासे परिवर्तित होता हुआ उसने अनेक रूप धारण किये। उसकी विभिन्न अवस्थाओमेसे चेतना भी एक है। परिणाम-क्रम बहुत आगे बढ़ जानेके बाद जब पृथिवीका तापमान अनुकूल हुआ और नदी-समुद्रादि बन चुके उस समय चार-पॉच तत्त्वोके मिलनेसे एक ऐसा मिश्र पदार्थ बना जिसमे चेतना नामक लिङ्ग था। अनुकूल परिस्थिति-मे जिस मिश्र पदार्थका विकास हुआ, वह आज हमको वनस्पति, कीटाणु, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य रूपमे देख पड़ रहा है। इन सबमे चेतना है। जिस समय उस मिश्र पदार्थके अवयवभूत तत्त्व बिखर जाते है, शरीर मृत हो जाता है, चेतना नष्ट हो जाती है। इस मिश्र पदार्थको जो कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन, गन्धक और फास्फरसके मिलनेसे बना है, सत्त्वमूल, प्रोटोप्लाज्म कहते हैं।

इस मतको भूतवाद कहते है, अचेतनवाद भी कह सकते है। भारतमे इसको सबसे पहिले चार्वाकने उपस्थित किया था। आज वैज्ञानिक शोधोके आधारपर इसके प्रतिपादनमे स्वभावतः पहिलेकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक शब्दावलीसे काम लिया जाता है।

हम पिछले अधिकरणमे भूतोकी सत्ताके सम्बन्धमे विचार कर चुके है। बड़ा क्षेत पिण्ड हो या मूलभूत हो, या तो वह संवित् उत्पन्न करता है या नही करता। यदि नही करता तो वह परिभाषाके अनुसार भौतिक नही है। यदि करता है तो हमारे पास उसकी सत्ताका एतावत् मात्र प्रमाण है। संवित् है यह निर्विवाद है। संवितोके बीचमे जो प्रक्रियारूपी सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह बुद्धिनिर्माण है। अभिसिद्धान्तके रूपमे उसकी उपादेयता अगीकार की जा सकती है, पर यह बात भुलाई नही जा सकती कि कोई भी अभिसिद्धान्त या सिद्धान्त हो उसकी पदवी बुद्धि-निर्माणसे अधिक नही है।

मूलभूत भूत है, अतः उसकी सत्ताके सम्बन्धमे वही तर्क लागू होगा जिसका अनुसरण पिछले दोनो अधिकरणोमे किया गया है। हम संवित्

मात्रको जानते है, क्षिति, अप, तेज, वायु, भूत, मूलभूत यह सब बुद्धि-निर्माण है।

भूतवादी कहता है कि आदिम अवस्थामे मूलभूत था परन्तु चेतन न था। इस कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि दृश्य था परन्तु द्रष्टा न था। यह अकल्प्य है। न दृश्यके विना द्रष्टा हो सकता है, न द्रष्टाके विना दृश्य। यदि चेतन नही था, अस्मत् नही था, तो मूलभूत भी नही था, युष्मत् भी नही था। यदि संवित्का कोई ग्रहण करनेवाला नही था; तो संवित् हो नहीं सकते थे। संवितोंसे पृथक् भूतसत्ता हो नहीं सकती, इसलिए उस अवस्थामे मूलभूत भी नहीं था। भूतवाद अमान्य है। जगत्की जो कोई भी अवस्था ली जाय वह द्रष्टृदृश्यात्मक होगी। जो लोग भूतवादको ग्रहण करते है वह विज्ञानकी असमीचीन मीमांसा करते है। वह भूल जाते है कि विज्ञान जिन कम्पन, वेग, विद्युत्, रासायनिक योग आदिकी चर्चा करता है वह सब बुद्धिनिर्माण है।[1]

८. कार्यकारणाधिकरण

कार्यकारणवादका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक घटना, प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई कारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी पदार्थ अहैतुक, निष्कारण, असम्बद्ध नहीं होता। यह कार्यकारण-शृङ्खला अनादि है। हम इस विषयमे प्रथम खण्डमे विचार कर चुके है परन्तु यहाँ उस विचारको और विशद करना उचित प्रतीत होता है। यदि दो वस्तुओ या घटनाओमे यह बात देखी जाय कि एक दूसरीसे नियत रूपसे पहिले आती है तो पहिले आनेवालीको कारण और पीछे आनेवालीको कार्य कहते है। यदि कारणकार्य-निर्देशका इतना ही तात्पर्य है कि अमुक अनुभव पहिले, अमुक पीछे होता है तो किसीको आपत्ति नही हो सकती। क सदा ख के पहिले आता है कहनेके स्थानमे यह कहा जा सकता है कि क कारण है, ख कार्य है। पर जो लोग इन शब्दोका प्रयोग करते हैं

१. इस सम्बन्धमे विस्तृत विचार अगले अध्यायके देहात्मवादाधिकरणमें होगा।

यह इनको केवल पूर्वापरके अर्थमे नही बोलते, उनका तात्पर्य यह होता है कि वस्तुओ और घटनाओमे एक प्रकारका वास्तविक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध केवल पूर्वापरका नही है। आकाशमे पहिले आर्द्रा नामक तारा देख पड़ता है, तब पुनर्वसु, परन्तु आर्द्रादर्शन पुनर्वसुदर्शनका कारण नहीं माना जाता। दोनोमे कोई सम्बन्ध नही है। आकाशमे दोनो युगपत् विद्यमान है परन्तु पृथिवीका अक्षभ्रमण ऐसा है कि हम दोनोको एक साथ नही देख सकते। इस उदाहरणमे पौर्वापर्य आकस्मिक है अर्थात् वस्तुगत नही है। परन्तु जहाँ वस्तुगत पौर्वापर्य होता है वहाँ भी ऐसा हो सकता है कि कार्यकारण-सम्बन्ध न हो। कोई कर्मठ व्यक्ति अग्निमे आहुति डालकर तब भोजन करता है। परन्तु आहुति डालना भोजन करनेका कारण नही कहा जा सकता। इसलिए कारण उसीको कहा जाता है जिसमे नियतपूर्ववर्तित्वके साथ-साथ अविनाभाव भी हो। यदि दो वस्तुओ या घटनाओमे एक नियत रूपसे पहिले आती हो और उसके बिना दूसरी न होती हो तो उसको कारण और दूसरीको कार्य कहेगे। केवल अविनाभावका नाम लेना पर्याप्त नहीं है। दोनो कालोमे अविनाभाव है परन्तु इनमेसे एक दूसरेका कारण नही है। दही बननेके पहिले दूध भी था और कमलका फूल भी, परन्तु दूधके बिना दही नहीं बन सकता, कमलपुष्पके बिना बन जाता है। इसलिए दूधको कारण, दहीको कार्य कहते है।

हम प्रथम खण्डके सातवे अध्यायमे देख आये है कि ऐसा माननेमे कि कारणद्रव्यसे कार्यद्रव्य नामकी किसी नयी वस्तुकी, ऐसी वस्तुकी जिसका पहिले अभाव था, उत्पत्ति होती है, कई अड़चने पड़ती है। यह माननेमे सुभीता होता है कि कार्य बीजरूपसे कारणमे पहिलेसे विद्यमान था। यदि ऐसा न माना जाय तो अवस्तुसे वस्तुकी, असत्से सत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। परन्तु अभी कार्यकारण-विषयक सब अड़चने दूर नही हुई। कपडेका कारण सूत है क्योकि सूतमे कपड़ेके प्रति अविनाभाव है। तो यह कारणत्व क्या प्रत्येक सूतमे है अर्थात् क्या प्रत्येक

सूत कपड़ेका कारण है? ऐसी दशामे एक सूतसे भी कपड़ा मिलना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। सूत जब तानेबानेके ढङ्गपर एक विशेष प्रकारसे संव्यूढ किये जाते है तब कपड़ा मिलता है। तब क्या यह सव्यूहन कपड़ेका कारण है? यदि ऐसा होता तो लोहेके तारोमे ऐसा सव्यूहन लानेसे कपड़ा मिलता पर यह भी नही होता। यदि यह कहा जाय कि संव्यूढ सूत कपड़ेके कारण है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो कारणत्व पहिले असत् था वह सूत और संव्यूहनके योगसे उत्पन्न हो गया। यह तो असत्से सत्की उत्पत्ति हुई जो अमान्य है। यदि कहे कि न सूत कारण है न संव्यूहन वरन् दोनोका योग कारण है और योग सत् है इसलिए कपड़े-की उत्पत्ति सत्से सत्की उत्पत्ति है तो भी काम नही चलता। पहिली बात यह है कि यदि योग सत् है तो उसका कारण क्या है? प्रागभावके पहिले और प्रध्वंसाभावके बाद वह कहाॅ रहता है? फिर योग और कपड़ेमे पौर्वापर्य नही है। दोनोका जन्म एक साथ होता है। यदि पहिले योगकी अनुभूति होती तो योगको कपड़ेका कारण कह सकते थे। अतः कपड़ेका कारण न सूत है, न सव्यूहन है, न सूत और सव्यूहनका योग है। कपड़ेका जन्म बिना कारणके होता है। परन्तु ऐसा माननेसे स्वपक्ष हानि होती है।

इन शङ्काओकी निवृत्ति यो हो सकती है कि यह माना जाय कि प्रत्येक सूतमे वस्त्रकारणत्व है। कपड़ा वह द्रव्य है जिसका लक्षण है देह ढाॅकना। जितना बड़ा कपड़ा होता है उतना ही बड़ा अंश देहका ढॅकता है। देहके छोटेसे प्रदेशको सूत भी ढॅक सकता है। जिस अवस्थामे वह ऐसा करता है उस अवस्थामें वह कपड़ा है। संव्यूहन कोई नयी वस्तु नही बनाता, सूतोमे जो कपड़ारूपी कार्य पहिलेसे विद्यमान रहता है उसको व्यक्त कर देता है अर्थात् व्यक्त होनेका अवसर देता है। कपड़ा प्रत्येक सूतमें और सूतोके समुच्चयमे समवेत है। यो भी कह सकते है कि रूईका ढेर, सूतोका ढेर, कपड़ा वह धर्मपरिणाम हैं जिनकी अभिव्यक्तिमे कातने और बुननेकी क्रियाओसे सहायता मिलती है। यह क्रियाएॅ वह अवस्था उत्पन्न कर देती हैं जो इस प्रकारके धर्मपरिणामोके अनुकूल होती है।

इस विमर्शका मथितार्थ यह निकला कि नियत पूर्ववर्तित्व और अविनाभाव इस बातका सूचक है कि असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। जिसे कार्यद्रव्य या नया धर्म कहा जाता है वह कारणद्रव्य या धर्मोंमें पहिलेसे विद्यमान रहता है।

हम द्रव्याधिकरणमें द्रव्य और धर्मोंके विषयमें विचार कर चुके हैं। वहाँ हमने देखा है कि हमारे संवितोंके बाहर द्रव्य या धर्मोंकी कोई सत्ता नहीं है। कारणद्रव्य भी संविद्रूपी है और कार्यद्रव्य भी संविद्रूपी है, प्रत्येक धर्म भी संविद्रूपी है। संवितोंके होनेको हम बराबर निर्विवाद मानते आये हैं, परन्तु उनके बीचमें जो सम्बन्ध प्रतीत होते हैं वह बुद्धि-निर्माण है। सम्बन्ध जातीय होनेसे कारण-कार्यपरम्परा भी बुद्धिनिर्माण है। जब हम कारणकार्यकी बात करते हैं तो हम निश्चित रूपसे इतना ही कह सकते हैं कि अमुक संवित् अमुक संवित्‌के पहिले हुआ करता है।

हम पहिले कई बार कह आये हैं कि चेतोव्यापारका निमित्त द्रष्टाका भोग होता है। जिन संवितोंका प्रवाह निरन्तर जारी है उनमेंसे कुछ भोग-साधक, कुछ बाधक, कुछ उदासीन होते हैं। जो साधक होते हैं चित्त उनका संग्रह करना चाहता है, जो बाधक होते हैं उनको दूर रखना चाहता है। यदि दो संवितों या संवितोंके दो गुच्छोंमें एक-दूसरेसे बराबर पहिले आता हो तो वह उस दूसरेका प्रतीक या चिह्न-सा बन जाता है। भोग होगा या न होगा इसका पूर्वाभास मिल सकता है। इस प्रकार दो संवितों या संविद्‌गुच्छोंकी अनुभूतियोंके बीचमें जो प्रतीक्षा या एक प्रकारका तनाव चित्तमें रहता है वही उनके, या उन द्रव्योंके जिनके यह संवित् सूचक माने जाते हैं, बीचका कारण-कार्य-सम्बन्ध है। संवितोंमें अनुभूति-क्रम तो है; इसके अतिरिक्त, उनको भाँति-भाँतिकी सम्बन्ध-डोरोंमें बाँधना चित्तका काम है। इसी प्रकार वह उनको अधिकसे अधिक भोगोपयोगी बना सकता है।

७. दिक्स्वरूपाधिकरण

महाभूतोंमेंसे चारके सम्बन्धमें हम भूताधिकरणमें विचार कर चुके हैं।

पाँचवाँ भूत आकाश है। आकाश दिक्‌का नाम है। दिक्‌के सम्बन्धमें हम प्रथम खण्डमें कुछ विचार कर आये है। वह विचार अधूरा था। अब यहाँ हम उस सूत्रको फिर हाथमे लेते है।

आकाशको भूत भले ही कहा जाय, परन्तु उसमे और भूतोंके लक्षण नही मिलते। वह गुरुत्वहीन है। उसके परमाणु नही होते। बीचमें वस्तुओके आ जानेसे आकाशके टुकडोकी कल्पना की जा सकती है, पर यह विभाजन कल्पनामात्र है, क्योकि इससे आकाशकी अखण्डतामे विघात नही होता। आकाश विभाजक वस्तुके पोर-पोरमे विद्यमान है, परमाणु-परमाणुके भीतर है। यह अखण्डता भी आकाशका विशेष लक्षण है। उसका दूसरी वस्तुओसे अन्योन्याभाव नही होता। जहाँ और वस्तुएँ रहती है वहाँ आकाश होता है, जहाँ आकाश होता है वहाँ अन्य वस्तुएँ रह सकती है। अन्य भूतोको आकाश अवकाश प्रदान करता है, जगह देता है, परन्तु आकाश आकाशमे रहता है ऐसा कहनेका कोई अर्थ नही है। साधारणतः हमको आकाशका ज्ञान सवित् रूपसे नही होता। 'साधारणतः' शब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि शब्द और आकाशका एक विशेष अर्थमें सम्बन्ध है। उसका निर्देश हम एक-दूसरे अध्यायमे करेगे। परन्तु यो हमको शब्द सवित्‌की उपलब्धि क्षैत वस्तुओसे ही होती है। सब भौतिक वस्तुएँ आकाशमे ही होती है, सब भौतिक घटनाएँ आकाशमे ही घटित होती है इसलिए आकाशको भले ही भूत कहा जाय, किन्तु वह वायु आदि चतुर्भूतका सजातीय नही है।

हम पहिले खण्डमे देख चुके है कि चित्तपरिणाम कालगत होता है परन्तु भौतिक घटनाएँ दिक् और काल, उभयावच्छिन्न होती है। वही हमने यह भी देखा था कि व्यावहारिक काल दिक्‌मे वास्तविक कालका प्रतिक्षेप है इसलिए उसे दिक्‌की ही एक दिशा मान सकते है। उस स्थल-पर ऐसा मान लिया गया था कि दिक्‌की पारमार्थिक सत्ता है। अब इस अभिसिद्धान्तकी विवेचना करनी होगी।

हमको दिक्‌का प्रत्यक्ष नही होता। ऐसा कोई सवित् नही है जो

दिक्‌का संवित् कहा जा सके। हम वस्तुओमे आयतन नामका लिङ्ग पाते है अर्थात् वस्तुओमे लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई होती है। चूँकि हमको प्रत्येक वस्तुमे यह लिङ्ग मिलता है इससे बुद्धि ऐसा मानती है कि आयतन अर्थात् तीन ओर फैलाव वस्तुओका स्वगत लक्षण न होकर उनपर किसी अन्य पदार्थने आरोपित किया है। चौकोर बोतलमे दूध, पानी, मदिरा, पारा जो द्रव पथार्थ पडेगा वह चौकोर प्रतीत होगा, गोल बोतलमे जो पदार्थ भरा जायगा उसकी आकृति गोल देख पड़ेगी। इससे यह कहा जाता है कि चौकोरपन या गोलाई बोतलमे है, न कि उसमे भरी वस्तुमे। इसी प्रकार जब सभी वस्तुएँ तीन दिशाओमे फैली देख पड़ती है तो बुद्धिको ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ है जो तीन दिशाओमे फैला हुआ है, सब वस्तुएँ उसीमे है इसलिए तीन दिशाओमे फैली प्रतीत होती है। इस कुछको दिक् कहा जाता है, तीन दिशाओमे फैलावके सिवाय इसके विषय-मे और कुछ प्रतीत नही होता।

किसी सरल रेखापर हाथ फेरिये, किसी समतल, जैसे इस पृष्ठ, पर हाथ फेरिये, किसी ठोस वस्तु, जैसे बन्द बकस, पर हाथ फेरिये। बकसकी कोई भी कोर सरल रेखाका और उसका ढक्कन या पेदा या चारमेसे कोई भी दीवार समतलका काम दे देगी। सरल रेखापर एक प्रकारका स्पर्श मिलता है, समतलमे जहाँ-जहाँ कोनोपर एकसे दूसरी रेखापर जाते है, दूसरे प्रकारका स्पर्श होता है, फिर सरल रेखावाला स्पर्श आता है, ठोस वस्तुमे कई कोने आते है, कई बार स्पर्श बदलता है। गोली वस्तुमें कोने नही होते फिर भी स्पर्श बदलता है। स्पर्शोंमे जो इस प्रकारके भेद प्रतीत होते है उनको हम वस्तुओकी लम्बाई आदि नामसे अर्थात् दिक्‌के दिशाभेदके नामसे व्यक्त करते है। हम पहिले देख आये है कि द्रव्य बुद्धिनिर्माण है। संवित् चित्तमे होते है। स्पर्शसंवित्‌के इन भेदोके आधारपर बुद्धिनिर्मित वस्तुओमे प्रतीत होनेवाला आयतन-लिङ्ग और उसके आधारपर कल्पित दिक् बुद्धिनिर्माण है। यदि शरीरसे स्पर्श न किया जाय तो वस्तुको देखनेके लिए आँख हिलानी पड़ती है। उसपर

ऑख दौड़ानेसे कई प्रकारके रूपसंवित् और पुतलियोको हिलानेमें मास-शियोपर जोर पड़नेसे कई प्रकारके स्पर्शसंवित् मिलते है। श्रम करना होता है। ऐसी दशामे भी सवितोके वैषम्यके आधारपर बुद्धि दिक्का निर्माण करती है।

हमको वस्तुओमे दूरीकी प्रतीति होती है, इससे भी दिक्की कल्पना करते है। दूरीका अनुपात हम या तो उस कालसे या उस श्रमसे करते है जो एकसे दूसरीतक जानेमे लगता है। जहॉ पॉवसे नही चलते वहॉ एकसे दूसरीकी ओर सिर घुमाते है या ऑख चलाते है। इस प्रकार भी दिक्की सिद्धि नही होती। वस्तुओकी सत्ता सवित् मात्रतक परिसीमित है, यह हम देख चुके है। अपने प्रज्ञानोकी जो अनुभूति होती है वह काल है, ऐसा प्रथम खण्डके छठे अध्यायमे प्रतिपादित हो चुका है। सवित् और काल, दोनो चित्तके भीतर है। चलने और चलनेके श्रमको भी हम सवित्के रूपमे ही जानते है। सिर हिलानेका भी सवित्के रूपमे ही बोध होता है। ऑख हिलाना भी रूप और श्रममात्र है। अतः जिसे वस्तुओकी दूरी कहते है वह सवितोमे सम्बद्ध है। जिस प्रकार वस्तुऍ बुद्धिनिर्माण है उसी प्रकार उनकी दूरीके आधारपर कल्पित दिक् बुद्धिनिर्माण है।

हमको ऐसा प्रतीत होता है कि दिक्की सत्ता असन्दिग्ध है, क्योकि जहॉ कोई वस्तु नही होती वहॉ रिक्त दिक्की अनुभूति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो वस्तुओके बीचमे रिक्त दिक् है। ऊपर दृष्टि डालनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि तारे एक विशाल वितानमे जड़े हुए है। जहॉ तारे नही है वहॉ भी यह वितान है। इसी प्रकार हवाके पारदर्शक होनेसे वस्तुओके बीचमें कुछ नही देख पड़ता पर यह 'कुछ नही' ऐसा है जिसमे नयी वस्तुऍ आ सकती है। इस प्रकार चित्तमे यह विचार आता है कि चारो ओर यह 'कुछ नही', यह 'वितान' फैला है। जहॉ-जहॉ वस्तुएँ आ गयी है वहॉ-वहॉ कुछ देख पड़ता है, रिक्त जगह भर जाती है। पर यह रिक्त जगह क्या है? या तो लम्बाई है या आयतन।

लम्बाई और आयतनके विषयमे हम विचार कर चुके हैं। दो वस्तुसूचक संवितोके बीचमे जो विशेष प्रकारकी अनुभूतियाँ होती है उनके ही आधार-पर हम लम्बाई या आयतनकी कल्पना करते है। संवित् न होनेपर भी हम संवित्की कल्पना कर सकते है, इसलिए यदि एक वस्तुको देखनेके बाद दूसरी वस्तु न देख पड़े तब भी हम उस श्रम या स्पर्शकी कल्पना कर सकते है जिसका उसकी अनुभूतिके पहिले होना अनिवार्य है। इस कल्पनाके आधारपर चित्त सर्वव्यापी रिक्त दिक्की कल्पना करता है। दिक्मे जहाँ वस्तु नही होती वहाँ वस्तुके होनेकी सम्भावना होती है।

हम वस्तुओके दिग्गत भेदोको ऊपर, नीचे, दाहिने, बाये, मे, पर, बडा, छोटा जैसे शब्दो द्वारा व्यक्त करते है। हमको कुछ संवित् हुए : हमने कहा पुस्तक है। कुछ दूसरे सवित् हुए : हमने कहा मेज है। एक तीसरे प्रकारके सवित् हुए, जिनमे पिछले दोनों सवित् अन्तर्भूत है, पुस्तक और मेज दोनो है। एक चौथे प्रकारके संवित् हुए, इनमे भी प्रथम दोनो संवित् अन्तर्भूत है, पुनः पुस्तक और मेज दोनो है, परन्तु तीसरे और चौथे सवितोमे भेद है, दोनो एक-से नही है। यदि दोनोमे मेज और पुस्तक-सूचक संवित् सदृश है तो उनमे जो भेद है उसको चित्त सूचित वस्तुओमे निक्षिप्त करके दिग्गत भेद मानता है। एक अवस्थामे पुस्तक मेजके ऊपर है, दूसरीमे मेजके नीचे है। इसी प्रकार दूसरे सविच्छेदोसे दूसरे दिग्गत भेदोका निर्माण होता है। सविच्छेद होते है इतना ठीक है, परन्तु वस्तुओके दिग्गत भेद बुद्धिनिर्माण है। दिक्के द्वारा वस्तुओमे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है पर जब वस्तु ही नही है तो सम्बन्ध किस-किसमे होगा और कैसा होगा ?

गणित शास्त्रमे दिक्का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिक्की सत्ताको अभ्युगत किये विना गणितका काम चल ही नही सकता। हम इस खण्डके पहिले अध्यायमे देख चुके है कि गणितमे कई अलीकोसे काम लिया जाता है। उन अलीकोमेसे एक यह है कि वस्तुसे उसके लिङ्ग आहृत हो सकते है, अलग किये जा सकते है। गणित वस्तुओको

छोड़कर उनके कुछ लिङ्गोमे सम्बन्ध स्थापित करता है। यह कहा जा सकता है कि चार आम दो आमोके दूने होते है, दो इञ्च लम्बी, दो इञ्च चौड़ी, दो इञ्च मोटी वस्तुकी अपेक्षा चार इञ्च लम्बी, चार इञ्च चौड़ी, चार इञ्च मोटी वस्तुका आयतन आठगुना होता है। सख्या वस्तुओमे होती है, आयतन वस्तुओमे होता है। संख्या और आयतन ऐसे बुद्धि-निर्माग है जिनके द्वारा सवितोमे सम्बन्ध स्थापित होता है। परन्तु गणित शास्त्र कहता है कि चार दोका दुगुना है, चौसठ घन इञ्च आठ घन इञ्चका आठगुना है। ऐसा कहना सख्याओ और आयतनोमे, वस्तुओके सम्बन्धोमे, सम्बन्ध स्थापित करना है। त्रिभुजाकार, चतुरस्र, गोलाकार, अण्डाकार वस्तुएँ होती है। वस्तुविरहित आकृति नही हो सकती। मिस्रीकी चौकोर डली लीजिये। उसकी प्रत्येक कोर एक सरल रेखा है, परन्तु हम देख चुके है कि रेखा बुद्धिनिर्माण है। यदि डलीकी सारी मिस्री निकल जाय तो क्या बचेगा ? वही कोरवाली रेखाएँ। वस्तु बुद्धिनिर्माण है, उसको परिमित करनेवाली रेखाएँ बुद्धिनिर्माण है, अतः आयतन बुद्धि-निर्माण है। गणित इस बुद्धिनिर्माण-युगलमेसे एकको छोड़ देता है और केवल दूसरेको, जिसकी पहिलेसे अलग न सत्ता है न सार्थकता, ले लेता है। गणितज्ञ त्रिभुज आदि आकारवाली वस्तुओको अपना विषय नही बनाता। वह त्रिभुज, चतुरस्र, अण्डाकृति आदिका ही अनुशीलन करता है। इन बुद्धिनिर्माणोमे जो सम्बन्ध स्थापित होते है वह दिक्‌के लिङ्ग माने जाते है। यह स्पष्ट है कि द्रविण प्राणायामके द्वारा जो लिङ्ग प्राप्त होते है वह बुद्धिनिर्माण है क्योकि वस्तुएँ बुद्धिनिर्माण है, सख्या, आयतन, परिमाण बुद्धिनिर्माण है और स्वय दिक् बुद्धिनिर्माण है। एक और बात है। गणित शास्त्र भी दिक्‌को अखण्ड मानता है। जब दिक् अखण्ड है तो उसके टुकड़े नही हो सकते। चतुरस्र दिक्, गोल दिक्, त्रिभुजाकृति दिक्‌का अस्तित्व नही है। यह सब दिग्वि-भाग अलीक है। परन्तु गणितज्ञ इन अलीकोके लिङ्गोको, अलीकोके सम्बन्धोकी खोज करता है और इस खोजके आधारपर अविभाज्य दिक्‌के

लिङ्गका निर्णय करता है। यह सब बुद्धिनिर्माण है परन्तु इसके बिना दृग्विषयों अर्थात् संवितोके सम्बन्ध समझमे नही आते और संवितोका उपयोग नही हो सकता।

गणित शास्त्र गतिका अनुशीलन करके भी दिक्के लिङ्गोका परिचय पाता है, परन्तु गतिके आकुञ्चन, प्रसारण आदि जितने भी भेद है उनका तथ्य क्या है? एक वस्तु एक जगह प्रतीत होती है, फिर दूसरी जगह, इसको हम यह कहते है कि वह स्थानान्तरित हुई। दोनो स्थानोके बीचमे दूरी है। वस्तुके प्रथम एक स्थान फिर दूसरे स्थानपर देख पड़नेको चित्त यो समझता है कि उसमे गति हुई, इस गतिके कारण वह स्थानपरिवर्तन कर सकी। हमको गतिका प्रत्यक्ष नही होता, गतिसूचक कोई पृथक् सवित् नही होता। वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है। उसके स्थानान्तरित होनेसे बुद्धि गतिकी कल्पना करती है और स्थानोके बीचकी दूरी तथा कालको मिलाकर गतिवेगकी गणना की जाती है। गणित वस्तुको छोड़ देता है, दूरी, काल और गतिको ले लेता है।

हम इसी प्रकरणमे देख चुके है कि लम्बाई या दूरी बुद्धिनिर्माण है। वस्तु स्वय बुद्धिनिर्माण है। पर यह निर्विवाद है कि सवित् होते है। जिस प्रकार दो स्थानोमे दो वस्तुओके सवित् होते है उसी प्रकार दो स्थानोमे एक वस्तुका सवित् हो सकता है। क्रमागत दोनो संवितोमे जो सादृश्य है उसके आधारपर हम उनको एक ही वस्तुका सूचक मानते है, जो वैषम्य है उसके आधारपर स्थानान्तरित होनेकी कल्पना करते है। इन बुद्धि-निर्माणोमे सम्बन्धरूप जो गति आरोपित होती है और गतिके आधारपर दिक्के जिन लिङ्गोका परिचय मिलता है उनकी सत्ता भी बुद्धिनिर्माण-मात्र है।

विज्ञानकी उन्नतिके फलस्वरूप नये यन्त्रोका निर्माण होता है। यह यन्त्र हमारे जगत्का विस्तार बढ़ा देते है, हमारे अनुभूति-क्षेत्रमे नयी वस्तुओको ले आते है। साधारण मनुष्य अपनी ऑखसे लगभग ३००० तारोको एक समय देख सकता है। आज यन्त्रोकी सहायतासे यह कहा

जाता है कि कमसे कम $१०^{११}$ नीहारिकाएँ है जिनमेसे प्रत्येकमे कमसे कम $१०^{११}$ तारे है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तारोकी सख्या कमसे कम $१०^{२२}$ है। इस अङ्कको लिखनेके लिए १ के बाद बाईस शून्य देने पड़ेगे। पुराने ज्योतिषीको उन थोड़ेसे तारो और ग्रहोकी गतिविधि समझनी थी जो आँखसे देख पड़ते थे। आजसे चार-पॉच सौ वर्ष पहिलेतक जो यन्त्र वने थे उनकी शक्ति अधिक न थी, इसलिए उनसे जगत्का विस्तार वहुत नही बढ़ा। उसका अनुशीलन करके न्यूटनने आकर्षण-सिद्धान्त निकाला। उन्होने वतलाया कि प्रत्येक भौतिक वस्तु प्रत्येक दूसरी भौतिक वस्तुको अपनी ओर आकृष्ट करती है। उन्होने इस पारस्परिक खिचावको नापनेके लिए सूत्र भी निकाला। आज आकर्षण-सिद्धान्त अपूर्ण प्रतीत होने लगा है। जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, ऐसा जान पड़ता है कि नीहारिकाएँ एक-दूसरीकी ओरसे हटती जा रही है। यदि दो नीहारिकाओके बीचमें एक मीगा पार्सेककी[1] दूरी हो तो वह एक-दूसरेसे पॉच सौ अट्ठाईस किलोमीटर[2] प्रति सेकण्डके वेगसे दूर भागती प्रतीत होती है। यह नये प्रकारका अनुभव हुआ। यदि आकर्षण-सिद्धान्त सच्चा हो तो नीहारिकाओ-को क्रमशः पास आते जाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक वस्तुओंमे दो विरोधी शक्तियॉ काम करती है। एक साथ ही आकर्षण और विकर्षण होता है। यह कई परिस्थितियोंपर निर्भर करता है कि दोनोमे कौन वलवती पड़ जायगी। नीहारिकाओके भीतर नक्षत्र, सौर मण्डलके भीतर ग्रहोपग्रह, पृथिवीपर छोटे-बड़े पिण्ड, सबको आकर्षण थामे हुए है। अन्यथा एक-दूसरेसे कबके दूर हो जाते। उधर नीहारिकाओको विकर्षण दूर करता जा रहा है और ज्यो-ज्यो दूरीके बढ़नेसे आकर्षण दुर्बल पड़ता जाता है त्यों-त्यों उनको और दूर करता जायगा। होते-होते कभी ऐसी अवस्था आ जायगी कि दूरी बढ़ते-बढ़ते इतनी हो जायगी कि

---

१. मीगा पार्सेक = ३२,६०,००० ज्योतिर्वर्ष। प्रकाशकी किरण १ सेकेण्डमे ९३,००० कोस चलती है। वह एक वर्षमे जितना चलेगी उसको ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। २. किलोमीटर=लगभग $\frac{५}{८}$ कोस।

एकका दूसरीपर कोई प्रभाव न पड सकेगा; न आकर्षण काम कर सकेगा, न विकर्षण। उस दिन इस प्रकारकी गतिका अन्त हो जायगा।

जगत्मे विकर्षणशक्तिके अन्तर्निवेशमात्रसे गणितका काम नही चला। ऐसा मानना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि पहिले दिक् अर्थात् समस्त भौतिक जगत् छोटा था। इस समय वह बढ़ रहा है। बढ़नेके वेगका परिमाण इस बातसे जाना जा सकता है कि १ अरब ३० करोड़ वर्षोमे उसका व्यासार्द्ध दूना हो जाता है। इस समय व्यासार्द्ध कितना है यह अभी ठीक नही कहा जा सकता, परन्तु जिस समय दिक्ने बढ़ना आरम्भ किया उस समय उसकी लम्बाई १ अरब ६ करोड़ ८० लाख ज्योतिर्वर्ष थी। जिस समय नीहारिकाएँ एक-दूसरीसे इतनी दूर हो जायँगी कि उनमे न आकर्षण काम करेगा न विकर्षण, उस समय दिक्का बढ़ना भी बन्द हो जायगा।

यह अङ्क इस समयके है, अभिसिद्धान्त भी इस समयके है। सम्भवतः नये यन्त्रोके बननेपर या विद्यमान यन्त्रोकी सहायतासे नयी खोज होनेपर यह बाते पुरानी हो जायँगी। जिस प्रकार न्यूटनके मतमे आइस्टाइनने सशोधन किया है उसी प्रकार स्यात् आइंस्टाइनके मतका भी सशोधन करना होगा।

इन सब विचारोका आधार नीहारिकाओंकी गति है। गतिका अनुमान इस बातसे होता है कि हमारे उनके बीचकी दूरी बढती जा रही है। नीहारिकाओंकी सत्ताका प्रमाण यह है कि वह हममें सीधे या यन्त्रोके माध्यमसे सवित् उत्पन्न करती है। हमको उनसे रूपसवित्की उपलब्धि होती है। उनके दूर हटनेका अनुमान इस बातसे होता है कि उनसे आया हुआ जो प्रकाश हमारे यन्त्रोपर पडता है उसमे कुछ अन्तर पड़ता प्रतीत हो रहा है। यह अन्तर ऐसा है जो इसी प्रकार समझमे आ सकता है अर्थात् ऐसा ही माननेसे समझमे आ सकता है कि नीहारिकाएँ दूर हटती जा रही है। नीहारिकाओका दूर हटना तब समझमे आ सकता है जब विकर्षणकी शक्तिकी सत्ता स्वीकार की जाय और यह माना जाय कि

दिक् बढ़ रहा है। प्रकाशके अन्तरको नापनेसे विकर्षण और दिग्वृद्धिकी गणना की जा सकती है।

नीहारिकाओकी सत्ता संवित् मात्र है। प्रकाशमे अन्तर पड़नेका अर्थ हुआ रूपसंवित्मे वैषम्य। माना कि वैषम्य धीरे-धीरे बढ़ रहा है परन्तु सवित् और वैषम्य दोनो चित्तमे है। इनमे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए आकर्षण, विकर्षण, गति, दिग्वृद्धि यह सब बुद्धिनिर्माण है। अपने सवितो-को सम्बद्ध करनेके लिए चित्त दिक् और उसके लिङ्गोका निर्माण करता है।

यही बात उस छोटे जगत्के लिए लागू है जो हमको लघुकाय भौतिक पिण्डोमे मिलता है। परमाणुओ और उनके भीतर विद्युत्कणोकी गतिविधिको देखकर भौतिक विज्ञानको दिक्के सम्बन्धमे कुछ बाते माननी पड़ती है। परन्तु परमाणु और विद्युत्कण भी सवित्से अभिन्न हैं इसलिए वह जिस दिक्मे है वह भी बुद्धिनिर्माणमात्र है।

ठीक यही शब्द उस माध्यम दिक्के लिए कहे जा सकते है जिसमे हम अपनेको पाते हैं, जिसमे हमारा जीवन साधारणतः बीतता है। हमको सैकड़ो वस्तुओकी अनुभूति होती है अर्थात् बराबर शब्दादि संवित् होते रहते है। इन सवितोको सम्बद्ध करनेके लिए वस्तुओकी कल्पना होती है, अनेक प्रकारके कम्पनो और लहरोकी कल्पना होती है और इनके लिए माध्यमकी कल्पना होती है। शब्दके लिए तो भौतिक माध्यम काम देते है, रूपानुभूति समझनेके लिए दिक्के अनेक लिङ्गोकी कल्पना की जाती है जो गणित शास्त्रके विषय है। यह कहना अनावश्यक होना चाहिये कि यह सब बुद्धिनिर्माण है। जब दिक्का अभाव है तो 'सर्वव्यापक' शब्द निःसार हो जाता है और उपमानकी असत्ताके कारण किसीको आकाशवत् विभु कहना निरर्थक हो जाता है।

८. मनोराज्याधिकरण

हमने इस अध्यायमे कई महत्त्वपूर्ण विषयोपर विचार किया है। जो कोई इन अधिकरणोपर गम्भीरतासे मनन करेगा उसके चित्तमें स्वभावतः

यह प्रश्न उठेगा कि जगत्‌मे क्या बच गया है जो बुद्धिनिर्माण नही है? अभी अस्मदंशके सम्बन्धमे कुछ नही कहा गया है, परन्तु ईश्वर, चतुर्भूत, मूलभूत, दिक्, कारण-कार्य-शृङ्खला, गति, जब यह सब मनःप्रसूति है तो फिर जगत्‌के युष्मदंशमे अवशिष्ट क्या रहा? अपने शरीरकी सत्ता भी तो हम संवितोके आधारपर ही मानते है। वह संविद्भिन्न नही है। दूसरे जीवोकी सत्ताका एकमात्र प्रमाण दूसरे शरीरोकी चेष्टाऍ है। पर यह दूसरे शरीर मेरे लिए संवितोके सिवाय और क्या है? तो फिर मेरे सिवाय दूसरे जीव, दूसरे चेतन है—इसका भी कोई प्रमाण नही है। दर्शनका विद्यार्थी यह मानकर चला था कि उसके चित्तके बाहर विशाल जड़-चेतनात्मक जगत् है जिसका कुछ-कुछ परिचय उसको अपने संवितोके द्वारा मिल जाया करता है। मनन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि सवितोके बाहर इस विशाल बाह्य जगत्‌की कही सत्ता नही है। युष्मत् सिमिटकर चित्तके भीतर आ गया, उसका प्रतीयमान रूप मनोराज्यमात्र रह गया।

सवितोपर बहुत बड़ा बोझ है। सवित् होते है यह तो निर्विवाद है, पर उनमे नानात्व किस प्रकार होता है, इस विषयमे जिज्ञासा होती है। उनके नानात्वपर प्रतीयमान जगत्‌का नानात्व, युष्मत्‌की प्रतीति, निर्भर है।

तीसरा अध्याय

आत्मा

दूसरे अध्यायके अन्तमे हम इस परिणामपर पहुँचे कि युष्मत् प्रपञ्च मनःप्रसूति है। अब हमको जगत्‌के दूसरे अङ्ग अर्थात् अस्मत्‌के सम्बन्धमे विचार करना है।

अस्मत्‌के विषयमे विद्वानोके अनेक प्रकारके मत हैं और इनमेसे कई मत एक-दूसरेके विरोधी है, परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि अस्मत् चेतन, चेतनाविशिष्ट, है। चेतन होना ही अस्मत्‌का अस्मत्‌पन है। ज्ञातृत्व, द्रष्टा होनेकी सामर्थ्यको चेतना कहते है। ज्ञातृत्वके साथ भोक्तृत्व और कर्तृत्व भी विवक्षित है। चेतनाकी सत्ता निर्विवाद है। जो वासनाओ, सङ्कल्पो, संवितोंका आस्पद है वह चेतन है, उसके इस आस्पद-भावका नाम चेतना है। चेतनके कई नामोमेसे एक नाम आत्मा है। हम अब इसी नामसे काम लेगे। इस प्रसगमे जीव शब्द भी आता है। उसपर पीछे विचार होगा। आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमे जो विभिन्न मत है उनमेसे दो-तीन विशेष महत्त्व रखते है। उनकी विवेचना करनेसे ही आत्मस्वरूप समझमे आ सकता है।

साधारण मनुष्यकी यह धारणा है कि वह चेतनायुक्त है। वह ऐसा मानता है कि उसका चेतनांश शरीरसे भिन्न है। उसके पृथक् हो जानेपर शरीर मृत हो जाता है, उसमें शब्दादि संवितोके ग्रहण करनेकी, शीतोष्ण-की अनुभूतिकी, रागद्वेषसे उद्विग्न होनेकी सामर्थ्य नहीं रह जाती। आत्मा 'मैं' है, और सब कुछ—वासना, सङ्कल्प, संवित्, प्रत्यक्ष, शरीर—'मेरा' है। 'मेरा' घटता-बढ़ता रहता है; शरीर छोटेसे बड़ा होता है, उसका कभी-कभी अङ्गच्छेद हो जाता है; जगत्‌मे व्यवहारसे, शिक्षासे,

मननसे ज्ञानमे वृद्धि होती है; वयोभेदसे तथा बाहरी परिस्थितियोके भेदसे वासनाओके रूप बदलते रहते है; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमे शरीर और चित्तकी अवस्था एक-सी नही रहती। परन्तु इन सब परिवर्तनोके बीचमे 'मै' ज्योका त्यो रहता है, उसमे कोई वृद्धि, ह्रास या परिवर्तन नही होता। शरीरमे चाहे जहॉसे आया हो, शरीरको छोड़कर चाहे जहॉ जाता हो, पर जबतक रहता है तबतक स्वामी बनकर रहता है। शरीर 'मेरा' शरीर है, चित्त 'मेरा' चित्त है, शरीर और चित्त दोनो 'मेरे' लिए है, 'मेरे' भोगके उपकरण है। यह 'मैं' क्या और कैसा है?

१. देहात्मवादाधिकरण

इस मतका आशिक विचार हम इस खण्डके दूसरे अध्यायके भूतवादाधिकरणमे कर आये है। इसके कई अवान्तर भेद है, पर उन सबका निष्कर्ष यह है कि आत्मा देहका धर्म है। कोई यह कहता है कि देहकी एकीभूत जीवनक्रियाका नाम जीव है। मनुष्यके शरीरमे कई करोड़ छोटे जीवकोष है। प्रत्येक जीवकोष सत्त्वमूलका बिन्दु है। सब कोष जीवित है। रक्तमेसे छनकर उनके भीतर भोजन जाता है और इसी प्रकार छनकर मल निकल जाता है। जिस क्रियाके द्वारा कोष अपनेको जीवित रखता है अर्थात् भोजन ग्रहण करता है, मलको विसर्जित करता है, तापमानको ठीक रखता है और सॉस लेता है उसको जीवनक्रिया या जीवन कह सकते है। इन सब जीवनव्यष्टियोकी समष्टि समस्त शरीरका जीवन है। एक धानके छिलकेमे लगी आग दमभरमे नष्ट हो जाती है और उसका तापमान भी बहुत कम होता है परन्तु छिलकोके ढेरमे आग लगा देनेसे तापमान कई गुना बढ़ जाता है और ऑच तथा चमक देरतक रहती है। यही सम्बन्ध कोषजीवन और देहजीवनमे है। देहजीवनसे हमको प्रकाशकी भॉति चेतना नामके धर्मकी उपलब्धि होती है। कोषोके बिखर जानेपर इसका लोप हो जाता है।

यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो कोषोके योगके पहिले आत्माका अभाव था इसलिए यह नही कहा जा सकता कि देह आत्माके

भोगसम्पादनका साधन है। पर देहकी बनावट कोषोंके आकस्मिक ढेर जैसी नहीं है। प्रत्येक अवयव प्रत्येक दूसरे अवयवको ध्यानमे रखकर बना प्रतीत होता है। जब बच्चा गर्भमे कललरूपमे होता है तबसे ही यह बात स्पष्ट होने लगती है। देहका विकास किसी पूर्वनिश्चित आलेख्यके अनुसार होता देख पड़ता है। हाथ, पॉव, मुँह, पेट, फेफड़े, हृदय, सुषुम्ना, मस्तिष्क, सब एक-दूसरेके साथ-साथ बढ़ते है, सब इस प्रकार बने है कि एकको दूसरेकी अपेक्षा है। तभी शरीर अयुतसिद्धावयवसंघात है। एक और बात है। इस संघातपर दृष्टि डालनेसे ही यह विदित हो जाता है कि भोगोपयोगी है। ऑख-कान-नाक वस्तुकी सत्ता और उसके स्थानको जाननेके लिए, पॉव उसके पासतक जानेके लिए, हाथ उसे पकड़नेके लिए, पेट उसे पचानेके लिए, नाड़ियाँ इन्द्रियो और मासपेशियोके कामको एकतन्त्र करनेके लिए, रक्त सर्वत्र भोजन पहुँचानेके लिए—सब अवयव एक-दूसरेके सहायक है और इस सहायताके फलस्वरूप भोगकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु यह सब आयोजन किसके भोगके लिए है? प्रत्येक अवयवमे, प्रत्येक कोषमे, जो 'कुल' विद्यमान है, जो इन सबको एक सूत्रमें बॉधे हुए है, वह इनके बादका नहीं हो सकता, इनके योगका परिणाम भी नहीं हो सकता है। जब बच्चेका शरीर सत्त्वमूलक छोटा-सा विन्दु था तब भी यह पदार्थ उसके साथ बीज-रूपमे रहा होगा। वह विन्दु भी जीवित था। वह मॉके शरीरसे भोजन लेता था, मल छोड़ता था, छोटेसे बड़ा हुआ, उसकी इस प्रकार सन्तति हुई कि उसमेसे टूटकर दो विन्दु निकले; इसी प्रकार उन विन्दुओंकी सन्तति-परम्परा चली, यहॉतक कि उन सबका समूह इस रूपमें आया कि उसे मनुष्यका शरीर कह सके। उसमे चेतना थी, क्योकि गरम-ठण्ढे स्पर्शोका, प्रकाशका उसपर प्रभाव पड़ सकता था। ज्यो-ज्यों शरीरका विकास हुआ त्यो-त्यो चेतनाका भी विकास हुआ। असत्से सत् नहीं होता। देहके प्रत्येक कोषमे जो जीवन है वह सत्त्वमूलके उस आदिविन्दुके जीवनसे निकला है, इसी प्रकार देहमें इस समय जो चेतना है वह उसी चेतनाका विकसित रूप है जो

उस विन्दुमे थी। ऐसा माननेसे कि आत्मा—चेतन पदार्थ—देहके मूल-रूपके साथ थी और उसीके भोगके अनुकूल देहका विकास होता है, अवयवोका विशेष प्रकारसे सम्बद्ध होना सुगमतासे समझमे आता है। जैसा चेतन है, जैसी उसकी वासनाएँ होनेवाली हैं और उनकी तृप्ति अर्थात् भोगका जैसा स्वरूप होनेवाला है, वैसा ही शरीर वनता है।

ऐसा माननेसे एक और अड़चन भी दूर होती है। यदि आत्माको जीवनका पर्याय माना जाय और यह कहा जाय कि कोषसमष्टिका सम्मिलित जीवन आत्मा है तो प्रश्न यह होगा कि कोषोंके जीवन एकमे मिलते कैसे है और उनमे यह 'मै'की प्रतीति कैसे होती है? यदि किसी जगह वहुत-से मनुष्य एकत्र हो और मिलकर कोई काम कर रहे हो तव भी उनके चेतनाश नहीं मिलते। हम सुभीतेके लिए उनको वर्ग, पूग, कक्षा, सेना, समिति, चाहे जो कहे, परन्तु प्रत्येकका व्यक्तित्व अलग रहता है। जो समूहका निर्णय कहलाता है वह या तो प्रत्येक व्यक्तिका निर्णय होता है या वहुसख्यकोका, परन्तु उभय दशामे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्मतिको जानता है। सव एक-सा ही काम करते भले ही देख पड़े, परन्तु उस कामके पीछे प्रत्येकका पृथक् सङ्कल्प होता है। किसी भी दशामे सामूहिक चेतनका जन्म नही होता। अतः ऐसा माननेके लिए कोई आधार नहीं है कि कोषोंके मिलनेसे वह पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जिसको आत्मा कहते है, जो अपनेको 'मै' कहकर व्यक्त करता है, जिसके सङ्कल्प और वासनाओसे प्रत्येक कोष परिचालित हो रहा है।

देहात्मवादका एक रूप यह है कि चेतन देहका धर्म है। जिस प्रकार विशेष मात्राओमे गन्धक, हाइड्रोजन और आक्सिजनके परमाणुओके मिलनेसे गन्धकका तेजाव नामक द्रव्यकी उत्पत्ति होती है जिसमे एक विशेष प्रकारका नया दाहक धर्म पाया जाता है, उसी प्रकार विशेष मात्राओमे कार्वन, आक्सिजन, हाइड्रोजन, गन्धक, नाइट्रोजन और फास्फरसके परमाणुओके मिलनेसे एक विशेष अपूर्व धर्मकी अनुभूति होती है जिसे चेतना कहते है। पानमे जो अपूर्व स्वाद है वह पत्ते, चूने,

कत्थे और सुपारीमेसे किसीमे नही है। यदि चेतना सत्त्वमूलका ऐसा धर्म हो तो शरीर और चेतनाका साथ-साथ विकास होगा। यह भी हो सकता है कि अन्य मिश्र द्रव्योकी भाँति रासायनिक प्रयोगशालामे सत्त्वमूल बनने लगे और उसमे चेतनाकी उपलब्धि हो।

यह मत पहिले मतकी कई कठिनाइयोको तो दूर करता है, परन्तु इससे भी सब अडचने समाप्त नही होती। गन्धकका तेजाब सब एक-सा होता है। इसी प्रकार मानव सत्त्वमूल सब एक-सा होना चाहिये, क्योंकि कार्बन, गन्धक आदिके परमाणु सब एक-से होते है। ऐसी दशामे मानव-सत्त्वमूलमे एक ही प्रकारका धर्म होना चाहिये। सब शरीरोका विकास भी एक ही ढंगसे होना चाहिये, सबमे चेतनाश भी एक-सा होना चाहिये। पर ऐसा नही होता। शारीरिक भेदोको जाने दीजिये, चैत्त भेदोको ही लीजिये। यह भेद अशतः देश, काल, शिक्षा, संस्कृति, आर्थिक स्थिति, आदिके कारण होते है, पर यह सब मिलकर भी वासना और बुद्धि-वैषम्य-को पूरा-पूरा नहीं समझा सकते। किसीकी प्रवृत्ति बचपनसे ही गणितकी ओर होती है, किसीकी संगीतकी ओर; कोई विचारशील होता है, कोई युद्धप्रिय। शिक्षादिके भावाभावसे इन प्रवृत्तियोको पनपनेका अवसर मिलता है या बाधा पड़ती है, परन्तु प्रवृत्ति सहजा होती है। लाख प्रयत्न करनेपर भी किसीमे प्रतिभा या दूरदर्शिता या संयमशीलताका सन्निवेश नहीं किया जा सकता। यदि चेतना सत्त्वमूलका धर्ममात्र होती तो यह वैषम्य न होना चाहिये था। सत्त्वमूल और चेतनाका साहचर्य देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा पहिलेसे थी। उसमें वासनाएँ थी, योग्यताएँ थी, पर वासनाओंकी तृप्ति और योग्यताओके उपयोगके अनुकूल साधनकी आवश्यकता थी। यह साधन सत्त्वमूलसे बना शरीर होता है। जब, जहाँ कही, उसको सत्त्वमूल मिलता है उसमे प्रवेश कर जाती है। सत्त्वमूलका बनना और उसमे चेतनका प्रवेश युगपत् होते है। ऐसा मानने-से यह बात समझमे आ जाती है कि रासायनिक दृष्टिसे एक ही प्रकारके सत्त्वमूलमे जो चेतन पाये जाते है उनमे क्यो न्यूनाधिक भेद होता है।

यदि भेद बहुत हो तो सत्त्वमूल भी दूसरे प्रकारका होना चाहिये। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगसे देख भी पड़ती है। पशु-पक्षी-कीट, सबके शरीर सत्त्वमूलके ही बने है, परन्तु इन सत्त्वमूलोमे थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। एक प्राणीका सत्त्वमूल दूसरेसे नही मिलता। ओषधियो और वनस्पतियोके शरीर भी सत्त्वमूलसे ही बने होते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि उनमे भी कुछ-न-कुछ चेतना होती होगी।

हम देखते है कि देहात्मवादसे काम नही चलता। उसको माननेमे कई अडचने पडती है। इनपर विचार करनेपर हमको विवश होकर यह मानना पड़ता है कि आत्मा देहका धर्म नही है प्रत्युत उसकी स्वतन्त्र सत्ता है जो देहसे योग होनेके पहिले भी थी।

देहात्मवादके विषयमे एक और दृष्टिसे भी विचार हो सकता है। हम उसकी ओर द्वितीय अध्यायके भूतवादाधिकरणमे सकेत कर चुके है। वहॉ हमने जो कहा था उसका तात्पर्य यह है कि भौतिक होनेसे देह दृश्य है, अत उसे द्रष्टाकी अपेक्षा होती होती है। द्रष्टाके पहिले दृश्य नही हो सकता, अतः चेतनके पहिले देह नही हो सकती। फिर, देहकी सत्ता वही तक है जहॉतक चेतन उसे संवित् रूपसे जानता है। देह चेतनपर अवलम्बित है अतः उसका कारण नही हो सकती। कुछ भूतवादी ऐसा नही मानते कि भूत चेतनपर अवलम्बित है। वह कहते है कि भूतमे दृश्य-योग्यता है, वह दृश्य हो सकता है, पर यह आवश्यक नही है कि नित्य दृश्य हो। यदि चेतनका सान्निध्य हुआ तो दृश्य हो जायगा। अपने स्वभावकी अन्तःप्रेरणासे अनेक अवस्थाओमे परिणत होता हुआ मूलभूत ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुआ जिससे उसमे चेतना धर्म उदय हुआ। उसी समय वह दृश्य हो गया। चेतनाके आनेके बाद जो पदार्थ अबतक जड़ भूत था वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनो हो गया। फिर देह-देहीका उस क्रमसे विकास हुआ जिसकी रूपरेखा डार्विन और उनके अनुयायियोने बतायी है।

भूत द्रव्य है अतः उसकी सत्ता चेतनापेक्षी ही है। इसको प्रमाणित

करनेके लिए हमको पिछले अध्यायका सारा द्रव्याधिकरण यहाँ अवतरित करना होगा। यह प्रयास अनावश्यक है। सवितोसे अलग न भूतकी सत्ता है न उस दिक्की, जिसमे अदृश्यावस्थामे भूतका रहना भूतवादी मानता है। जड़से चेतनकी उत्पत्ति भी बुद्धिग्राह्य नही है। परमाणुओके योगसे सहस्रो प्रकारके मिश्र द्रव्य बनते है और इन सबमे नये लिङ्ग होते है। परन्तु इन सबमे एक समानता होती है: यह किसी-न-किसी इन्द्रियके विषय होते है। एकसे एक भिन्न रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श उदय होते है, पर यह सब इन्द्रियोके विषय है। गन्धकके तेजाबमे जो दाहकता है वह न गन्धकमे प्रतीत होती है, न हाइड्रोजनमे, न आक्सिजनमे; नमकका स्वाद न सोडियम धातुमे है, न क्लोरीनमे; मिट्टीके तेलकी दुर्गन्ध न कार्बनमे है, न हाइड्रोजनमे, न आक्सिजनमे। परन्तु यह सब धर्म नितान्त अपूर्व नही है। दाहकता, नमकीन स्वाद, दुर्गन्ध, स्पर्श, रस और गन्धके ही भेद है और यह ऐसे धर्म है जो गन्धकादि तत्त्वोमे पहिलेसे विद्यमान थे। परन्तु चेतना सचमुच अपूर्व है क्योकि उसका सवित् नहीं होता। कोई ऐसी इन्द्रिय नही है जो चेतनाका ग्रहण करती हो। मै किसी भूतसङ्घातकी चेष्टाओको देखकर यह अनुमान भले ही कर लूँ कि इसके भीतर चेतना है यद्यपि ऐसे यन्त्र और खिलौने भी बनाये जा सकते है जो दूरसे चेतनवत् आचरण करते प्रतीत हो, परन्तु अनुमानके सिवाय चेतनको जाननेका कोई और साधन नहीं है। इस अनुमानका आधार यह है कि उस संघातकी चेष्टाएँ मेरी चेष्टाओके सदृश है और मै अपनेको चेतन जानता हूँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि चेतना इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिए यदि जड भूतमे चेतनाका उदय हुआ तो वस्तुतः असत् सत् हो गया जो अमान्य है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि भूत अन्धेकी भाँति लुढ़कता हुआ अकस्मात् चेतनाको प्राप्त कर बैठा।

दो शब्द विकासक्रमके सम्बन्धमे कहना अप्रासङ्गिक न होगा। सत्त्वमूलमे चेतना कहाँसे आयी इस विषयमे डार्विनका कोई आग्रह नही है। उनके सिद्धान्तका सार यह है कि प्रत्येक जीवित पिण्डमें दो प्रवृत्तियाँ

काम करती हैं । यह वह प्रवृत्तियाँ हैं जिनका उल्लेख हम पुस्तकके आरम्भमे अर्थ और कामके नामसे कर आये है : मै न मरूँ और सन्तति छोड़ जाऊँ । छोटे प्राणी अपनी प्रवृत्तियोको पहिचानते न होगे पर उनकी चेष्टाओसे प्रवृत्तियोका होना जाना जा सकता है । भीतरसे इन प्रवृत्तियोकी प्रेरणा, बाहरसे भोजनादि परिस्थितियोका निरन्तर प्रहार—इन दोनो दिशाओसे आनेवाले प्रभावोके कारण शरीरोका और उनके साथ-साथ चेतनाका विकास होता है । विकासक्रम सत्त्वमूलके बूँद जैसे प्राणियोसे आरम्भ हुआ और इस समय मनुष्यतक पहुँचा है । आगे कहाँ जायगा यह नही कहा जा सकता । हमको इस मतसे कोई विरोध नही है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसको माननेवाले बाहरी परिस्थितियोको कुछ अनुचित महत्त्व देते है । परिस्थितियोके थपेडे अर्द्ध-सुप्त चेतनको जगानेका काम करते है । वह नयी परिस्थितिके अनुकूल व्यवहार करना चाहता है, पुराने ढङ्गके व्यवहारसे तृप्ति नही होती, भोग अपूर्ण रह जाता है या प्राप्त ही नही होता । इस अवस्थामे मृत्यु और सन्तानोच्छेदसे बचनेके लिए चेतनकी सोयी शक्तियाँ जागती है, वह नयी परिस्थितिके अनुसार काम करनेमे सक्षम हो जाता है । जबतक ऐसा नही हो पाता तबतक बेचैनी रहती है । इस मतसे डार्विनवादमे थोड़ा-सा सशोधन हो जाता है, परन्तु प्राणिविकासक्रम-सम्बन्धी कई बाते अधिक सुगमतासे समझमे आ जाती है । इसमे यदि कोई विशेषता है तो इतनी कि एक तो चेतनमे आरम्भसे ही बीजरूपसे वह सभी योग्यताएँ मानी जाती है जो लाखो वर्षोंमे विकसित हुई है, दूसरे चेतनको सक्रिय माना जाता है । वह परिस्थितिको ग्रहण करने और तदनुकूल व्यवहार करनेके लिए स्वय भीतरसे जोर लगाता है, क्योकि उसको निरन्तर भोग चाहिये । यह सक्रियता चेतनमे तभी पायी जा सकती है जब वह शरीरका धर्ममात्र न हो, वरन् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हो ।

देहात्मवादीका एक तर्क और रह गया है । शरीरका प्रभाव चेतनपर पडता है यह विवादका विषय नही हो सकता । कम या बुरा भोजन

मिलनेसे, किसी अङ्गमे व्यथा होनेसे, चेतनसे भी परिवर्तन होता है। नाडि-संस्थानको चोट लगनेसे इन्द्रियव्याघात होता है, बुद्धि दुर्बल पड़ जाती है, मनुष्य पागल हो जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि चेतन देहका धर्म है। इसके उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि यह अनुमान ठीक नही है। इन सब दशाओमें चेतना बनी रहती है, परन्तु जिन साधनोंसे वह काम लेती है वह बिगड़ जाते है। इसलिए यथार्थ संवित् नही होते, अध्यवसाय नहीं होता, प्रत्यक्ष नही होता। इसीलिए यथास्थिति निर्णय नही हो सकता, तर्क नहीं हो सकता, सङ्कल्प नहीं हो सकता: जो सङ्कल्प होता है वह कार्यान्वित नही होता। नाडिसंस्थानके बिगड़ जानेसे बाहरी आकृति तो दूसरे मनुष्योंके समान रहती है, परन्तु चेतन अपनेको जिस परिस्थितिमे पाता है वह दूसरे लोगोसे भिन्न है। उसको दूसरे प्रकारके अनुभव होते है। अपनी परिस्थितिके अनुसार चेतन योग्यताओ, शक्तियो-को दिखलाता है, शेषको अपनेमे खींच लेता है क्योकि उनका उपयोग नही है। इसलिए वह दूसरे मनुष्योकी भॉति आचरण नहीं करता। हमारे लिए वह पागल है, परन्तु अपने लिए उसका आचरण ठीक है। चेतना शरीरका धर्म नहीं है, शरीरके कारण उदय नही होती, परन्तु चेतन अपने उपयुक्त शरीरमे जन्म लेता है और, यदि जन्म लेनेके बाद शरीरमे कोई विकार आ जाता है तो, अपनी अभिव्यक्ति तदनुसार कर लेनेका प्रयत्न करता है।

२. प्रज्ञानात्मवादाधिकरण

आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमे दूसरी महत्त्वपूर्ण विचारधाराको प्रज्ञानात्मवाद कह सकते है। प्राचीन ग्रन्थोमे इसको विज्ञानवाद कहा गया है, परन्तु आजकल विज्ञान शब्द गणित, ज्योतिष, रसायन जैसी विद्याओंके लिए प्रयुक्त होता है, इसलिए मै विज्ञानकी जगह प्रज्ञान शब्दसे काम ले रहा हूँ। किसी क्षण-विशेषमे चित्तका जो रूप होता है उसे प्रज्ञान कहते है। प्रज्ञानात्मवादी कहता है कि आत्मा प्रज्ञान ही है।

चित्तकी अवस्था या रूपके कई अङ्ग होते है। उसका एक अङ्ग तो ज्ञान है। कभी ज्ञान प्रमाके रूपमे रहता है, कभी विपर्ययके, कभी विकल्पके और कभी स्मृतिके। ज्ञान अकेला नहीं होता। उसके साथ राग या द्वेषके रूपमे इच्छा या वासना भी लगी रहती है और वासनाकी तृप्ति, भोग, के लिए क्रिया भी रहती है। जिसमे ज्ञानांश प्रधान होता है उस अवस्थाको प्रमाणवृत्ति, इच्छांशकी प्रधानताकी अवस्थाको रसवृत्ति और क्रियाशक्तिकी प्रधानताको सङ्कल्पवृत्ति कहते है। हम क्षणकी परिभाषा प्रथम खण्डके कालाधिकरणमे दे आये है। उससे स्पष्ट है कि कोई प्रज्ञान एक क्षणसे अधिक नही ठहर सकता। उसका स्थान दूसरा प्रज्ञान लेता है। इस प्रकार प्रज्ञानोका प्रवाह जारी रहता है। दो प्रज्ञानोमे ज्ञेय-भेद, अर्थात् ज्ञानके विषयमे भेद, वासनाभेद और सङ्कल्पभेद हो सकता है। दो प्रज्ञानोमे बहुत-कुछ तुल्यरूपता हो सकती है, परन्तु अनन्यरूपता नहीं हो सकती। थोडा-थोडा भेद बराबर रहता है। इसीलिए चित्त परिवर्तनशील कहा जाता है। प्रज्ञानोके क्षणस्थायित्वको लक्ष्य करके प्रज्ञानात्मवादको क्षणिक विज्ञानवाद भी कहते थे।

साधारण मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि उसके चेतनांशके दो भाग है, एक आत्मा और दूसरा चित्त। आत्माका जिस प्रकार शरीरपर स्वामित्व है उसी प्रकार चित्तपर भी, इसीलिए 'मेरा शरीर'की भॉति 'मेरा चित्त' प्रयोग भी किया जाता है। वह शरीरकी भॉति चित्तसे भी काम लेता है। चित्तकी अवस्थाएँ बदलती रहती है, आत्मा अविकारी है। वह चित्तकी अवस्थाओका साक्षी है, प्रत्येक अनुभूतिके साथ 'मै' लगा रहता है। एक ही साथ विषय और वृत्ति, दोनोका ज्ञान होता है। गऊका प्रत्यक्ष होना चित्तकी प्रमाणवृत्तिका एक निदर्शन है, परन्तु जिस समय गऊका प्रत्यक्ष होता है उस समय दो बाते एक साथ होती है : गऊ देखी जाती है और यह बात जानी जाती है कि गऊ देखी जा रही है। इस बातको हम यो कहते है—'मै गऊको देख रहा हूँ'। यह 'मै', यह गऊके ज्ञानको जाननेवाला, यह ज्ञानका ज्ञाता, यह चित्तका साक्षी, आत्मा है।

प्रज्ञानात्मवादी कहता है कि आत्माको चित्तसे पृथक् मानना भ्रम है। 'मेरा' चित्त कहना आत्माके पृथक् अस्तित्वका प्रमाण नहीं है, भाषाकी दुर्बलताका परिणाम है। 'मे', 'का' जैसे विभक्तिप्रत्यय कारकोंके प्रतीक है। 'मेरा घर', 'घरमे कपडा' वस्तुपरक है। इनसे यह बोध होता है कि मै, जो घरसे अलग वस्तु है, घरका स्वामी है; कपड़ा जो घरसे अलग वस्तु है, घरके भीतर है। परन्तु जब मै कहता हूँ 'चित्तके सवित्', 'चित्तमे विचार' तो यह तात्पर्य नही है कि सवित् और विचार चित्तसे अलग है। यह प्रयोग वैसे ही है जैसे 'घरमे कमरे'। घर कमरोसे अलग वस्तु नही है। इसी प्रकार 'मेरा चित्त' यह नही सिद्ध करता कि 'मै' चित्तसे पृथक् वस्तु है। यह भाषाका दोष है कि वह हमको दो अर्थोमे एक ही प्रकारका प्रयोग करनेपर विवश करती है। यह भी कह सकते है कि दोष भाषाका नही, हमारा है; हमारी धारणा भ्रान्त है इसलिए भाषा-का अनुचित प्रयोग करते है। वस्तुतः बात भी यही है। परन्तु 'मै' और चित्तके बीचमे सम्बन्धसूचक विभक्तिका बराबर आना भ्रान्तिको और पुष्ट करता जाता है।

पुरानी धारणाओ और भाषाके प्रयोगोको छोड़कर अपने प्रज्ञानोपर ध्यान देनेसे 'मै'का पता नही चलता। मै पुस्तक पढ़ रहा हूँ, मै भैरवी सुन रहा हूँ, मै पूरी खा रहा हूँ, तो कहनेके ढङ्ग है। इन अनुभूतियोको यो व्यक्त करना अधिक उचित है—'पुस्तक पढी जा रही है', 'वह स्वर-समूह जिसे भैरवी कहते है, सुना जा रहा है', 'वह रससमूह जिसे पूरी कहते है, आस्वादित हो रहा है।' प्रज्ञानोसे पृथक् अकेले 'मै'की कभी अनुभूति नहीं होती। जिस प्रकार सवितोके आधारपर बुद्धि वस्तुओका निर्माण करती है उसी प्रकार 'किसको सवित् हो रहे है?' इस प्रश्नके उत्तरमे उनके साक्षीकी कल्पना करती है। ऐसा मान लेती है कि जिस प्रकार तागेपर फूल गूँथे होते हैं उसी प्रकार सब प्रज्ञानोंमे एक अपरि-वर्तनशील आत्मा अनुस्यूत रहती है। उसीको प्रज्ञान होते है। बिखरे हुए फूल एक-दूसरेसे मिल सकते है, पर एक माला दूसरीसे व्यभिचरित नहीं हो

सकती। इसी प्रकार एक आत्माके साथ बँधे हुए प्रज्ञान दूसरे आत्माके साथ बँधे प्रज्ञानसे अलग रहते है। दो चित्त कभी टकरा नही सकते। बुद्धिकी यह कल्पना अवस्तु है। जलकी बूँदोके प्रवाहसे अलग नदीका कोई अस्तित्व नही है। बूँदोका अविच्छिन्न प्रवाह ही नदीको एकता, एक-सूत्रता प्रदान करता है। पानीमे यदि कङ्करी फेंकी जाय तो लहर उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लहर उस स्थानसे आरम्भ होकर किनारेतक चली जाती है। परन्तु वस्तुतः क्या आता है? यह सरल वैज्ञानिक प्रयोगसे स्पष्ट हो जाता है कि पानीकी कोई बूँद किनारेतक नही आती। प्रत्येक बूँद थोड़ा-सा ऊपर-नीचे हिलती है और अपनी गति अपने पडोसकी बूँदको देकर शान्त हो जाती है। कङ्करी फेंकनेके बाद किसी भी क्षणमे कुछ बूँदे शान्त हो चुकी होती है; कुछ शान्त होनेवाली होती है, कुछ पूरी उठी हुई है, कुछ आधी। इन सबको मिलानेसे लहरकी आकृति बन जाती है। ज्यो-ज्यो एकके बाद दूसरी बूँदमे ऊपर-नीचेवाली गति आती है त्यो-त्यो लहर आगेको बढ़ती प्रतीत होती है। लहर वह बुद्धिनिर्माण है जो अलग-अलग बूँदोकी गतियोको मिलाता है। इसी

प्रकार शान्त होनेके पहिले एक प्रज्ञान अपने सस्कार परवर्ती अर्थात् उदीयमान प्रज्ञानको दे जाता है। इस प्रकार पहिले अनुभव नष्ट नही होने पाते और स्मृति सम्भव होती है। यहॉतक तो प्रज्ञानोमे सम्बन्ध है, परन्तु जिस प्रकार जलमे लहर कल्पित है उसी प्रकार सारे प्रज्ञानोको एकमे बॉधनेवाली आत्मा कल्पित है, बुद्धिनिर्माण है। अलातचक्र, आतिशबाजी-की चर्खी को जलाइये, वह घूमने लगती है। हम यह जानते है कि उसका जलता सिरा ठहरता नहीं, बराबर घूमता रहता है। परन्तु जबतक ऑखमे उसका एक जगहसे पडा हुआ प्रतिबिम्ब मिटे तबतक दूसरा प्रतिबिम्ब आ

है। वह पूर्ववर्ती प्रज्ञानके सस्कारोका दायभागी तो है पर यह संस्कार उसके अविभाज्य अङ्ग हो गये होते है। यदि ऐसा न हो और पुराना सस्कार अपने पुराने व्यक्तित्वका कुछ भी अंश पृथक् रखे तो एक क्षणमे दो प्रज्ञान हो जायँ, जो अनुभव और क्षणकी परिभाषाके विपरीत है। ऐसी दशामे यदि प्रज्ञान चेतन होते है तो प्रत्येक प्रज्ञान अपने विषयको जान सकता है और यदि स्वानुभूति भी चेतनका लक्षण है तो, अपनेको जान सकता है। परन्तु प्रवाह किसी एक प्रज्ञानका धर्म नही है। सम्बन्ध, एकसूत्रता, किसी एक प्रज्ञानका धर्म नही हो सकता। जिस प्रकार धारा, लहर, प्रकाशका गोला, साक्षीकी अपेक्षा करते है उसी प्रकार प्रज्ञानोकी धारा, चित्तप्रवाह, प्रज्ञानोके परस्पर सम्बन्धको भी ऐसे साक्षीकी अपेक्षा है जो उनसे भिन्न हो। प्रज्ञानके चेतन होनेके पक्षमे यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार दीपककी लौ अन्य वस्तुओ-के साथ-साथ अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रज्ञान वस्तुओके साथ-साथ अपने स्वरूपको भी जानता है। इस उदाहरणमे उपमानको ठीक-ठीक समझना चाहिये। जब दीपक नही जल रहा था तब भी वस्तुएँ थी, पर उनके रूप छिपे थे। दीपकने उन्हे दिखला दिया। परन्तु क्या जलनेके पहिले लौका भी कोई छिपा रूप था जो जलनेपर प्रकट हो गया है? जलनेके पहिले तो लौ थी नही। अतः इस उपमाका इतना ही तात्पर्य है कि प्रज्ञान अपने विषयका द्रष्टा है और अपनी क्षणिक सत्ताका द्रष्टा है, उस क्षणके पहलेका ज्ञान उसको नही हो सकता। दीपक बुझे हुए दीपकोका प्रकाशक नही हो सकता। प्रज्ञान अतीत प्रज्ञानोका साक्षी नही हो सकता। इससे भी यह प्रतीत होता है कि चित्तकी अवस्थाओका साक्षी स्वय चित्त नही हो सकता। चेतन आत्मा 'मै' उससे पृथक् है। उसके सामने चित्तके परिवर्तनोका नाटक होता रहता है। चित्त उसके लिए शरीरकी भाँति उपस्कर है। शरीरकी चेष्टाओकी भाँति चित्तका व्यापार भी न तो निरर्थक होता है, न स्वार्थ-परक। चित्त केवल निश्चेष्ट दर्पणकी भाँति विषयोको प्रतिबिम्बित करके

नहीं होता। यह भेद पुनर्जन्म-सिद्धान्तको माननेसे समझमे आ सकता है।

अपने आयुष्यकालमें मनुष्यको सहस्रों अनुभूतियाँ होती है। प्रत्येक प्रज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु उसका प्रभाव उत्तरवर्ती प्रज्ञानपर पड़ता है। इस प्रकार एक प्रज्ञानसे दूसरे प्रज्ञानको जो प्राप्त होता है उसे सस्कार कहते हैं। प्रज्ञानोका लोप हो जाता है परन्तु सस्कार रह जाते है। इनमेसे कुछको तो हम स्मृतिके द्वारा पुनः जगा सकते है परन्तु अधिकाश इतने नीचे दब जाते है कि वह फिर सामने नहीं आते। फिर भी चित्तपर उनका प्रभाव पडता रहता है। इस प्रकार अपने जीवनकालमे जीव बहुत-से नये सस्कार बटोर लेता है। सब जीव एक-सी परिस्थितिमे नही पड़ते, इसलिए सबकी अनुभूतियाँ एक-सी नहीं होती, संस्कार एक-से नही होते। सस्कारो-का चित्तपर प्रभाव पड़ता है इसलिए यदि जन्मकालमे दो चित्त एक-से रहे हो तब भी मरण-कालतक पहुँचते-पहुँचते उनमे अन्तर पड़ जायगा। हमने यहाँ अनुभूति शब्दका व्यापक अर्थमे प्रयोग किया है। उसके अन्तर्भूत जीवके ऊपर बाह्य जगत्की क्रिया और बाह्य जगत्पर जीवकी प्रतिक्रिया, दोनो है। उभयतः उसके संस्कारोके सञ्चित कोषमे वृद्धि होती रहती है।

शरीर जीवके भोगका साधन है परन्तु वह क्षयिष्णु है, बहुत दिनों-तक काम नही देता। परन्तु भोगकी आवश्यकता तो बनी रहती है। इसलिए जीव एक शरीरके बेकाम हो जानेपर शरीरान्तरसे जाता है। इस नये शरीरसे भी वह पुराने संस्कारोका भण्डार साथ लाता है इसलिए सब चित्त एक-से नहीं होते। यदि दो जीव किसी एक ही जातिके शरीरमे है तो यह तो स्पष्ट है कि उनके चित्तोमे बहुत-कुछ सादृश्य है, परन्तु इस सादृश्यके पीछे पिछले शरीरोमे सञ्चित किये हुए सस्कारोके वैषम्य भी है। इसीलिए वासनादिमे भी भेद होता है। दो मनुष्यों, दो कुत्तों, दो गिद्धों, दो गुबरैलोके व्यवहार कदापि पूर्णतया एक-से नहीं हो सकते। जगत् अनादि है इसलिए जीवके असंख्य शरीर हो चुके है। जगत् अनन्त है इसलिए असख्य शरीर होंगे।

हमारे कामके लिए इतना निरूपण पर्याप्त है, पर यह पूर्ण नहीं है। पुनर्जन्म-सिद्धान्त उस कर्मसिद्धान्तका अङ्ग है जिसकी ओर हमने इस खण्डके दूसरे अध्यायके ईश्वराधिकरणमे सकेत किया था। सब जीव एक-सी योग्यता लेकर तो नही ही आते, सबके भोगप्राप्तिके अवसरोमे जन्मसे ही वैषम्य होता है। कोई स्वस्थ होता है कोई रोगी, कोई सम्पन्न और सस्कृत घरमे जन्म लेता है, कोई दरिद्र और अशिक्षित घरमे, कोई दीर्घायु होता है कोई अल्पायु, कोई मनुष्य होकर भी रोकर दिन भरता है, कोई हँसते-खेलते कुत्तेका जीवन बिताता है। कर्म-सिद्धान्त इस वैषम्यको समझनेमे सहायता देता है।

५. आत्मसाक्षात्काराधिकरण

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमे तो चित्तपरिणाम होते रहते है, आत्माकी तीनो योग्यताएँ न्यूनाधिक काम करती रहती है, परन्तु एक ऐसी अवस्था होती है जिसमे चित्तका निरोध हो जाता है। इसको तुरीया अवस्था कहते है। यह असम्प्रज्ञात समाधिका ही दूसरा नाम है।

योगाभ्यासके आरम्भमे ही तुरीयावस्था नही आती। प्रथमकल्पिक[1] साधकका चित्त विक्षिप्त रहता है और उसकी अवस्था जाग्रत् रहती है। जब उसका प्राण कुछ-कुछ बाहरसे खिचकर सुषुम्नामे ऊर्ध्वमुख होता है तो साथ-साथ जीव भी अन्तर्मुख होता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपनी भोक्तृत्व और कर्तृत्व-सामर्थ्योका सवरण करने लगता है। इससे वासनाओ और सङ्कल्पोका शमन होने लगता है। अभी अभ्यासी भौतिक जगत्के बाहर नही गया है। शरीरके भीतर-बाहर भूतविस्तार है, सवितोकी भरमार रहती है। ज्यो-ज्यो भोगसाध्यताकी आवश्यकता कम होती है त्यो-त्यो चित्त अपने उन व्यापारोको छोड़ देता है जिनसे बहुत-से सवितोका परित्याग हो जाया करता था और शेषमे भाँति-भाँतिके सम्बन्ध जोड़े जाते थे। सस्कार और स्मृतियोका अभी लोप नही हुआ है, अहङ्कार

१. योगके नये अभ्यासीको प्रथमकल्पिक कहते हैं।

काम कर रहा है इसलिए कुछ तो रञ्जन होता है, परन्तु क्रमशः इसकी मात्रा कम होती जाती है और संवित् और प्रत्यक्षके बीचका अन्तर घटता जाता है। इन्द्रियोंके ऊपरसे शरीरका प्रतिबन्ध कम होनेसे उनकी ग्राहकता बढ़ जाती है इसलिए संवितोंकी संख्या और उनके प्रकारमे अपार वृद्धि होती है। अननुभूतपूर्व शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध प्राप्त होते है। ज्यों-ज्यो अभ्यास दृढ़ होता है, स्थूलसे सूक्ष्म भूतों, क्षितिसे वायुके प्रत्यक्ष होते हैं। यह प्रत्यक्ष उत्तरोत्तर यथावस्तु होते है। इस प्रकार साधक युष्मत् प्रपञ्चको पार करता है। जबतक उसकी इतनी उन्नति होती है तबतक भोक्तृत्व और कर्तृत्व विलीनप्राय हो चुके होते है। अब चित्तके प्रज्ञानोका प्रवाह, उसकी वृत्तियाँ, उसमे निमज्जित संस्कार, ज्ञानका विषय होते है। क्रमशः इनके ऊपर उठकर ज्ञाता स्वयं ज्ञेय हो जाता है। उसको अपनी सत्ताका, अपनी अस्मिताका, ज्ञान रहता है। यह ज्ञान भी चेतनको, जीवको ही हो सकता है। इसका साधन भी चित्त है। ज्ञातृत्व सामर्थ्यसे प्रतिबिम्बित होकर चित्तमे आत्माके स्वरूपका जो आभास पड़ता है वही सम्प्रज्ञात समाधिकी चरम अवस्था है। इसके बाद जब ज्ञातृत्व-योग्यता पूर्णतया खिच जाती है तब चित्त निश्चेष्ट, निरुद्ध हो जाता है। चित्तसे वियोग हो जानेसे जीवन नही रह जाता। यही तुरीयावस्था, असम्प्रज्ञात समाधि, निर्विकल्प समाधि है। इस अवस्थामे आत्माकी ज्ञातृत्व आदि योग्यताएँ अपनेमे सवृत रहती है। यही आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कारकी अवस्था है। जहाँतक अस्मिता है वहाँतक तो अनुभूतिक्रम अर्थात् काल है। निरोधावस्थामे क्रमका अभाव है, इसलिए वह कालातीत है।

यह समझ लेना चाहिये कि आत्मसाक्षात्कारका अर्थ आत्माके स्वरूपका अवधारण, समझना, नहीं है। साक्षात्कार और अवबोधमे भेद है। अज्ञातका ज्ञातके साथ सम्बन्ध मिलाना अवधारण कहलाता है। जब हम किसी नयी वस्तुको देखते है तो उसको पुरानी वस्तुओसे मिलाते है। ऐसा करनेसे वह समझमे आ जाती है। समझनेका साधन चित्त है।

परन्तु जब चित्तका निरोध हो गया उस अवस्थामे तुलना कैसे होगी ? फिर, यदि आत्मा अज्ञात है तो वह कौन-सी ज्ञात वस्तु है जिसके द्वारा उसको समझा जायगा ? आत्मासे, जिसकी सत्ता प्रत्येक प्रज्ञानमे विद्यमान है, अधिक ज्ञात और क्या है ? समझना तब होता है जब समझनेवाला और समझी जानेवाली वस्तु दोनो हो। जिस अवस्थामे केवल आत्मा रह गया उसमे कौन किसको समझेगा ?

इसलिए आत्मसाक्षात्कार एक अपूर्व अनुभूति है जिसकी तुलना उन अनुभूतियोसे नही की जा सकती जो जाग्रतादि अवस्थात्रयमे होती है। समाधिसे व्युत्थित होनेपर सम्प्रज्ञात समाधिके अनुभवको तो कुछ टूटे-फूटे शब्दोमे व्यक्त किया जा सकता है या कमसे कम इसका प्रयत्न किया जा सकता है, परन्तु तुरीयावस्थाकी अनुभूति चित्त और वाणीके लिए सर्वथा अविषय है। आत्मा न समझा जा सकता है, न समझाया जा सकता है; वह स्वसंवेद्य है, उसका साक्षात्कारमात्र किया जा सकता है। आत्मसाक्षात्कारको ही आत्मज्ञान भी कहते है।

८. आप्तसाक्ष्याधिकरण

योगी आप्तपुरुष होता है। उसका साक्ष्य हमारे लिए प्रमाण है। यह सौभाग्यकी बात है कि हमको योगियोकी अनुभूतिका वर्णन करनेवाला प्रभूत वाङ्मय लभ्य है। यह वर्णन समाधि-भाषामे है और देशकालपात्र-भेदसे विषयनिरूपणमे स्वभावतः भेद है। समाधि-भाषाका पूरा-पूरा अर्थ लगाना साधकका ही काम है फिर भी गम्भीर मनन और अनातुरताकी सहायतासे उसकी आंशिक मीमासा की जा सकती है। योगी भारतमे और भारतके बाहर भी हुए है। उपनिषदोमें वामदेव, त्रिशंकु, यम, प्रजापति, इन्द्र, याज्ञवल्क्य, विदेह, अश्वपति, सनत्कुमार, जाबालि, ऐतरेय आदिके नाम मिलते है। इनके सिवाय व्यास, वशिष्ठ, श्रीकृष्ण, शङ्कराचार्य, वर्द्धमान महावीर, गोरक्ष, दत्तात्रेय, ज्ञानदेव, कबीर, नानक, रामकृष्ण जैसे और भी कई नित्यस्मरणीय महात्मा हो गये है।

यह सब एक स्वरसे यह कहते है कि समाधिके अन्तमें, जब सब प्रज्ञानोका उपशम हो जाता है, आत्मसाक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार बुद्धि और वाणीके परे है। उसमे साधकका 'मै' भी खो जाता है। इस बातका समर्थन ईसा और ईसाई साधको तथा सूफियोंके कथनोंसे भी होता है।

केवल एक ओरसे इसके विपरीत बात सुनी जाती है। बौद्ध विद्वान् ऐसा कहते है कि सम्प्रज्ञात समाधिकी चरम सीमापर पहुँचकर जब अस्मिताका क्षय हो जाता है उस अवस्थामे अर्थात् निर्विकल्प समाधिमे, आत्मा नहीं प्रत्युत शून्य, 'कुछ नहीं', अवशिष्ट रहता है। व्युत्थानदशामे इस शून्यमे भ्रान्तिसे अस्मिता-विशिष्ट आत्माकी प्रतीति होती है। बौद्धोका यह शून्यवाद तर्कपर अवलम्बित है, परन्तु उनका तर्क अहैतुक है। भ्रान्ति विपर्यय, अध्यासका नाम है। अध्यास बिना आस्पदके नही होता। रस्सीमे किसीको सर्प, किसीको लकडीकी प्रतीति हो सकती है; बालूमें मरीचिका जल देख पड़ता है। शून्य, अभाव, 'न कुछ' असत् है, उसमे सत्, भाव, 'कुछ'की प्रतीति नहीं हो सकती। यह ध्यानमे रखना चाहिये कि स्वयं गौतम बुद्ध और उनके सारिपुत्र या मौद्गलायन जैसे साधक शिष्योने ऐसी बात नही कही। बुद्धसे जब कभी उस अन्तिम अवस्थाके विषयमे पूछा जाता था तो वह चुप हो जाते थे। इससे उनका तात्पर्य तो यही रहा होगा कि वह वर्णनका विषय नही है, परन्तु पीछेसे लोगोने उनके मौनकी अनुचित मीमांसा करके यह वाद खड़ा किया।

७. आत्मस्वरूपाधिकरण

यह तो हम देख चुके है कि आत्मसाक्षात्कार अपूर्व अनुभूति है। उसके लिए कोई उपमान नहीं मिल सकता, इसलिए शब्दोमे उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामे आत्माका स्वरूप कैसा है यह दूसरेको समझाना असम्भव है। वह स्वरूप स्वसंवेद्य है। 'कैसा है' बतलानेकी जगह 'कैसा नही है' बतलाना सुकर है। जो उपमान दिया जाय, जो विशेषण दिया जाय, प्रायः सबके लिए एक ही उत्तर है : 'यह नहीं', 'आत्मा ऐसा

नही है'। उपनिषदोमे इसीलिए कहा गया है कि वह 'नेति-नेति' (यह नही, यह नही) शब्दका वाच्य है। जो भी निरूपण किया जाता है वह प्रायः जीवका, चेतनका, चित्तविशिष्ट आत्माका होता है।

फिर भी कुछ बाते कही जा सकती है। पहिली बात यह है कि आत्मा है, वह सत्य है, सत् है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह नित्य अर्थात् अज और अमर है। दूसरी बात यह है कि आत्मा चेतना है, चेतन नही। वह शुद्ध, परिपूर्ण, केवल, चेतना है। इसलिए उसको चित्, चिन्मय, चिद्घन कहते हैं। चेतना चेतन होनेकी योग्यताको, ज्ञाता द्रष्टा होनेकी योग्यताको कहते है। इसलिए उसे चिति, दृशि और ज्ञान-स्वरूप कहते है। तीसरी बात यह है कि वह दिक्कालसे अनवच्छिन्न है, दिक् और कालके परे है।

यह बात भी निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि आत्मा एक और अखण्ड है। चेतन अनेक है परन्तु आत्मा, चेतना, चेतन होनेकी योग्यता, ज्ञाता-भोक्ता-कर्ता होनेकी शक्ति, एक है। अनेक चित्तोंके साथ मिलकर वह अनेक जीव हो रही है; अनेक शरीरोके भीतर रहकर अनेक शरीरी, अनेक शारीर बन रही है। आत्माकी अद्वितीयताके साक्षी आप्त-पुरुषोके कथन है। वह पुकार-पुकार कर कहते है कि तुरीयावस्थामे द्वैतका प्रणाश हो जाता है। यह बात बुद्धिसङ्गत भी प्रतीत होती है। यदि आत्माएँ एकसे अधिक हो तो उनका व्यावर्तक क्या होगा, अर्थात् वह क्या पदार्थ होगा जो एक आत्माको दूसरेसे पृथक् करेगा? जिस अवस्थामे आत्मा अपने स्वरूपमे अवस्थित रहता है उसमे शरीरका तो कहना ही क्या है, चित्त भी नही रहता। और दूसरा कोई व्यवच्छेदक नही हो सकता; इसलिए आत्मा एक, अखण्ड, अच्छेद्य है।

यह भी स्पष्ट है कि आत्मस्वरूप एकरस है; उसमे परिवर्तन नही होता। यदि वह परिणामी होता तो उसमे क्रम होता, कालानुभूति होती और वह प्रज्ञानोंका, चित्तके परिणामोका साक्षी न हो सकता। इस एक-रसताको उपनिषदोंमे आनन्द कहा है।

साराश यह है कि आत्माके सम्बन्धमे इतना तो कह सकते है कि वह एक, अखण्ड, दिक्कालानवच्छिन्न, दृशिमात्र, चितिमात्र, केवल-ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) है। सच तो यह है कि इतना विस्तार भी अनावश्यक है। केवल सत् और चित् कहना पर्याप्त है। और सारी बाते इनके अन्तर्गत है। सच तो यह है कि अकेला चित् अलम् है। चित् कहनेके बाद सत् कहना भी अनावश्यक है। इससे अधिक विवेचना करना दुष्कर है। नेति, नेतिके सिवाय और जो कुछ कहा जायगा वह अनुचित होगा। आत्मा साक्षात्कार्य है, अवधारयितव्य नही।

८. ब्रह्माधिकरण

हमको ऐसा प्रतीत होता है कि शरीरके भीतर चित्त है। और अब हमने यह देखा है कि चित्तके भीतर, चित्तका प्रेरक, आत्मा है। इस दृष्टिसे उसको प्रत्यगात्मा (प्रत्यक्+ आत्मा) कहते है।

आत्मा एक है। इसलिए वह सब शरीरोका शरीरी, सब चेतनोकी चेतना, सब चित्तोका साक्षी, सब जीवोका अन्तस्तम है। सब जीव उसीके सक्रिय रूप है, सब शरीर उसीके शरीर है, सब चित्त उसीके चित्त है, सब चेतनोमे उसीकी ज्योति, उसीकी अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिसे आत्माको ब्रह्म कहते हैं।

जिसके द्वारा किसी पदार्थका वास्तविक रूप छिप जाता है उसको उपाधि कहते है। ब्रह्म एक होते हुए भी शरीर और चित्तसे ढॅककर अनेक हो गया है। इसलिए शरीर और चित्त ब्रह्मकी उपाधियॉ है। परन्तु हम देख चुके है कि शरीर चित्तमें सवित् मात्र है, इसके सिवाय उसकी कोई और सत्ता नही है। इसलिए ब्रह्म चित्तके योगसे एकसे अनेक हुआ है। चित्त ही ब्रह्मकी मुख्य उपाधि है।

हमने कई स्थलोपर 'स्वसवेद्य' शब्दका व्यवहार किया है। जो दूसरेको न समझा जा सके, जैसे शक्करका स्वाद, वह स्वसंवेद्य है। परन्तु जब हम आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, मायाब्रह्मसम्बन्ध, आदिके

सम्बन्धमे 'स्वसंवेद्य' कहते है, तो अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। शक्करका स्वाद इन्द्रियविशेषका विषय है, चित्तग्राह्य है। माताकी पुत्रपर ममता इन्द्रियग्राह्य न होते हुए भी चित्तग्राह्य होनेके अर्थमे स्वसंवेद्य है। परन्तु आत्मा आदि चित्तग्राह्य नहीं है। ब्रह्म एक, अखण्ड, अद्वय है, अनवधार्य है। चित्त द्वैतमे पला है। ब्रह्मको समझनेका प्रयत्न अद्वैतको द्वैतके चश्मेसे देखनेका प्रयत्न है। असम्प्रज्ञात समाधिकी चरम सीमासे, निरोधावस्थाके थोड़ा पहिले, वास्तविकताका जो भान होता है, चित्तके झीने पर्देकी आड़मे सत्यकी जो झलक मिलती है, वह स्वसंवेद्य है। उसके आगे संवेद्यता ही नहीं है, स्व और परका तो प्रश्न ही क्या है। दूसरी ओर शुद्ध द्वैत प्रपञ्च है।

९. श्रुतिप्रामाण्याधिकरण

इस स्थानपर इस प्रश्नपर विचार कर लेना अनावश्यक न होगा कि वेद कहाँतक प्रामाणिक है, अर्थात् आध्यात्मिक विषयोंके सम्बन्धमें जो कुछ वेदमे लिखा है उसको कहाँतक प्रमाण मान लिया जाय। पहिली बात तो यह है कि वेदमे क्या कहा गया है, यह स्वयं विवादास्पद है। एक ही मन्त्रके कई प्रकारके अर्थ लगाये जाते है और जा सकते है। फिर वेद ही क्यो, बाइबिल और कुरानको क्यो न प्रामाणिक माना जाय? वेदके प्रामाण्यके सम्बन्धमे कुछ विचार इस खण्डके दूसरे अध्यायके ईश्वराधिकरणमे किया गया है। यदि वेद आप्तवाक्य है तो उसका समर्थन दूसरे आप्तपुरुषोंके वाक्योंसे होना चाहिये और यह समर्थन मन्त्रभागको भी मिलना चाहिये। यह समर्थन किसी तर्कके द्वारा नहीं हो सकता। यदि किसी महायोगीका अनुभव श्रौत आदेशोका समर्थन करता है, यदि वह स्वयं दिखला देता है कि यथाविधि करनेसे यज्ञोसे यथाकथित फल प्राप्त होते है, तो वेद सत्य है। अन्यथा उनकी प्रामाणिकता केवल कुछ लोगोकी श्रद्धाका विषय होगी।

चौथा अध्याय

नानात्वका सूत्रपात

हमारे अबतकके अध्ययनका जो निष्कर्ष है उसको यों लिख सकते हैं—

(१) ब्रह्म या आत्मा एक है। उसका स्वरूप सत् और चित् है। वह अपरिणामी है और दिक्कालके परे है।

(२) चित्तके साथ मिलकर वह एकसे अनेक हो जाता है। चित्तोपाधिविशिष्ट आत्मा, अर्थात् जीव, चेतन है।

(३) चित्त प्रत्यगात्माके प्रकाशमें, उसकी शक्तिके आश्रयसे काम करता है, इसीलिए उसके चेतन होनेकी भ्रान्ति होती है। चित्त असंख्य संस्कारोंका भण्डार है। संस्कार-वैषम्य जीवोंके सजातीय भेदोंका कारण है।

(४) चित्तमें जो संवित् उत्पन्न होते रहते हैं उनके कारण हमको बाह्य जगत्की प्रतीति होती है।

इन चारों बातोंपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि विश्वमें दो पदार्थ हैं : अपरिणामी आत्मा और परिणामी चित्त।

इन्हीं दोनोंके योगसे विश्व बनता है। यदि योग न हो, तो न तो चेतन असत् बने, न चित्तमें संवित् उठें। संवितोंके अभावमें युष्मत् भी न हो। अतः जगत्को समझनेके लिए हमको तीन प्रश्नोंके उत्तर मिलने चाहिये—

(१) प्रत्यगात्माका चित्तके साथ योग कैसे हुआ है?

(२) प्रत्यगात्मासे अयुक्त और संवित्-विहीन चित्तका क्या स्वरूप है?

(३) प्रत्यगात्मासे योग होनेपर चित्तमें संवित् किस प्रकार उठते हैं? जहाँ हमने 'कैसे' और 'किस प्रकार' कहा है, वहाँ साधारण बोल-चालमें 'क्यों'का प्रयोग होता है।

प्रथम दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें अस्मत् और तीसरे प्रश्नके उत्तरमें युष्मत्‌की कुञ्जी है।

जो आत्मा सर्वथा अतर्क्य है, जिसका साक्षात्कार अनुपम, अपने ढङ्गका निराला है, उसके सम्बन्धमें कैसे और क्यों बताना, उसको तर्कका विषय बनाना, सुसाध्य नहीं है। फिर भी तर्कसे सहायता मिलती है। योगियोंने अपने सम्प्रज्ञात समाधिके अनुभव हमारे पासतक पहुँचानेका यत्न किया है, परन्तु हम सावधान किये देते हैं कि यह बातें—मेरा सकेत प्रथम प्रश्नकी ओर है—अनुभवगम्य हैं। इनका जो ज्ञान होता है वह अतर्क्य है, परन्तु यह ज्ञान तर्कका आधार बनाया जा सकता है और इस तर्ककी सहायतासे जगत्‌का प्रतीयमान रूप समझा जा सकता है। यही उसके सत्य होनेका प्रमाण है।

१. चित्तस्वरूपाधिकरण

ऊपर जो तीन प्रश्न उपस्थित किये गये हैं उनमें दूसरा यह है कि चित्तका अपना रूप क्या है ? जिस पदार्थसे आत्माका योग हुआ उसका स्वरूप जान लेनेपर यह समझनेमें सुगमता होनी चाहिये कि दोनोंमें योग किस प्रकार हुआ।

चित्तके स्वरूपके सम्बन्धमें हम पिछले अधिकरणोंमें कई स्थलोंपर कुछ-न-कुछ कह आये हैं। जैसे, चेतोव्यापाराधिकरणमें कहा गया है कि 'अच्छेद्य चेतोव्यापारका ही नाम चित्त है। प्रज्ञानोंके सतत प्रवाहसे भिन्न चित्तकी कोई सत्ता नहीं है।' वहीं यह भी बतलाया गया है कि 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, सङ्कल्प आदि परिणामोंकी निरन्तरवर्तिनीमाला'को चेतोव्यापार कहते हैं। इसके पहिले, सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरणमें मन, अहङ्कार और बुद्धिके प्रसङ्गमें कहा गया है कि 'वस्तुतः अन्तःकरण या चित्त एक है पर वह क्रमात् तीन प्रकारके काम करता रहता है इसलिए उसे तीन नाम दिये गये हैं।' अभी कुछ ही पृष्ठ पहिले प्रज्ञानात्मवादमें प्रज्ञानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है, 'किसी

क्षण-विशेषमे चित्तका जो रूप होता है उसे प्रज्ञान कहते है' और वहीं आगे चलकर यह दिखलाया गया है कि चित्तके किसी रूपमे ज्ञान प्रधान रहता है, किसीमे इच्छा और किसीमे क्रिया, परन्तु एककी प्रधानताके साथ-साथ प्रत्येक अवस्थामे शेष दोनो भी रहते है। यह भी कहा गया है कि नष्ट होनेके पहिले प्रत्येक प्रज्ञान अपना सस्कार परवर्ती प्रज्ञानको दे जाता है और यह बात बार-बार दुहरायी गयी है कि चित्त वासनाओ और योग्यताओका भण्डार है।

इन कथनोको मिलानेसे चित्तका स्वरूप समझमे आ सकता है। पहिले संस्कारोको लीजिये। जब प्रज्ञान ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पका समुदाय है तो एक प्रज्ञानसे दूसरेमे ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प ही अन्तरित हो सकते है। योग्यताका अर्थ है अध्यवसाय करनेकी योग्यता। एतत्कालीन सविद्‌विशेषको समकालीन दूसरे सवितोसे सम्बद्ध करना या उसको पिछले ज्ञानेच्छासङ्कल्पोके सस्कारोसे सम्बद्ध करना या दो सस्कारोको सन्तुलित करना अध्यवसायका रूप है और यही ज्ञानकी प्रक्रिया है। चेतोव्यापारका यही मुख्याश है। इस विश्लेपणका सार यह निकला कि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पके समुच्चयका नाम चित्त है।

एक आक्षेप यह हो सकता है कि हमने चित्तके स्वरूपका वर्णन करनेमे सुख-दुःखका उल्लेख नही किया। इसका कारण यह है कि सुख-दुःख ज्ञानेच्छासङ्कल्पके बाहर नही है। इच्छाके दो रूप है, राग और द्वेष। क्रोध, लोभ, उत्साह, औत्सुक्य, स्नेह, प्रेम, घृणा आदि जितने भी भाव है सब इन दोनोके अन्तर्गत है। जो सवित् या स्मृति या विचार सामने आता है वह या तो अच्छा लगता है, उपादेय प्रतीत होता है, उसके प्रति राग होता है या बुरा लगता है, हेय प्रतीत होता है, उसके प्रति द्वेष होता है। भोगसाधकतामे उपादेयता, बाधकतामे हेयता है। रागमे चित्त उसको ज्ञानका विषय बनाये रखना चाहता है, द्वेपमे उसको ज्ञानका अविषय बनाना चाहता है। इसके लिए जो आभ्यन्तर प्रयत्न होता है वह सकल्प है। यदि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प एक बिन्दुपर, एक

वस्तुपर, एकत्र होते है तो चित्तमे विशेष स्फूर्ति, तीव्रता, आ जाती है। इसका नाम सुख है। यदि ज्ञानका विषय एक और इच्छा तथा सङ्कल्पका दूसरा होता है तो एक प्रकारका तनाव-सा होता है। उसका नाम दुःख है। यदि शक्कर अच्छी लगती है, शक्करकी प्राप्तिके लिए यत्न हुआ और शक्कर खायी गयी अर्थात् शक्करका ही सवित् द्वारा ज्ञान हुआ तो सुख होगा, यदि शक्करकी जगह मिर्चा खाया गया, सवित् द्वारा मिर्चेका ज्ञान हुआ तो दुःख होगा। अतः सुःख-दुःखको ज्ञानेच्छासङ्कल्पसे पृथक् करनेकी आवश्यकता नही है। हम फिर उसी जगह पहुँचते है कि ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पके समुच्चयका नाम चित्त है।

हमने अभी देखा है कि इच्छा और सङ्कल्प ज्ञानके आश्रित है। अतः विभिन्न चित्तोमे मुख्य भेद ज्ञानका होगा। किसीका ज्ञान अधिक, किसीका कम होता होगा और इसीके अनुसार उनकी इच्छाएँ और सङ्कल्प होते होगे। एक और भेद हो सकता है जिसको हम अध्यवसाय करनेकी योग्यता कह आये है। ज्ञान, इच्छा, संकल्प और अध्यवसायकी योग्यता चित्तके स्वरूप है।

ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्पका कोई-न-कोई विषय होता है। चित्तमे अनेक प्रकारके विषय होते है, परन्तु इन सबकी जड़मे शब्दादि पाँचो सवित् है। जब आत्माकी ज्ञातृत्व-योग्यता सक्रिय होकर सवित्पर काम करती है तब ज्ञान होता है, जब भोक्तृत्व-योग्यता सक्रिय होकर संवित्पर काम करती है तब इच्छा होती है और जब कर्तृत्व-योग्यता सक्रिय होकर सवित्पर काम करती है तब सङ्कल्प होता है। ज्ञातृत्व-सामर्थ्यका ही नामान्तर अध्यवसायकी योग्यता है। इस विवेचनाका मथितार्थ यह निकला कि सवित्के प्रति सक्रिय ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व-शक्तिका नाम चित्त है। परन्तु ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व-शक्तिका नाम ही आत्मा है। अतः चित्त आत्माकी वह अवस्था है जिसमे वह सवितोके प्रति सक्रिय होता है, संवितोसे प्रभावित होता है।

कभी तीनों शक्तियाँ तुल्य रूपसे व्यक्त होती है, कभी कोई कम व्यक्त होती है। सक्रियताकी मात्रामे भी भेद हो सकता है। चित्तोकी अनेकता और उनकी पारस्परिक असमानताका यही कारण है। जीवोकी अनेकता और वैषम्यका यही आधार है।

२. मायाधिकरण

हमारे सामने तीन प्रश्न उपस्थित थे। पिछले अधिकरणमे उनमेसे एकका उत्तर उपलब्ध हुआ। उसके प्रकाशमे हमको शेष दोनोके उत्तर ढूँढ़ने है। प्रश्न यह है—

आत्माका चित्तसे योग कैसे हुआ है?

चित्तमे सवित् किस प्रकार उत्पन्न होते है?

यह पहिले कहा जा चुका है कि आत्माओकी समष्टिकी दृष्टिसे आत्माकी ब्रह्म सज्ञा होती है। यहाँ आत्माके अनेक चित्तोके साथ युक्त होनेके सम्बन्धमे विचार करना है। इस प्रसङ्गमे ब्रह्म शब्दसे काम लेना अच्छा होगा।

हम देख चुके है कि जब आत्मा सवित्के प्रति सक्रिय होता है तो वह चित्तरूप हो जाता है। इस दशामे आत्मा और चित्तके योग होनेका अर्थ हुआ चेतनाके निष्क्रिय रूपका उसके सक्रिय रूपसे योग होना; दूसरे शब्दोमे, निष्क्रियसे सक्रिय होना। इसलिए पहिले प्रश्नका तात्पर्य यह है—ब्रह्म जो निष्क्रिय—चेतना, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्वमात्र—था, सक्रिय—चेतन, ज्ञाता, भोक्ता, कर्ता—कैसे हुआ?

कोई पदार्थ अपनी अवस्थाको तभी बदल सकता है जब उसको किसी बाहरी शक्तिसे नोदन प्राप्त हो। इस सिद्धान्तका न्यूटनने जाड्य नियमके नामसे प्रतिपादन किया था। जबतक किसी प्रकारका बाहरी धक्का न लगे तबतक जो वस्तु निश्चेष्ट है वह निश्चेष्ट पड़ी रहेगी, जो गतिशील है वह उसी गतिसे बराबर चलती रहेगी, परन्तु ब्रह्मको नोदन देनेवाला पदार्थ कौन था? ब्रह्म एक ही नहीं प्रत्युत अद्वय भी है। उसके

सिवाय और कुछ नहीं है। हमको ऐसा प्रतीत होता था कि चित्तकी भी स्वतन्त्र सत्ता होगी, परन्तु वह ब्रह्मका सक्रिय रूप निकला। अतः वह ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है। वह सब-कुछ है। केवल उसकी ही सत्ता है। फिर वह सक्रिय कैसे बना? यह नहीं कह सकते कि चित्तकी प्रेरणासे ऐसा हुआ, क्योंकि परवर्ती सक्रिय रूप पूर्ववर्ती निष्क्रिय रूपका प्रेरक नहीं हो सकता था।

विमर्शको आगे बढानेके पहिले हम उस चेतावनीको, जो पहिले दी जा चुकी है, फिर दुहराते है। जिस स्तरपर यहाँ बुद्धि दौड़ायी जा रही है वह वस्तुतः अतर्क्य है, अनुभवगम्य है, अवबोधका विषय नहीं है। इसलिए वहाँ पहुँचनेके पहिले ही भाषाके पर जल जाते हैं। परवर्ती, पूर्ववर्ती, पहिले, पीछे, तब, जैसे शब्द कालवाची है, परन्तु निष्क्रिय ब्रह्म तो कालसे विशिष्ट नहीं है। हमको विवश होकर इन शब्दोंसे काम लेना पडता है अन्यथा विचारकी गति अवरुद्ध हो जायगी। मनन करनेवालेको भाषाजनित भ्रान्ति, विकल्पसे बचते रहनेका सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

यह भी नहीं कह सकते कि संवितोंसे नोदन मिला। संवित् चित्तका परिणाम है। चित्त और संवित् अन्योन्याश्रित है। बिना संवित्के चित्त नहीं होता, क्योंकि संवितोंका अवलम्बन करके ही ज्ञान, इच्छा और सङ्कल्प होते हैं, परन्तु बिना चित्तके संवित् भी नहीं हो सकता। यह विचारणीय है कि चित्तमे संवित् कैसे होते हैं। यह वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है जिसको खोलनेका प्रयास हमको आगे चलकर करना है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि संवित् उस चित्तका हेतु नहीं हो सकता जिसका वह स्वयं एक परिणाम है। लहरोंके समुच्चयका नाम भले ही समुद्र हो, परन्तु समुद्रकी उत्पत्तिमे लहर प्रेरक नहीं हो सकती।

तत्त्वान्तरके अभावमे यह कल्पना की जा सकती है कि ब्रह्म अपनी अन्तःप्रेरणासे सक्रिय बना अर्थात् निष्क्रियसे सक्रिय बनना उसका स्वभाव है। परन्तु यह कल्पना अग्राह्य है। इसको माननेका अर्थ यह होगा कि

ब्रह्म परिणामी, परिवर्तनशील है। परन्तु हम पहिले सिद्ध कर आये है कि ऐसा नही हो सकता। यदि ब्रह्म स्वय परिणामी होता तो वह चित्तके परिणामोका, प्रज्ञानोके प्रवाहका, साक्षी न हो सकता। अतः ब्रह्म अपने स्वभावसे भी चित्तरूपमे परिणत नही हुआ।

इसका तात्पर्य तो यह निकलता है कि ब्रह्म जैसा था वैसा ही रहा, उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ। परन्तु यदि उसमे परिवर्तन नही हुआ तो चित्त कहाँसे आया? सवित् किसमे होते है? यदि चित्त और संवित् नही है तो फिर यह जगत् क्या है? यदि ब्रह्म परिणत नही हुआ तो उसके सिवाय और कुछ तो था ही नही जिसका जगत् रूप होता। शून्य, असत्, से सत् हो ही नही सकता, अतः ब्रह्मके यथावत् रहनेका अर्थ यह होता है कि जगत् हो ही नही सकता।

परन्तु जगत् प्रतीत हो रहा है। जो हो नही सकता वह है, ऐसा जान पड़ता है। यह बड़ी जटिल समस्या है। जिस चित्तको यह निश्चय है कि जगत्का व्यक्त होना असम्भव है उसीको जगत्का अनुभव हो, इसका यही हेतु हो सकता है कि यह अनुभव भ्रान्त है। कुछ न हो, ऐसा नही है। ब्रह्म है। उसी आस्पदमे चित्त अध्याससे जगत्का आरोप कर रहा है। यह भूल है, भ्रम है, अविद्या है। इस मूल अविद्याको, जिससे निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय प्रतीत होता है, माया कहते है।

मायाको सत् नही कह सकते क्योकि यदि वह सत् हो तो नित्य भी होगी, फिर ब्रह्ममे जगत्की नित्य प्रतीति होगी और आत्मसाक्षात्कार कभी न हो सकेगा। उसको असत् भी नही कह सकते क्योकि असत्को जगत्का हेतु नही कहा जा सकता। वह ब्रह्मसे भिन्न है क्योकि ब्रह्म चित् है और माया, भ्रान्ति, चित् नही हो सकती। इसके साथ ही वह ब्रह्मसे अभिन्न है क्योकि जो कुछ है वह ब्रह्म है। वह एक साथ ही सत् और असत्, ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न है। इसीलिए उसका निर्वचन नही किया जा सकता। वह ब्रह्मके समान परम अतर्क्य है और अनवधार्य है।

ब्रह्म और मायाके सम्बन्धको समझनेके लिए कई उपमाएँ दी जाती

हैं। कोई मायाको ब्रह्मका स्वभाव कहता है, पर इससे बोधमे कोई सहायता नहीं मिलती। कभी मायाको आधेय और ब्रह्मको आधार बतलाया जाता है, परन्तु इन शब्दोंके प्रयोगसे द्वैत, दो सत्ताओंका भान होता है। मायाको ब्रह्मकी छाया भी नहीं कह सकते क्योंकि छाया डालनेके लिए पदार्थान्तरकी अपेक्षा होती है। इससे स्यात् अच्छा निदर्शन यह है कि इन दोनोका वैसा सम्बन्ध है जैसा कागदके दोनो पृष्ठोंमे होता है। पृष्ठ दो है, इसलिए एक-दूसरेसे पृथक् सत्ता रखते है, परन्तु कहाँ एक समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है यह नही कहा जा सकता। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा है; एक है, इसीलिए दूसरा भी है। यदि एक न हो तो हम दूसरेको भी नहीं जान सकते। यह हमारे दृष्टिकोणपर निर्भर है कि हम किस समय किस पृष्ठको देखते हैं। ब्रह्म और मायाका कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है। मायाका अर्थ है 'वह जिसके द्वारा जाना जाता है'। अविद्याके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, चित्त और जगत्के रूपमे ज्ञेय हो जाता है, इसलिए अविद्याको, मूल भ्रान्तिको, माया कहते हैं। यदि माया न होती तो जगत्की प्रतीति न होती, चित्त न होते, जीव न होते।

यह आपत्ति की जा सकती है कि मायाके स्वरूपको समझना ब्रह्मस्वरूपको समझनेसे भी कठिन है। आपत्ति ठीक है पर हम बेबस हैं। जो है वह है, हम उसे समझ सकें या न समझ सकें। अवधारण वहाँ होता है जहाँ अज्ञातको ज्ञातसे मिलाया जा सकता है; ज्ञातको ज्ञातसे या अज्ञातको अज्ञातसे मिलानेसे अवधारण नहीं हो सकता। चित्तको जगत्मे होनेवाले दृग्विषयोसे काम लेना पड़ता है। यही तर्क और अवधारणकी सामग्री है। परन्तु हमारे दैनन्दिन जीवनमे भी ऐसे अनुभव होते है जो अवधृत नही होते, फिर भी हम उन्हे सत्य मानते हैं। शक्करके स्वाद और आगकी जलनको हम किसी तर्कसे न जानते है, न जान सकते है। फिर तर्ककी पद्धति उस अवस्थाके लिए कैसे काम दे सकती है जिसमे चित्त भी नही था? उसमे तो वह सामग्री ही नही थी जो चित्तका आधार है। तर्ककी तुला ऐसी अनुभूति तौलनेके लिए नहीं बनी है।

परन्तु जब हम इस अनुभूतिको शब्दोमें व्यक्त करनेका प्रयास करते है तो उसे हठात् तर्कके क्षेत्रमे ले आते है। चित्त उसे दूसरी अनुभूतियोसे मिलाकर समझता है और आगेके तर्कके लिए सामग्री बनाता है। परन्तु यह प्रणाली पूरा-पूरा काम नही दे सकती। सन्तुलन सजातीयोका हो सकता है, विजातीयोका नही। हाथीको घोड़ा, गधा, बैल आदि पशुओसे मिलाना तो कुछ अर्थ रखता है, परन्तु हाथी और आमका सन्तुलन नही हो सकता। एक, अखण्ड, अद्वय, निष्क्रिय, ब्रह्म चित्तका विषय नही है; वह उन वस्तुओमेसे नही है जिनसे चित्तको काम पडता है; वह अपने स्वरूपका परित्याग नही कर सकता फिर भी स्वरूपभ्रष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह बाते अनुभवगम्य है, समझनेकी नही।

फिर एक और शङ्का होती है। यह अविद्या, यह भ्रान्ति, किसको हुई ? मुझको ? पर जब सब-कुछ ब्रह्म है तो मै भी तो ब्रह्म हूँ। रस्सीमे सर्पकी प्रतीति देखनेवालेको होती है, रस्सीको नही। परन्तु जब मुझको ब्रह्मस्वरूपके विषयमे भ्रान्ति हो रही है, उसके नित्य निष्क्रिय रूपके सक्रिय होनेकी कल्पना कर रहा हूँ तो फिर तो यह कहना होगा कि ब्रह्मको अपने विषयमे भ्रान्ति हुई, उसने अपनेको कुछका कुछ जाना, निष्क्रिय होते हुए सक्रिय जाना। परन्तु क्या ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूपको, निष्क्रिय स्वरूपको, जान सकता था ? निष्क्रिय स्वरूप ज्ञातृत्व था, ज्ञाता नही। जो ज्ञाता नही है, वह कुछ नही जान सकता। अतः ब्रह्म अपने निष्क्रिय स्वरूपको निष्क्रियावस्थामे जान ही नही सकता था। ज्ञाता होने, अर्थात् सक्रिय होनेपर ही वह अपनेको पहिचान सकता था। अविद्याके कारण मै अपनेको पृथक् और चेतन मानता हूँ। जबतक अविद्या है तभीतक मै अपनेको सक्रिय ब्रह्म समझ सकता हूँ, अपनेको किसी-न-किसी अर्थमे जान सकता हूँ। अविद्याके क्षय होनेपर जाननेकी सम्भावना ही नही हो सकती। माया वह अद्भुत, अनिर्वचनीय, अप्रतिम अविद्या है जिसमे यही नही होता कि निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय प्रतीत हो वरन् उसके बिना ब्रह्मकी प्रतीति हो ही नही सकती थी, मायाके द्वारा ब्रह्म

कुछका कुछ ही नही जाना जाता प्रत्युत जाना भी जाता है ।

तर्क इस बातको कुछ-कुछ तो पकड सकता है, परन्तु मायाको बुद्धिमे पूर्णतया खीच लाना उसके सामर्थ्यकी बात नही है । यह गॉठ तभी खुलती है जब समाधिमे चित्तके स्तरके ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार किया जाता है । उस अवस्थामे सब संशय आप ही उच्छिन्न हो जाते है ।

३. अव्याकृताधिकरण

चित्तको ब्रह्मकी उपाधि कहा गया था, परन्तु माया चित्तका हेतु है । इसलिए ब्रह्मकी उपाधि माया है । मायाके द्वारा ब्रह्म प्रतीत होता है, परन्तु अपने स्वरूपसे नही । उसकी अयथा प्रतीति होती है । जहॉ श्वेत प्रकाश पड़ रहा हो वहॉ यदि कोई छाया डालनेवाली वस्तु आ जाती है तो वह प्रकाश विच्छिन्न-सा हो जाता है । श्वेत प्रान्तोके बीच-बीचमे ॲधेरे प्रान्त आ जाते है । इस प्रकार एक श्वेत क्षेत्र कई टुकड़ोमे बॅट जाता है और चितकबरा चित्र बन जाता है । इसी प्रकार माया ब्रह्मको एकसे अनेक बना देती है । इसलिए मायोपहित ब्रह्मको मायाशबल ब्रह्म भी कहते है । मायाशबल ब्रह्मकी परमात्मा सज्ञा है ।

मेरे सामने रस्सीका टुकड़ा पड़ा है । यह हो सकता है कि मै किसी कारणसे उसे न देखॅू या भ्रमसे उसे सर्प मान लॅ, परन्तु मेरे न देखने या अन्यथा देखनेसे उसके स्वरूपमे कोई अन्तर नही पड़ता । वह जैसा था वैसा ही है । जो सर्प मुझको प्रतीत हो रहा है वह मेरे लिए भयावह भले ही हो, परन्तु है वह रस्सी ही । इसी प्रकार परमात्माकी अभिव्यक्ति मायाके कारण होती है, परन्तु वह ब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न है । वह मायाके पर्देमे ब्रह्म है ।

ब्रह्म होते हुए भी वह ब्रह्मसे व्यतिरिक्त, भिन्नरूपी, प्रतीत होता है । ब्रह्म चिन्मात्र है, परन्तु परमात्मा चेतन है । ब्रह्म ज्ञातृत्व है, परन्तु परमात्मा ज्ञाता है । ज्ञातृत्वके साथ-साथ भोक्तृत्व-कर्तृत्व भी रहते है, परन्तु परमात्मामे अभी यह दोनो स्फुटित नही हुए है । इसलिए अभी वह ज्ञातामात्र है ।

असम्प्रज्ञातमे, आत्मसाक्षात्कारकी अवस्थामे, चित्त नही रहता। उस अवस्थामे व्यक्ति अपने शुद्ध ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है। इससे एक सीढ़ी नीचे, सम्प्रज्ञात समाधिकी चोटीकी अवस्थामे, अस्मिता—मै हूँ—इतनी प्रज्ञा रहती है। आत्मा अपने आपको जानता है, चित्तमे अपनेको प्रतिबिम्बित देखता है क्योकि परिशोधित चित्तमे अब और कोई विषय नही रह गया है। सम्प्रज्ञात समाधिके इस शिखरपर पहुँचकर अपने परमात्मरूपका अनुभव होता है।

सुषुप्तिकी अवस्थामे चित्तका लय-सा हो जाता है, हल्का-सा ज्ञान रहता है, परन्तु उसके साथ भोक्तृत्व और कर्तृत्वका पता नही चलता। संस्कार भी दब जाते है। जाग्रत् और स्वप्नमे जो बाते एकको दूसरीसे पृथक् करनेवाली होती है वह तिरोहित हो जाती है। इसलिए मूर्ख और पण्डित, राजा और रङ्क, सोनेमे सब एक-से हो जाते है। परमात्मावस्था इसके सदृश है। ज्ञान है, परन्तु न इच्छा है, न सङ्कल्प, न कोई संस्कार है।

ज्ञानके लिए विषय होना चाहिये। जब परमात्मा ज्ञाता है तो वह कुछ जानता होगा, परन्तु उसके सिवाय और है क्या जिसको वह जाने? इसलिए परमात्मा अपने आपका ज्ञाता है। उसके ज्ञानका रूप अस्मिता—मै हूँ—है।

परन्तु ज्ञानके लिए चित्तरूपी साधन भी चाहिये। अस्मिताका अनुभव निरोधप्राग्भार चित्तमे, ऐसे चित्तमे जो अब निरुद्ध होनेवाला है, जो सब संचितो, प्रत्ययो और संस्कारोके ऊपर उठ चुका है, होता है। परमात्माके अस्मिता-ज्ञानके लिए भी ऐसा ही निर्मल चित्त चाहिये। परन्तु हम देख चुके है कि चेतनाके सक्रिय रूपका नाम चित्त है। चेतना ब्रह्म है और परमात्मा उसका सक्रिय रूप है। अतः परमात्मा ही अपना चित्त है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही ज्ञाता है और परमात्मा ही ज्ञानका साधन संस्कारादिरहित निर्मल सूक्ष्म चित्त है। इस आदिचित्तरूपी ब्रह्ममें ब्रह्मका जो प्रतिबिम्ब है वह परमात्मा है।

परमात्माकी ईश्वर और हिरण्यगर्भ दो और संज्ञाऍ है।

ईश्वर शब्दको देखकर चौंकना न चाहिये। ईश्वराधिकरणमे जिस ईश्वरका खण्डन किया गया था उसमे और इसमे अन्तर है। न यह जगत्का कर्ता-भर्ता-हर्ता है, न आरम्भक है, न पुण्यपापका निर्णायक है, न पुरस्कर्ता या दण्डधर है। यह शास्त्रीय दृष्टिसे दुर्भाग्यकी बात हो सकती है कि हमको दो अर्थोमे एक ही शब्दका प्रयोग करना पडता है। वह ईश्वर बुद्धिनिर्माण था, परन्तु यह ईश्वर परमात्मा है। यदि निर्माण शब्दका अस्थाने प्रयोग करना ही हो तो इसको मायानिर्माण कहना होगा।

जब परमात्माको चित्तरूपसे निर्दिष्ट करना होता है उस समय उसे हिरण्यगर्भ कहते है। यह वह चित्त है जिसमे अभी कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यक्त नही हुए है ओर संवित् नही उठ रहे है।

परमात्मा—ईश्वर—हिरण्यगर्भमे सारा जगत् है पर अभी व्याकरण—पृथक्करण—नही हुआ है। एक चित्त है, एक अनुभूति है। इसलिए परमात्माको अव्याकृत कहते है।

जीवात्मा-परमात्मामे कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रत्यगात्मा और ब्रह्ममे है। हम जब व्यष्टिकी दृष्टिसे देखते है तो चेतना प्रत्यगात्मा कहलाती है। हम अपने शरीरके भीतर चित्तकी सत्ता मानते है और इस चित्तके प्रेरक होनेके नाते चेतनाको प्रत्यगात्मा कहते है। परन्तु चेतना एक और अखण्ड है। इस दृष्टिसे वह ब्रह्म है। इसी प्रकार अपने चित्तसे परिच्छिन्न चेतनाको हम जीवात्मा कहते हैं। आदि-चित्तसे विशिष्ट ब्रह्म परमात्मा है। प्रत्यगात्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, इसी प्रकार जीवात्मा, जब उसका चित्त अस्मितामात्रनिर्भासी रह जाता है, परमात्मासे अभिन्न हो जाता है।

जीवात्माको परमात्माका अंश नही कह सकते। अंश-अंशी-सम्बन्ध वहॉ होता है जहॉ कोई व्यवच्छेदक हो। परमात्मा अकेला है, उसका कोई विभाजक नही है, इसलिए उसके अंश नही हो सकते। ऐसे शब्दोका प्रयोग केवल लाक्षणिक शैलीकी दृष्टिसे न्याय्य हो सकता है, परन्तु इनको वस्तुसूचक मान बैठनेसे विकल्प उत्पन्न होता है।

एक ही बातको बार-बार दुहराना अच्छा नही लगता, परन्तु

कभी-कभी वीप्साके बिना काम नही चलता। इसलिए उस पुरानी चेतावनीकी ओर फिर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्रह्ममाया-परमात्माके सम्बन्धको बुद्धिगत करना कठिन होता है। उसको समझानेके लिए हमको 'है', 'था', 'हुआ' जैसे कालवाची शब्दोंसे काम लेना पड़ता है, परन्तु उस अवस्थामे न काल था, न क्रम था। ब्रह्म और परमात्माके बीचमे मायाका झीना-सा पर्दा है, फिर कौन हुआ ? कहाँ हुआ ? कब हुआ ? कही कुछ नही हुआ, जो जैसा था वह वैसा ही रहा और है, परन्तु मायाके कारण परिणाम-बोधक शब्दोका प्रयोग भी क्षम्य हो जाता है। समाधि-भाषामे इन बातोको कही-कही यो कहा है कि एक अनिर्वचनीया त्रिपुरा शक्ति है। वह महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, तीन रूपोवाली है, परन्तु वस्तुतः यह तीनो रूप अलग-अलग नही हैं; सदैव एक-दूसरेसे और पराशक्तिसे अभिन्न और अभेद्य है। वह शिव नामक पुत्रका प्रसव करती है और फिर उसको अपना पति बनाती है। वह युगपत् दो काम करती है : नीचे गिराती है और ऊपर उठाती है, मोहमे डालती है और मोहसे छुड़ाती है। उसके दर्शनार्थी ज्यो-ज्यो उसके पास आते है त्यो-त्यो उनका पुंस्त्व छूटता जाता है और वह स्त्री होते जाते है। और पास बढ़नेपर उनके भेद मिटते जाते है, सब एक-से होते जाते है। बहुत निकट पहुँच जानेपर उनको अपनी सत्तामात्रका तो कुछ भान होता है, और कुछ प्रतीति नही रह जाती। इसके बाद वह उसमे खो जाते है, तद्रूप हो जाते है। उस अवस्थामे उनकी अपनी सत्ता भी विलीन हो जाती है। सुननेमे तो यह कहानी-सी है, परन्तु इसके भीतर गूढ़ रहस्य भरा है। बात अनुभवगम्य है, परन्तु तर्ककी अपेक्षा कहानीके रूपमे उसको व्यक्त करना कुछ अधिक सुगम प्रतीत होता है।

यहाँ चेतना और माया, दोनोके लिए अनिर्वचनीया विशेषण आया है। ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्वको महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली कहा गया है। परमात्मा शिवतत्त्व है, वह माया और चेतनाकी सन्तति है, परन्तु उसमे तीनो सामर्थ्य विद्यमान है। वह हिरण्य-गर्भ—

चित्तके सूक्ष्मतमरूप, निर्मल बुद्धि—से काम लेता है। अतः शक्तिका स्वामी, पति, भी कहा जा सकता है। परा शक्तिको वेदोंमें स्वधा—अपने आपको धारण करनेवाली, निराधारा—भी कहा है। वह ब्रह्मके स्वरूपको छिपा देती है, इसलिए अविद्यारूपा है; उसीके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, इसलिए विद्यारूपा है। जो साधक परतत्त्वका अन्वेषण करना चाहता है वह धीरे-धीरे अपने संस्कारादिको छोड़ता जाता है। इसलिए उन बातोंका परित्याग होता जाता है जो एक जीवको दूसरेसे भिन्न दिखलाते हैं। सब ऐसे जीव एक-से होने लगते हैं और उनके तथा उनके स्वरूपके बीचका पर्दा झीना होने लगता है। सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तमें केवल अस्मिता रह जाती है। इसके आगे अपनी अलग सत्ता खो जाती है। मायाका पर्दा हट जाता है, अनिर्वचनीया आद्या—शुद्ध चेतना—मात्र रह जाती है, चेतन अपने शुद्ध स्वरूप, चितिमें स्थित हो जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

नानात्वका प्रसार

हम दो प्रश्नोंके उत्तर तो दे चुके है। अब तीसरा प्रश्न अवशिष्ट रहा है। यह विचार करना है कि सक्रिय होनेके बाद ब्रह्मको संवित् कैसे होने लगे।

१. विराडधिकरण

हमने हिरण्यगर्भको आदिचित्त कहा है। उसकी प्रजापति सज्ञा भी है। उसमें और साधारण चित्तोंमे कई भेद है। एक तो वह सस्कार-विहीन है और उसमे शब्दादि सवित् नही उठते। न उसमे सुख है, न दुःख। दूसरे, वह ज्ञानप्रधान है; शुद्ध, निर्मल, बुद्धिस्वरूप है।

हम अबतक ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्वको कही योग्यता और कही सामर्थ्य कहते आये है। यह दोनो शब्द समानार्थक हैं, परन्तु यह ज्ञातृत्वादिके सक्रिय रूपका बोध नही करा सकते। जिस समय सामर्थ्यसे काम लिया जा रहा हो उस समय वह शक्ति-रूप हो जाता है। हिरण्य-गर्भमे ज्ञातृत्व शक्तिके रूपमे है, इस शक्तिके द्वारा ईश्वर अपना ज्ञाता है।

परन्तु तीनों योग्यताएँ साथ-साथ रहती हैं, क्योंकि चेतना एक पदार्थ है। जब एक योग्यता सक्रिय हुई तो शेष दोनो चिर सुप्त नहीं रह सकती थीं। उनका भी सक्रिय होना, योग्यतासे शक्तिका रूप धारण करना, अनिवार्य था। हिरण्यगर्भमे ज्ञानके साथ-साथ इच्छा और सङ्कल्पकी अभिव्यक्ति होना रुक नही सकता था। परन्तु जिस प्रकार ज्ञानके लिए विषय चाहिये उसी प्रकार इच्छा और सङ्कल्पके लिए भी

विषयका होना अनिवार्य है। ज्ञानका विषय तो परमात्मा था, परन्तु इच्छा और संकल्प किस विषयके प्रति होते? प्रियसे प्रिय वस्तु हो, परन्तु यदि वह निरन्तर ज्ञानका विषय रहेगी तो वह इच्छा और सङ्कल्पका आस्पद नहीं बन सकती। अतः हिरण्यगर्भकी सद्यः जागरित इच्छा और सङ्कल्प-शक्तियाँ तृप्त नहीं हो सकती थीं।

इस अतृप्तिसे हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो उठा। इसको वैदिक वाङ्मयमें यों कहा है कि हिरण्यगर्भने तप किया। अबतक वह उस निर्मल निश्चल जलके समान था जिसमें चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता रहता है। जब जल तरंगित हो उठता है तो एकके अनेक प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। जितना ही जलका क्षोभ होता है उतने ही प्रतिबिम्ब बनते हैं और फिर सब एक-से नहीं होते। कोई सीधा, कोई टेढ़ा, कोई बड़ा, कोई छोटा देख पड़ता है। इसी प्रकार अबतक ब्रह्मका जो एक प्रतिबिम्ब हिरण्यगर्भमें पड़ रहा था वह अनेक हो गया। इसी बातको उपनिषदोंमें यों कहा है कि उसने इच्छा की कि मैं एकसे अनेक हो जाऊँ। जहाँ एक परमात्माकी प्रतीति होती थी वहाँ अनेक जीवात्मा प्रतीत होने लगे। जीवात्माको पुरुष भी कहते हैं।

जीवात्माओंकी समष्टिको विराट् या विराट् पुरुष कहते हैं। यों तो परमार्थदृष्ट्या जो ब्रह्म है वही परमात्मा है, वही विराट् है और वही जीवात्मा है, परन्तु जीवात्मा अपनेको पृथक् मानता है इसलिए जहाँ परमात्मा अव्याकृत है वहाँ विराट् व्याकृत है।

२. प्रधानाधिकरण

समुद्र एक है। जबतक उसमें एक चन्द्रमा देख पड़ता है तबतक उसकी अखण्डता बनी रहती है। परन्तु जब उसमें कई प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक-एक प्रतिबिम्बके चारों ओर समुद्रका एक खण्ड है। यह खण्ड कल्पित है, परन्तु जबतक समुद्र क्षुब्ध रहता है तबतक खण्ड-बुद्धि भी रहती है। जलखण्ड चन्द्रबिम्बोंको

सीमित करते हैं और चन्द्रबिम्ब जलखण्डोंको पृथक् करते हैं। अतएव हिरण्यगर्भमें अनेक जीवात्मा हो गये और प्रत्येक जीवात्मामें चेतनाको विशिष्ट करनेवाला चित्त था। यह चित्त अविभाज्य और अविभक्त हिरण्य-गर्भके अविद्याजनित अंश थे। जबतक जीवोकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहेगी तबतक पृथक् चित्त भी रहेंगे। यदि हिरण्यगर्भ फिर अक्षुब्ध हो जाय, जैसा कि सम्प्रज्ञात समाधिके पूर्ण होनेकी अवस्थामें होता है, तो फिर एक प्रतिबिम्ब, परमात्मा, रह जाय और हिरण्यगर्भमें भेदोंकी प्रतीति-का होना बन्द हो जाय। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक प्रत्येक जीवात्मा-मे एक चित्त होगा, क्योंकि परिभाषाके अनुसार चित्तविशिष्ट चेतनाको जीव कहते हैं। इन पृथक् चित्तोंकी समष्टिको प्रधान कहते हैं। प्रधान और हिरण्यगर्भमें अन्तर यह है कि जो चित्त जीवविशेषके साथ बॅधे होनेके कारण एक-दूसरेसे पृथक् हैं उनकी समष्टि अयुतसिद्धावयव वस्तु नहीं हो सकती। सब एक-दूसरेसे स्वतन्त्र हैं, एकको दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। इनको मिलाकर एक नाम देना उतना ही युक्तियुक्त है जितना सड़कपर अपने-अपने कामोंसे आने-जानेवालोंको मिलाकर भीड़ या किसी ऐसे ही नामसे पुकारना।

चित्तकी शक्तियोंको गुण भी कहते हैं। सक्रिय ज्ञातृत्वका नाम सत्त्व-गुण, सक्रिय भोक्तृत्वका तमोगुण और सक्रिय कर्तृत्वका रजोगुण है।

कुछ लोग ऐसा कहते है कि तीनो गुणोंकी साम्यावस्था प्रधान है। साम्यावस्था वह अवस्था हुई जिसमें कोई भी गुण सक्रिय न हो, परन्तु उस अवस्थामे चित्त हो ही नहीं सकता। चित्त न होनेका अर्थ यह है कि पुरुषोंका नानात्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि गुणोकी, ज्ञातृत्वादिकी, सक्रियता ही जीवपार्थक्यका हेतु है। जिस अवस्थामें पुरुषोंका नानात्व होगा उसमें साम्यावस्था नहीं हो सकती। पुरुषका असम, क्षुब्ध, चित्तसे ही सान्निध्य हो सकता है।

इसके बाद जगत् प्रपञ्चका जो विस्तार हुआ है वह, जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रधानमेंसे ही निकला है। प्रधान उसका उपादान है, इसलिए

उसको मूलप्रकृति भी कहते है। अन्य सब पदार्थ, जिनका उल्लेख आगे होगा, प्रधानकी विकृति हैं।

पुरुष और प्रधानके स्वरूपके सम्बन्धमे भी वह बात सतत स्मरण रखनी चाहिये जो परमात्मा और हिरण्यगर्भके सम्बन्धमे कही गयी थी। चित्तविशिष्ट चेतना पुरुष या जीवात्मा है, परन्तु सक्रिय चेतनाका नाम चित्त है। यह निष्क्रिय-सक्रियका भेद अविद्याजनित है। जब हमारा ध्यान शुद्ध रूपकी ओर जाता है तो पुरुष शब्दका और जब अविद्या द्वारा प्रतीयमान सक्रिय रूपकी ओर जाता है तब प्रधान शब्दका प्रयोग करते है। परमार्थतः जो पुरुष है वही प्रधान है।

२. प्रपञ्चविस्ताराधिकरण

जीवात्माको जो चित्त मिला था वह क्षुब्ध था। उसमे ज्ञातृत्वशक्ति—सत्त्वगुण—पहिलेसे ही जाग चुकी थी, अब शेष दोनो शक्तियाँ—दोनो गुण—भी उद्बुद्ध हो चुकी थी। सत्त्वगुणके लिए तो विषय था; रज और तम विषयहीन, अतः अतृप्त थे।

जीवके चित्तमे जो ज्ञान था वह जीवविषयक था। जीव अपनेको जानता था, किन्तु यह ज्ञान परमात्मावस्थाके अस्मिता—मै हूँ—रूपी ज्ञानसे भिन्न था। जीवके ज्ञानमे विशेषता यह थी कि वह अपनी पृथक् सत्ताको जानता था। पार्थक्यका ज्ञान तभी होता है जब अपनी सत्ताके साथ-साथ अपनेसे भिन्न किसी पृष्ठभूमिका भी ज्ञान रहता है। यह भले ही स्पष्ट न हो कि अपने सिवाय क्या है, परन्तु कुछ है, ऐसा प्रतीत हुए विना पार्थक्यकी अनुभूति नही हो सकती। जीवको इस अवस्थामें जो ज्ञान हो रहा था वस्तुतः उसके तीन अङ्ग थे—

मै है—अहम् है—अस्मत् है।

न-मै है—अनहम् है—युष्मत् है—मुझसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ है।

मै न-मै नही है—अहम् अनहम् नही है—अस्मत् युष्मत् नही है।

मै और न-मै एक-दूसरेसे भिन्न परन्तु सम्बद्ध थे। एक दूसरेका परिच्छेदक था, एकके कारण दूसरेका ज्ञान हो रहा था। जिस अवस्थामे

चित्तमे सत्त्वगुण प्रबल होता है उस समय उसे बुद्धि कहते है। जीवात्मा बुद्धिसे अपना ग्रहण कर रहा था और बुद्धिसे ही अपनेको न-मैंसे भिन्न जान रहा था। मै और न-मैमे विवेक करना बुद्धिका उस प्रकारका व्यापार है जिसे अध्यवसाय कहते है।

न-मै अभी अज्ञात था। इच्छाशक्ति उसे ज्ञान और अवधारणका विषय बनाना चाहती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि मैंके सम्बन्धमे उसको जाना जाय, मैंके साथ उसका सम्बन्ध जाना जाय। इसका परिणाम यह होता कि न-मै समझमे आता और परिच्छेदकके स्पष्ट हो जानेसे मैंका स्वरूप भी अधिक स्पष्ट होता। गहरे अन्धकारमे प्रकाश अच्छा देख पड़ता है। इच्छाकी पूर्तिके लिए प्रयत्न हुआ। बुद्धिसे अहङ्कार उत्पन्न हुआ। अहङ्कार एक ओर तो न-मैंको मैंके साथ सम्बद्ध करता है, दूसरी ओर मैंकी पृथक्ताको और तीव्र करता है।

कुछ और कहनेके पहिले दो बातोकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहिली बात यह है कि न-मैंकी पारमार्थिक सत्ता नही है। चेतनाके लिए कोई उपाधि है तो अविद्या। उसका कोई और परिच्छेदक नही है। अविद्याके कारण ही पृथक् जीवात्मभाव हुआ है और फिर इस पार्थक्यको समझनेके लिए न-मैंकी खोज हुई है। न-मै बुद्धिनिर्माण है या यो कह सकते है कि अविद्याकी ही न-मैंके रूपमे प्रतीति हो रही है। दूसरी बात यह है कि परमात्मावस्थातक तो अनुभूतिक्रम नही था, इसलिए काल भी नही था। परन्तु जीवात्माके चित्तमे अनुभूतियोका पटपरिवर्तन होने लगा है। अब अनुभवमे क्रम है, चित्तमे परिणाम होने लगे है, इस-लिए जीवात्मा कालके क्षेत्रमे है।

अभी न-मैंका ठीक-ठीक ज्ञान नही हो रहा था। इसलिए सक्रिय इच्छा और सकल्प-शक्तियोने अहङ्कारको उस दशामे न रहने दिया। वह परिणत हुआ और परिणामस्वरूप उसमेसे कई पदार्थ निकले। पहिले पदार्थको ज्ञानेन्द्रिय कहते है। ज्ञानेन्द्रियॉ पॉच मानी जाती है। हम इनका विवेचन पहिले कर चुके है—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और

घ्राण। इन शब्दोका अर्थ कान, चर्म, ऑख, जिह्वा और नाक नही है। कान आदि तो क्रमात् इन्द्रियोके शारीरिक अधिष्ठान है अर्थात् शरीरके वह भाग है जहॉसे इन्द्रियॉ काम करती है। इन्द्रिय चित्तकी न-मै ग्राहक शक्ति है, वह शक्ति है जिसके द्वारा न-मै खीचकर चित्तमे लाया जाता है, ज्ञानका विषय बनाया जाता है। जब विषय चित्तके सामने आ गया तब तो ज्ञानेन्द्रियॉ उससे निपट लेगी, परन्तु कभी-कभी उसको चित्तका विषय बनानेके लिए और बराबर बनाये रखनेके लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। कभी उसको चित्तका अविषय बनानेके लिए भी प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार उसके सम्बन्धमे ज्ञान भी बढता है और भोक्तृत्व-शक्ति भी कृतार्थ होती है। अतः अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियके साथ कर्मेन्द्रिय निकली। ज्ञानेन्द्रियके द्वारा विषयकी चित्तपर क्रिया होती है, कर्मेन्द्रियके द्वारा विषयपर चित्तकी प्रतिक्रिया होती है। कर्मेन्द्रियॉ भी पॉच है—वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु। मनुष्यके शरीरमे जिह्वा, हाथ, पॉव, जननेन्द्रिय और गुदस्थान इनके अधिष्ठान है। एक और इन्द्रिय निकली जिसे मन कहते है। यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। मन वह काम करता है जो बड़े नगरोमे टेलिफोन एक्सचेजसे लिया जाता है। सब तार वहॉ आकर मिलते है। यदि 'क'को 'ख'से कोई बात कहनी होती है तो वह सन्देशा एक्सचेजमेसे होकर जाता है। ज्ञानेन्द्रियॉ जो ज्ञान भीतर लाती है और कर्मेन्द्रियॉ जो सकल्प बाहर ले जाती है, सब मनमे मिलते है। विषयका जो स्वरूप ज्ञानेन्द्रियोके द्वारा अधिगत होता है उसे सवित् कहते है। वह—सवित्—मनमे होता है। फिर अहङ्कार उसको पुराने ज्ञानभण्डारसे मिलाता है, मैके साथ उसको सम्बद्ध करता है, तब बुद्धि अध्यवसाय करती है। यदि वह भोगानुकूल प्रतीत हुआ तो उसे ज्ञानका विषय बनाये रखनेके लिए, अन्यथा ज्ञानका अविषय बनानेका प्रयास होगा। यह सकल्प बुद्धिसे मनके द्वारा कर्मेन्द्रियोतक पहुॅचता है। मन सवित् और सकल्पके बीचका सम्बन्ध-सूत्र है।

न-मैकी सत्ताका ज्ञान तो जीवात्माको आरम्भसे ही था, किन्तु वह

ज्ञान अस्पष्ट, असम्पूर्ण था। उसको पूर्ण करनेके लिए ही चित्तकी आकुलता उसको परिणत कर रही थी और ज्ञानेन्द्रियादिकी उत्पत्ति कर रही थी। इसलिए इनके साथ ही अनहम्—न-मै—का प्रथम स्पष्ट ज्ञान भी उत्पन्न हुआ। चित्तमे श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा प्रथम संवित्—शब्द—की उत्पत्ति हुई। सवितोको तन्मात्रा भी कहते है, क्योकि उनके द्वारा उसका—अज्ञात न-मै, युष्मत्—का मान, ज्ञान, होता है।

४. आदिशब्दाधिकरण

मूलप्रकृतिसे हम इन्द्रिय, मन और शब्द तन्मात्रातक पहुँचे है। विकासकी यह अवस्था उस भौतिक जगत्का प्रवेश-द्वार है जिससे हम परिचित है।

श्रोत्रेन्द्रिय और शब्दके सम्बन्धमे न केवल अशिक्षितो प्रत्युत पण्डितोमे भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। इस भ्रमका कारण यह है कि निगमागम पढ़ तो लिये जाते है, परन्तु उनके अर्थको समझानेका प्रयत्न नही किया जाता। निदिध्यासन करनेका तो नाम भी नही लिया जाता। सम्यक्रूपेण मनन भी नही होता। इसलिए वाग्जालका विस्तार बढ़ता जाता है, विकल्प-परिवारमे वृद्धि होती जाती है और एक ओर शास्त्र हास्यास्पद बन जाता है, दूसरी ओर पढ़ने-पढ़ानेवाले सत्यसे दूर होते चले जाते है।

शब्दका अर्थ स्वन—उस प्रकारका सवित् जो दो क्षैत वस्तुओके टकरानेपर होता है—माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, परन्तु स्वनका क्षेत्र तो बहुत सकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगोसे सिद्ध है कि यदि किसी प्रकारके आघातके कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारो ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कानतक पहुँचता हो तो उस माध्यममे एक प्रकारकी लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-सवित् होता है। हमारे नाडिसंस्थानकी बनावट ऐसी है कि यदि वस्तुका कम्पन

लगभग सोलह बार प्रति सेकेण्डसे कम या लगभग पचास हजार प्रति सेकेण्डसे अधिक हो तो स्वन नही सुन पड़ता। जहाँ कोई ठोस या तरल माध्यम नही है वहाँ कम्पन भले ही हो, परन्तु स्वन नही आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिसे हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नही। किन्तु पोथियोंके आधारपर पण्डित-सम्प्रदाय शब्दका सम्बन्ध आकाशसे जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पडता है।

जो स्वन कानसे सुन पडते है, चाहे वह मनुष्य या पशुपक्षीकी बोली-के अङ्ग हो या आहत जड वस्तुओंसे उत्पन्न होते हो, उनको हम मुँहसे भी बोल सकते है। ऐसे स्वनोंके समूहको वैखरी वाणी कहते है, परन्तु जिसको दर्शनमे शब्द कहते है वह वैखरीसे अधिक है।

चित्त क्षुब्ध था, चञ्चल, अस्थिर था। तीनों गुण, तीनो शक्तियाँ, जाग्रत् थीं। एकका तिरोभाव, दूसरेका प्रादुर्भाव हो रहा था। यही चित्त-के परिणामी, परिवर्तनशील होनेका हेतु है। न-मैंको पूर्णतया जानने और भोगनेके लिए आकुलता थी। यह न-मैं चित्तके बाहर कही नही था; जैसा कि हम पिछले अधिकरणमे कह आये हैं, बुद्धिनिर्माणमात्र था, फिर भी उस अवस्थामे चित्त उसे विषय बनाना चाहता था, उसको समझना चाहता था। जिसके जाननेके लिए उत्सुकता थी, तनाव था, वह स्वय चित्तके भीतर था। इसलिए जब वह पहिले-पहिले जाना गया तो चञ्चलताके रूपमे। अपनी चञ्चलताका निपेक्ष न-मैंमे करके चित्तने पहिले यह जाना कि न-मैं चञ्चल, अस्थिर है। पहिला संवित् अस्थिरता, परिवर्तनशीलता-का हुआ। इसीका नाम शब्द है। जो इन्द्रिय इसका ग्रहण करती है उसका नाम श्रोत्रेन्द्रिय है।

यह अस्थिरता उन सब पदार्थोंमे भी है जिनसे हमको स्वन नही मिलते। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ प्रत्येक क्षणमे शब्दायमान है, परन्तु हमारी श्रोत्रेन्द्रियको जिस शरीररूपी उपकरणसे काम लेना पड़ता है वह इस शब्दसमूहके अधिकाशको अगृहीत बना देता है। केवल वह थोडा-सा भाग सुन पडता है जो इस शरीरके ही समान छोटे-बड़े

पिण्डोंके आहत होनेपर निकलता है। स्वन ही एक ऐसा संवित् है जिससे हमको वस्तुओंकी चञ्चल अवस्थाका परिचय मिलता है। योगियोंका ऐसा कहना है कि जब प्राण किञ्चित् ऊर्ध्वमुख होता है तो इन्द्रियोंका शरीरगत बन्धन भी शिथिल पड़ जाता है। उस समय श्रोत्रेन्द्रिय अनाहत शब्द—बिना आघातके, सहज शब्द—का ग्रहण करती है। उस समय भौतिक पदार्थोंकी सहज चञ्चलताका संवित् होता है। यह संवित् उन रूपादि दूसरे संवितोंके अतिरिक्त है जो हमको भूतोंसे प्राप्त होते हैं। उस आदिम अवस्थामें तो कोई भूत नहीं था, कोई दूसरा संवित हो नहीं सकता था, केवल शब्द था। श्रोत्रेन्द्रिय उसके मूल रूपका ग्रहण कर रही थी। मूल रूप इसलिए कहता हूँ कि भौतिक वस्तुओंमें चञ्चलताके भी स्वभावतः अनेक भेद पाये जाते हैं, इसलिए वैखरी वाणीमें व्यञ्जनीय स्वरोंसे लेकर अहङ्कारसे निकले आदिशब्दतक स्थूल-सूक्ष्म शब्द-संवितोंकी अपार राशि है। हमारे सारे गानवाद्य उसके सामने तुच्छ हैं। आदि-शब्दको योगियोंने अनेक नाम दिये हैं। वही आदिशब्द, उद्गीथ, प्रणव, स्फोट, तार, अजपा, नाद, सत्यनाम, परावाणी, गगनगिरा, नीरवताकी बोली, लोगॉस और सुल्तानुल अजकार है।

आदिशब्दको ॐकार भी कहते हैं। ॐकारके अ, उ और म् तीन अङ्ग कहे जाते हैं। इन तीन अक्षरोंके अनेक प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। इस सम्बन्धमें लोगोंने बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिख डाली हैं। परन्तु यह सब शास्त्रार्थकी बातें हैं, जिनमें उलझकर नासमझ अपना समय नष्ट करते हैं। सच्चा ॐकार वह है जो अनुच्चार्य है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषत्में लिखा है कि देवगण उद्गीथको जब सब जगह ढूँढ़कर हार गये तब वह उनको प्राणमें मिला।

शब्द समस्त भौतिक जगत्में व्याप्त है इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियोंसे बलवती तथा सूक्ष्मग्राही है। कम्पन तो सोलह बार प्रति सेकेण्डसे कम और पचास हजार बारसे अधिक भी होता होगा, पर हमको उसका पता नहीं लगता। उस अवस्थामें वस्तु हमारे लिए अज्ञात रहती है।

जब कम्पनका वेग बहुत बढ जाता है तब तापकी अनुभूति होने लगती है तथा वेग और बढ़नेपर प्रकाशकी। किन्तु यदि वेग बढता ही जाय तो हमारी इन्द्रियॉ जवाब दे देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिने हमारे ऐन्द्रिय ज्ञानकी लड़ी कई जगहोसे तोड दी है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। शब्दकी अनुभूति बराबर हो सकती है। आवश्यकता इस बातकी है कि श्रोत्रेन्द्रिय उस दासतासे मुक्त की जाय जो शरीरने उसपर मढ दी है। विपत्ति यह है कि चित्त भी उसको वैखरी क्षेत्रके स्वनोके पीछे दौड़नेसे छुट्टी नही देना चाहता।

५. भूतविस्ताराधिकरण

चित्तमे शब्द-सवित् हुआ इसलिए बुद्धिमे यह प्रतीत हुआ कि न-मै शब्दवान्, चाञ्चल्य—अस्थिरता, परिवर्तनशीलता—लिङ्गवाला है। शब्दलिङ्गी न-मैका नाम आकाश है। सारी चञ्चलता, सारी अस्थिरता, सारी गतियोका आस्पद यह आकाश वही पदार्थ है जिसको दिक् नामसे भी पुकारा जाता है। हम द्रव्याधिकरणमे देख चुके है कि बुद्धि सवितोसे उनके हेतुओका निर्माण किया करती है। आकाश प्रथम बुद्धिनिर्माण था।

न-मैसे—जो अब शब्दवान् आकाश था—दूसरा सवित् त्वगिन्द्रियके द्वारा प्राप्त हुआ। इसको स्पर्श कहते है। स्पर्श और त्वक्के सम्बन्धमे भी कुछ उसी प्रकारकी भूल होती है जैसी शब्द और श्रोत्रके सम्बन्धमे की जाती है। साधारणतः स्पर्शका अर्थ होता है छूना, इसलिए स्पर्शके कठिन और कोमल, दो भेद किये जाते है। तापमान-भेदसे स्पर्शको शीत और उष्ण कहते है। परन्तु स्पर्शका क्षेत्र इससे व्यापक है। विज्ञानके अनुसार शक्ति एक है। वही कभी तापके रूपमे अनुभूत होती है, कभी प्रकाशके; वही नाड़ियोमे दौड़ती है, मासपेशियोको कार्यकुशल बनाती है, रासायनिक क्रिया कराती है, तार और बेतारको चलाती है। उसके कुछ भेदोका अपरोक्ष अनुभव हमको होता है, कुछका नही। जो अनुभव होते है उनको हमने ताप और प्रकाश जैसे नाम दे रखे है।

यदि यह बात ठीक है तो हम फिर वही अभियोग प्रकृतिपर लगा सकते है कि उसने कई बाते हमसे छिपा रखी है। उनको जाननेके लिए कोई इन्द्रिय नही है, न इन्द्रियके अभावमे संवित् हो पाता है। वस्तुतः यह अभियोग ठीक नही है। संवित् होता है। यह सवित् हमारे साधारण जीवनमे ताप और उससे भी नीचे उतरकर काठिन्यरूपी होता है, पर इसके सूक्ष्म भेद भी है, इनका भी ग्रहण त्वगिन्द्रिय करती है। जब वह शरीरके बन्धनसे छुटकारा पाती है तो सूक्ष्म स्पर्शके संवित् होते है।

जिस प्रकार शब्दसे आकाशनामा बुद्धिनिर्माण हुआ उसी प्रकार स्पर्श तन्मात्रासे वायु नामका बुद्धिनिर्माण बना। शब्द-स्पर्शवान् न-मै वायु है। वही प्राण है, वही विद्युत् है, वही वह शक्ति है जो अनेक दूसरे रूपोसे भौतिक-जगत्को परिचालित कर रही है।

अब अधिक विस्तारसे लिखना अनावश्यक है। वायुसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूपसंवित् हुआ और रूपसे शब्द-स्पर्श-रूपवान् तेजनामा बुद्धि-निर्माण बना। तेजसे रसनेन्द्रिय द्वारा रससंवित् हुआ और रससे शब्द-स्पर्श-रूप-रसवान् अप् नामका बुद्धिनिर्माण हुआ। अप्से घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्धसंवित् मिला और गन्धसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धवती क्षिति बुद्धि-निर्माण बनी। इस प्रकार सब भूतोकी उत्पत्ति हो गयी। फिर तो भूतोंके विभिन्न मात्राओमे मिलनेसे यह विश्व, यह भौतिक जगत् बना, जो हमारे दैनिक जीवनका क्षेत्र है। भूतोंके मिलनेसे नये संघातोका बनना और उनके बिखरनेसे पुराने संघातोंका टूटना निरन्तर जारी है। यही हमारा युष्मत् प्रपञ्च है।

भूतोका यह क्रम आजकलकी वैज्ञानिक विचारधाराके अनुकूल प्रतीत होता है। इसमे आश्चर्यकी कोई बात नही है। परन्तु यदि आगे चलकर वैज्ञानिक सिद्धान्तोमे कुछ संशोधन हो तब भी दार्शनिक क्रम यही रहेगा। यह हो सकता है कि वैज्ञानिक शोधके और बढ़नेसे हमको भूतोंके स्वरूपको समझनेमे और सहायता मिले। इस स्थलपर इतना जान लेना पर्याप्त है कि भूतोमे सबका मूल वायु है और उसके स्पर्शसवित्को ग्रहण

करनेवाली इन्द्रिय त्वक् है। वायुका स्थूलीभूत रूप, जो रूप संवित् द्वारा चक्षुरिन्द्रियग्राह्य है, तेज है। तैजस अवस्थामे तत्त्वोंका विभाग नहीं हुआ है। जब तेज घनीभूत होता है तो पृथक् तत्त्व बनने लगते हैं। उस रूपको अप् कहते है और उसके रससंवित्की ग्राहक इन्द्रिय रसना है। पिण्डीभूत अप् क्षिति कहलाता है। उसके गन्धसवित्का ग्रहण घ्राण इन्द्रिय करती है।

भूतोंकी पारमार्थिक सत्ताके सम्बन्धमे भ्रम न होना चाहिये। अविद्या-के कारण जीवात्मा अपनेको जीवात्मा—परिच्छिन्न, पृथक् व्यक्ति—मानता है। अविद्या उसके भीतर है पर वह अपने परिच्छेदकको ढूँढता है, उसको जानना चाहता है। चित्त क्षुब्ध, आकुल होता है, बुद्धिसे अहकारकी सृष्टि होती है और अहकारसे इन्द्रियों और मनकी। इन्द्रिय और मनके द्वारा चित्तमे अनेक सवित् होते है अर्थात् वह अनेक प्रकारसे उस पदार्थको ज्ञान और भोगका विषय बनाता है जो सदासे उसके भीतर है। प्रत्येक सवित्के अनुसार उस पदार्थ, उस न-मै, का नया ज्ञान होता है, और बुद्धि उसके विषयमे एक नयी कल्पना करती है। बुद्धिके यह निर्माण ही आकाशादि है। ऐसा कह सकते है कि जो ज्ञातृत्वादि योग्यतात्रय अपनी साम्यावस्था या शुद्धावस्थामे चेतना, ब्रह्मरूप है, वही सक्रिय अवस्थामे चित्त है और वही घनीभूत होकर भूत हो गयी है। जो ज्ञाता है, वही ज्ञानका साधन है, वही ज्ञेय है। यह त्रिपुटी अविद्याकृत है, जड़चेतनका भेद अविद्याकृत है, अस्मत्-युष्मद्-विभाग अविद्याकृत है।

प्रथम खण्डके सेन्द्रिय प्रत्यक्षाधिकरणमे इस समस्याकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया था कि भौतिक वस्तु और अभौतिक चित्तमे क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है। अब इस बातके समझनेमे कोई कठिनाई न होनी चाहिये। वस्तु संवित् मात्र है और सवित् चित्तका परिणाम है, अतः वस्तु और चित्तका सम्बन्ध वस्तुतः परिणाम और परिणामीका सम्बन्ध है, जिसका होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त जो

पदार्थ चित्त है वही भौतिक वस्तु है। दोनो शक्तित्रयात्मक, गुणत्रयात्मक, अतः सजातीय हैं। सजातीयोका मिथः प्रभावित होना स्वाभाविक है। दोनोमे भेद इतना ही होता है कि चित्तमे सत्त्व और रजकी मात्रा अधिक होती है; भूत, विशेषतः क्षितिमे तमकी प्रधानता होती है। इसीलिए वह अपेक्षया जड़ प्रतीत होता है।

६. संविद्वैषम्याधिकरण

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जगत्‌के विकासका जो क्रम दिखलाया गया है उसके अनुसार सब जीवोके सवित् एक-से होने चाहिये। इसका उत्तर यह है कि यदि जगत्‌की उत्पत्तिकी कोई निश्चित तिथि होती तो उससे किसी भी निश्चित कालके बाद सब जीवोंके चित्तोके एक-से होनेकी सम्भावना हो सकती थी। परन्तु जगत् कहाँ, कब हुआ? उसकी प्रतीति तो अविद्याजनित है। अमुक तिथिसे अविद्या आरम्भ हुई यह नहीं कहा जा सकता, क्योकि अविद्यास्पर्शके लिए कोई हेतु नही हो सकता। ब्रह्म जैसा था वैसा है। अविद्या अनादि है। जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हुई, प्रतिक्षण होती है।

जीवात्माकी पृथक् सत्ता नही है, परन्तु अविद्याके कारण वह अपनेको पृथक् मानता है। उसकी यह भ्रान्ति अनादि है। आजतक उसने करोड़ो शरीर धारण किये और छोड़े, असंख्य संवितोंका अनुभव किया, असंख्य ज्ञानो, इच्छाओं और सङ्कल्पोके संस्कार उसके चित्तमें सञ्चित है। यह सब होते हुए भी यदि सब जीवोके चित किसी क्षणविशेषमे एक ही अवस्थामे हो तो यह सचमुच आश्चर्यका विषय होगा।

७. जगन्मिथ्यात्वाधिकरण

अस्मत् और युष्मत्‌की समष्टि ही जगत् है। हमने जगत्‌का विश्लेषण किया और इस परिणामपर पहुँचे कि अस्मत् और युष्मत्, समस्त जगत्, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म चिन्मय है, एक है, अद्वय है, दिक्कालातीत है। वह अवधारणका विषय नही है। जहाँतक मै और

वह—की प्रतीति होती है, समझने और समझानेका अवकाश रहता है, वहाँतक माया, अविद्या है। इसीलिए उपनिषदें कहती हैं—जो उसको जानता है वह नहीं जानता, जो नहीं जानता वह जानता है।

तो फिर क्या जगत् मिथ्या है? इस प्रश्नके दो उत्तर हैं, हाँ और नहीं। जगत् उतना ही सत्य और उतना ही मिथ्या है जितना कि रस्सीमें-का सर्प। रस्सी ही सर्प है इसलिए सर्प सत्य है, वहाँ सर्प नहीं है इसीलिए मिथ्या है। जगत्का जो रूप प्रतीत होता है वह तो मिथ्या है, परन्तु है वह ब्रह्मसे अभिन्न, इसलिए सत्य है।

दार्शनिकके मुँहसे जगत्के मिथ्यात्वकी बात सुनकर कुछ लोग उसपर यह आक्षेप करते है कि वह मनुष्योको निकम्मा बना देता है। मैं निकम्मा-का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानता, परन्तु इतना समझता हूँ कि यह कोई बुरी चीज माना जाता है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो बेचारा दार्शनिक निर्दोष है। वह सच्ची बातमात्र कह देता है, यदि कोई सत्यका दुरुपयोग करता है; तो इसके लिए उसका दायित्व नहीं हो सकता।

फिर भी इस प्रसंगमें दो बातें दार्शनिक कह सकता है। जगत्के स्वरूपको जाने बिना काममे लगे रहना कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। यदि दार्शनिकसे जगत्को मिथ्या जानकर लोगोकी कर्मदिशा बदल जाय तो वह अपनेको कृतार्थ मानेगा। हिरन मरीचिकाके पीछे दौडता है; यह क्या बहुत बुद्धिमानीका प्रमाण है? यदि उसे यह विदित हो जाय कि जिसे मैं जल समझ रहा हूँ वह बालू है और ऐसा जानकर वह उधर दौडना छोड़ दे, तो क्या उसका यह निकम्मापन निन्दार्ह होगा? तेलीका बैल दिनभर चलता रहता है; क्या उसका यह गतिशील रहना प्रगति, उन्नति, बुद्धिमत्ताका लक्षण है? केवल कुछ करते रहना प्रशसनीय नहीं हो सकता। जो काम परिस्थितिके अनुकूल है, वही अच्छा है। जो काम परिस्थितिसे असङ्गत है उससे विरत हो जाना, इस दृष्टिसे निकम्मा हो जाना, बुद्धिमानीका सूचक है। बहुत-से ऐसे काम जो जगत्के सत्य होनेकी दशामे उचित होते उसको असत्य जान लेनेपर अकरणीय प्रतीत

होगे। हिरनको मृगतृष्णिकाकी ओरसे पराङ्मुख होकर सच्चे जलकी खोज करनी चाहिये। जिन कामोसे ब्रह्मप्राप्तिमे सहायता मिले वह तो ठीक है, शेष फँसानेवाले है। उनको जितना ही छोड़ा जा सके उतना ही श्रेयस्कर होगा।

परन्तु एक चेतावनी भी देनी है। जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, कहनेसे काम नही चलता। कर्ममात्रका सहसा परित्याग नहीं किया जा सकता। कैसे कर्म करणीय है, इस विषयमे हम आगे चलकर धर्माध्यायमे विचार करेगे, परन्तु कर्मसे हाथ खीच लेनेपर भी चित्तमे वासनाओका विशाल जगत् बना रहता है। जबतक यह जगत् बना हुआ है तबतक कर्मसे विरत होना निरर्थक है। कर्म इस प्रकार करना चाहिये कि अविद्याका बन्धन क्षीण हो। देह और चित्त भले ही बन्धन हो, परन्तु इनको बन्धन पुकारनामात्र पर्याप्त नही है, इनसे बन्धनको ढीला करनेका काम लिया जा सकता है। यदि किनारेपर खड़ा मनुष्य पानीमे गिर पड़ता है तो वह सोचकर नही रह जाता कि मेरा पानीमें गिरना मूर्खता थी, मेरा पानीसे क्या सम्बन्ध, मै तो किनारेका रहनेवाला हूँ। जो ऐसा सोचकर हाथ बाँध लेगा उसे पानी ले डूबेगा। समझदार मनुष्य तैरता है, पानीमे हाथ-पैर मारता है, पानीको ही पानीसे बाहर निकालनेका साधन बनाता है। तभी वह पुनः किनारेपर आ लगता है।

यदि निरर्थक कामोंसे विरत होकर आत्मज्ञान-साधक कामोमे लगना निकम्मापन हो तो दार्शनिक निकम्मेपनका समर्थक है।

छठाँ अध्याय

नानात्वका सङ्कोच

एक ब्रह्मसे नानात्मक जगत्‌का प्रसार किस प्रकार हुआ है यह तो हमने देखा। इस सम्बन्धमे यह प्रश्न अगत्या उठता है कि कभी इस नानात्वका सकोच भी होता है या नही। चूँकि नानात्व सत्य नही है वरन् प्रतीतिमात्र है, इसलिए इस प्रश्नका रूप यह हुआ कि कभी इस नानात्वकी प्रतीतिका लोप होता है या नही।

नानात्वकी जड अविद्या है, यह जड कर्मसे नही कट सकती। कर्मके सम्बन्धमे हम अगले अध्यायमे विस्तारसे विचार करेगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि कर्म अविद्याका विरोधी नही हो सकता। अच्छेसे अच्छा कर्म हो, पर वह नानात्वके आधारपर ही किया जा सकता है और कुछ न-कुछ सस्कार छोड़े विना नही रह सकता। संस्कारसे नानात्वकी जड़ और पुष्ट होगी। यदि वासनाके ऊपर उठकर कर्म किया जा सके तब तो वह बन्धनको दृढ़ न करेगा, परन्तु जबतक आत्मसाक्षात्कार नही होता तबतक पूर्ण वैराग्य नही हो सकता। जैसा कि हम अगले अध्यायमे देखेगे, कर्मका बहुत बड़ा महत्त्व है। इस महत्त्वकी ओर प्रथम खण्डके चित्तप्रसादाधिकरणमे सङ्केत किया गया है। परन्तु कर्म स्वतः अविद्याको मिटा नही सकता।

श्रवण और मनन—सच्छास्त्र-विचार, दार्शनिक वाङ्मयका अनुशीलन—भी अविद्याको दूर नही कर सकता। शास्त्र जगत्‌की असारताको समझा सकता है, उसकी ब्रह्मसे अभिन्नताको समझा सकता है, परन्तु समझना एक बात है, अनुभव करना दूसरी बात है। समझना-समझाना नानात्वके भीतर होता है। शास्त्रमे ब्रह्म ढूँढना भुसमे अन्न ढूँढना है।

तर्कसे अतर्क्यको पकड़नेका प्रयास करना कनिष्ठासे सूर्यको स्पर्श करनेके प्रयत्नसे भी बढ़कर दुःसाहस है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनन व्यर्थ है। वह चित्तको अनुकूल बनानेमें और दूसरोंके अनुभवसे लाभ उठानेमें सहायक होता है। जो आत्मसाक्षात्कारकी कोटितक नहीं पहुँचा है उसके लिए स्वाध्याय—शास्त्रानुशीलन—और मनन बहुत ही आवश्यक है, पर इससे भी नानात्व दूर नहीं होता।

अविद्याका प्रतिषेध विद्यासे होता है। जो नानात्व अविद्यासे उत्पन्न हुआ है वह विद्यासे ही जा सकता है। विद्याके दो भेद है, परा और अपरा। अपरा विद्या शास्त्र और योगिजनके उपदेशसे आरम्भ होती है। उससे नानात्व-बुद्धि धीरे-धीरे क्षीण होती है और जगत्का वास्तविक रूप कुछ-कुछ समझमें आने लगता है। अपरा विद्याके ही भीतर वह अनुभव है जो सम्प्रज्ञात समाधिमें होते हैं। समाधिकी भूमिकाओंमें ज्यों-ज्यों गति होती है त्यों-त्यों नानात्व पतला पड़ता जाता है। अस्मिता समाधिके अन्तमें नानात्व और अपरा विद्या, दोनोंका साथ ही अन्त हो जाता है। अपरा विद्या वह आग है जो कूड़े-करकटको जलाकर आप भी शान्त हो जाती है। आत्मसाक्षात्कार परा विद्या है जिसमें माया पूर्णतया शान्त हो जाती है।

इस अवस्थाको नयभेदसे कई नामोंसे पुकारते हैं। अविद्याके बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है इसलिए यह मुक्ति या मोक्ष है, अस्मिताका दीपक बुझ जाता है इसलिए यही निर्वाण है।

शास्त्र और आत्मसाक्षात्कारके बीचमें ऐसी कई अवस्थाएँ हैं जिनमें अविद्याका पर्दा अंशतः हट जाता है और नानात्वका न्यूनाधिक लोप हो जाता है। उनका थोड़ा-सा निरूपण अनुचित न होगा।

१. सुषुप्त्यधिकरण

स्वस्थ मनुष्य प्रतिदिन कुछ देरके लिए गहरी नींद सो जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपनेको अभागा मानता है। सुषुप्तिमें

भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, ज्ञातृत्वमें हल्की-सी सक्रियता रहती है। इस अवस्थामे नानात्व लुप्तप्राय हो जाता है। अनुभूतिक्रम नही रहता, सोनेवाला कालके बाहर हो जाता है। परन्तु सुषुप्ति बहुत देरतक नही रहती। जागनेके साथ ही पुराने संस्कार फिर बलवान् हो जाते है और नानात्वकी प्रतीति पूर्ववत् होने लगती है।

२. महाप्रलयाधिकरण

यो तो विशेष कारणोसे किसी व्यक्तिको किसी समय भी नींद लग सकती है, किन्तु कुछ ऐसी परिस्थिति होती है कि रातमे एक ही समय लाखो मनुष्य सोये देख पड़ते हैं। सब एक-दूसरेसे पृथक् है, पर सबके व्यक्तित्व खोये हुए-से रहते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी अवस्था दीर्घकालके लिए बहुत-से जीवोकी हो जाती है। ज्योतिषी निश्चयके साथ कही कह सकता कि किन खेचर पिण्डोपर जीवधारी रहते हैं। सब प्राणियो-के शरीर पृथिवीपर रहनेवालोके समान है, यह बात क्यो मानी जाय? ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमे एक-दूसरेसे सम्बद्ध बहुत-से पिण्ड एक साथ नष्ट हो जायँ या बसनेके योग्य न रह जायँ। सूर्यको किसी प्रकारका आघात पहुँचनेसे सौर मण्डलके सारे ग्रहोकी यही गति होगी। सूर्य धीरे-धीरे ठण्ढा हो रहा है। एक दिन उसकी ठण्ढक इतनी बढ़ जायगी कि यदि उस समय उसके साथ कोई ग्रह बच रहा तो वह हम जैसे प्राणियोके बसनेके अयोग्य हो चुका होगा। सूर्य आकाश-गङ्गामे है। यदि इस नीहारिकाके उस प्रदेशमे, जिसमे सूर्य इस समय है, कोई क्षोभ उत्पन्न हो तो सूर्य और उसका परिवार नष्ट हो जायगा। क्षोभ होगा या नही, यदि होगा तो कब और कैसे होगा, यह सब हम अभी नही जानते। विज्ञानको ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वायुकी सक्रियता कम हो रही है अर्थात् धीरे-धीरे सारे भौतिक पिण्ड निश्चेष्ट, गतिहीन होते जा रहे हैं। यदि ऐसा है तब भी सम्भवतः एक दिन इनपर प्राणी न रह सकेगे। परन्तु जीव नष्ट नहीं होते, वह प्रसुप्तसे हो जाते है। ऐसी

दशाको, जिसमे जगत्का बहुत बड़ा भाग नष्ट या बसने—जीवोंके भोग—के अयोग्य हो जाता है, महाप्रलय कहते है। महाप्रलयमे उस खण्डके जीव हिरण्यगर्भमे निमज्जित रहते है। जब फिर परिस्थिति अनुकूल होती है—और अनुकूल परिस्थितिका पुनः स्थापित होना अनिवार्य है, क्योकि जीवो-के भीतर ही तो सारी परिस्थितियोका भण्डार है—तो नयी सृष्टि होती है। जीवोकी ज्ञातृत्वादि शक्तियाँ चिरसुप्त नही रह सकती, क्योंकि अविद्या तो कहीं गयी नही है। शक्तियाँ जब जागरणोन्मुख होती है तो जीव हिरण्यगर्भमेसे पुनः निकलते है। प्रत्येक जीव अपने संस्कार अपने साथ लाता है। फिर जिस प्रकार पिछले अध्यायके भूतविस्ताराधिकरणमे दिखलाया गया है, जीव जगत्का निर्माण करते है। पिछले सस्कारोके कारण जीवोमे वैलक्षण्य होता है, इसलिए एक ही प्रकारके शरीरसे सबका काम नही चल सकता। परिस्थितियाँ बदलती है, सबको अपने-अपने अनुरूप शरीर मिल जाते है। यो ही सर्ग और प्रतिसर्गका प्रवाह चला जाता है।

महाप्रलय और नूतन सृष्टिके बीचमे जितने कालतक जीव हिरण्य-गर्भमे प्रलीन रहते है उतने दिनोतक उनके लिए नानात्व लुप्तप्राय रहता है। परन्तु यह लोप भी आत्यन्तिक नही है। उस अवस्थामे भी ज्ञान-शक्ति काम करती है और उसके बाद नानात्वका वृक्ष फिर हरा-भरा हो जाता है।

३. सौन्दर्यानुभूत्यधिकरण

कुछ ऐसे दृग्विषय है जिनको देखकर हृदयमे रसका सञ्चार होता है। गगनचुम्बी हिमाच्छादित गिरिशिखर, समुद्रकी फेनिल उत्ताल तरङ्ग, प्रपात और निर्झर, तारोसे जगमगाता आकाश, शीतल शशिप्रभा, यह सब मनोरम लगते है। किसी तूलिकासे निकला चित्र, किसी कविके मुँहसे निकले कुछ शब्द, चित्तको बरबस अपनी ओर खींच लेते है। हम इन सबमे जो मनोहारिता पाते है उसको सौन्दर्य कहते है। यह सब अपने-अपने ढङ्गसे सुन्दर है।

सौन्दर्यके सम्बन्धमें बृहत् वाङ्मय है। विशेषज्ञोंने जिन बातोंका विवेचन किया है उनमें पड़नेकी हमको आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो सौन्दर्यानुभूतिके विषयमें केवल इस बातपर जोर देना है कि उस अवस्थामें मनुष्य अपनेको भूल-सा जाता है। द्रष्टाकी दृश्यके साथ तन्मयता हो जाती है और दर्शनमात्र रह जाता है। जितनी ही तन्मयता होती है उतनी ही गहरी सौन्दर्यानुभूति होती है। सौन्दर्यकी यही कसौटी है कि वह चित्तको एकाग्र कर सके। अनुभूति कुछ तो द्रष्टापर निर्भर करती है, कुछ दृश्यपर। द्रष्टा अपनेको जितना ही वासनासे शून्य करता है उतनी ही उसको सौन्दर्यकी अनुभूति होती है। वासना रागात्मक हो या द्वेष-रूपा, वह सौन्दर्यपर पर्दा डाल देती है। कामी पुरुष सौन्दर्यको न ढूँढ़ता है, न पाता है, वह रति-वासनाकी तृप्तिमात्र चाहता है। जो क्रोधसे पागल हो रहा है उसके लिए फूलसे कोमल बालकमें भी सौन्दर्य नहीं है, जिसकी इच्छा कहीं और अटकी हुई है उसके लिए कोई दृश्य सुन्दर नहीं हो सकता। जब चित्त अपनेको किसी वस्तुपर लगा देता है तो उसका पूरा ज्ञान होता है, उसका सारा तत्त्व, सारा रहस्य, आपसे आप सामने आता है। नाटकके प्रेक्षणका पूरा लाभ उसीको मिलता है जो स्वयं अभिनेता नहीं होता। ऐसे प्रेक्षकको प्रतिक्षण वस्तु-स्वरूपका कोई नया अनुभव होता है, जो उस मनुष्यको नहीं हो सकता जो उसको भोगका साधनमात्र मानता है।

सौन्दर्यानुभूतिकी कुञ्जी स्रोतापत्ति—अपनेको प्रवाहमें डाल देना—है। सौन्दर्य—वस्तुका स्वरूप—तब पूरा-पूरा सामने आता है जब सौन्दर्यकी भी खोज, उसके लिए प्रयास, न हो। ऐसा होनेपर ही बूँद उस समुद्रको उन्मुक्त कर देती है जो उसके गर्भमें सतत छिपा रहता है। खिले कमलमें, बादलोंमेंसे झाँकती ज्योत्स्नामें, उषाके स्मितमें, मयूरके नृत्यमें, विधवाके मौन रुदनमें, अनाथकी लुटी आँखोंमें, विश्वका रहस्य भरा है। हम रुदनके सम्बन्धमें सौन्दर्य शब्द सुनकर चौंकते हैं। यह प्रयोग कुछ असाधारण-सा तो है, परन्तु हमारे चौंकनेका मुख्य

कारण यह है कि हम सौन्दर्यको भोग्यताका अङ्ग माननेके अभ्यासी हो गये है।

जो चित्त किसी भी वस्तुके प्रति अपनेको इस स्रोतापत्ति अवस्थामे डाल देता है उसको उस वस्तुका यथावत् अनुभव तो होता ही है, अर्थात् उससे वह सब संवित् तो प्राप्त होते ही है जो अन्यथा व्यक्त रहते हैं, बुद्धिको उसमे वह शक्तियाँ मूर्तिमती देख पड़ती है जो जगत्को परिचालित करती प्रतीत हो रही है। ऊँचा पहाड़ पत्थरोका ढेर नही है, वह शक्ति है जो गुरुत्वाकर्षणको अभिभूत कर रही है, उस ओजका प्रतीक है जो नीचे खींचनेवाली परिस्थितियोंको ठोकर मारकर ऊपर उठाता है; वसन्तमे कली नहीं चटकती, शिशिरमे पत्तियाँ नही झड़ती, ब्राह्मी और रौद्री शक्तियाँ काम करती है; कमल-किञ्जल्कके बीचमे भौरा रसपान नही करता : लक्ष्मी अमृतके कलश लुढ़काती है; कुतिया अपने बच्चोंको दूध नही पिलाती : साक्षात् जगद्धात्री जीवोमे प्राण डाल रही है। इन शब्दोका प्रयोग नहीं किया जाता, इन शक्तियोकी कल्पना भी बहुतोको नही होती, फिर भी इनका साक्षात्कार होता है। देखनेवाला अपने साधारण जीवनके ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत्का कुछ अश पीछे छोड़ देता है, उसको ऋत और सत्यकी कुछ झलक मिल जाती है, नानात्वका कुछ उपशम हो जाता है, उस एक पदार्थसे थोड़ा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो सबका मूल है। सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति एक प्रकारकी समाधि है। वह लोग भाग्यवान् है जिनको यह अनुभव प्राप्त होता है। एकाध बार स्यात् सबको ही ऐसा हो जाता है, परन्तु किसी-किसीको जन्मना यह सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अनुभव बहुत देरतक नही ठहरता, परन्तु जबतक रहता है तबतक चित्त एक अपूर्व उल्लासमय अवस्थामे रहता है। जो लोग अपने इस अनुभवको दूसरोंतक पहुँचानेकी क्षमता रखते है वही कवि और कलाकार कहलानेके पात्र है।

दृश्य द्रष्टासे भिन्न नही है। अविद्याने ही यह द्वैध उत्पन्न किया है। दृश्यरूपमे द्रष्टाको अपना दर्शन होता है। दृश्यमे जो भी स्थूल-सूक्ष्म लक्षण

प्रतीत होते हैं वह द्रष्टाकी ही चित्तप्रसूति है। अतः जब चित्त एकाग्र होता है और रसकी अनुभूति होती है उस समय द्रष्टा अपने ही सूक्ष्म रूपको देखता है। दृश्य सिमिटकर द्रष्टाके पास आ जाता है।

यों तो विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए सर्वत्र सौन्दर्य है, परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो चित्तको अपनी ओर जल्दी खींचती है। इनमे मौलिक शक्तियाँ इस प्रकार व्यक्त होती हैं कि उनका एक बार तो चित्तपर प्रभाव पड़ता ही है। ऊँचे पहाड़, समुद्रकी उठती लहरें, खिले फूल, नदीका कल-कल प्रवाह, इन्दुरश्मिप्रभा-सीकरसिक्त संगमर्मरशिला, नक्षत्रवसना निशा—इनकी ओर चित्त खिच ही जाता है।

यही बात सच्चे कलाकारकी कृतिमे होती है। कलाकार फोटो नहीं खींचता। वह प्रकृतिकी अनुकृति नही करता। उसका उद्देश्य यह है कि सत्यकी जो झलक उसको मिली है वह दूसरोंको भी मिले। इसके लिए उसको भौतिक साधनोसे काम लेना पड़ता है और यह साधन अपने सहज दोषोंको छोड़ नहीं सकते। चञ्चल, सक्रिय पदार्थोंको धातु, पत्थर या कागदमें बाँधना उनको मार डालना है। उसका कौशल इसी बातमें है कि कलाकी सामग्री कलाके उद्देश्यको कमसे कम व्यवहित कर सके। कवि इस बातमे भाग्यवान् है कि उसका उपकरण शब्द है। शब्दोंमे प्रवाह होता है और वह विचार-प्रवाहके प्रतीक होते हैं। पद्यमे विभिन्न छन्दोंकी मात्रा और लयके सघटनसे प्राणोंमे लय उत्पन्न होता है और इससे चित्तकी एकाग्रतामें सहायता मिलती है। शब्दोंका प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरेकी बातोंमे न उलझकर उसी तत्त्वपर टिके जहाँ कवि उसे जमाना चाहता है।

काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कविको विभाव और स्थायीसे काम लेना पड़ता है, अनुभाव और सात्त्विकको दिखाना पड़ता है, परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि नायक-नायिका या उद्दीपन-सामग्री या रति आदि भाव या पात्रोंकी चेष्टाएँ अपने आगे न बढ़ने दें तो कविकी प्रतिभाका दोष है। यह सब तो रसके लिए बहानामात्र होना चाहिये। किसी पुरुषका

किसी स्त्रीके प्रति प्रेम, किसी प्रोपितपतिकाका विलाप, किसी माताका पुत्रकी मृत्युपर क्रन्दन, किसी महापुरुषकी आत्मवलि, किसी संयमीकी तपस्या—वर्णनका आधार प्रत्येक दशामे कोई व्यक्तिविशेष ही हो सकता है, परन्तु चित्त इन उदाहरणोंसे उठकर प्रेम, करुणा, त्याग और वैराग्यके निर्व्यक्ति-क्षेत्रोमे मॅडराने लगता है। श्रोता अपनेमे पात्रको और पात्रमे अपनेको देखने लगता है; थोड़ी देरके लिए अनुभूतिका घेरा निःसीम और उसकी गहराई अथाह हो जाती है।

कलाओमे सङ्गीतका स्थान सबसे ऊँचा है। सङ्गीत साहित्यसे भी ऊपर उठता है। शब्द अपने अर्थो और ध्वनियोको नहीं छोड़ सकते, इसलिए वह बुद्धिको कुछ-न-कुछ उलझाये विना नहीं रह सकते। सङ्गीत-में स्वर और तालसे काम लिया जाता है। जिस स्फोटसे भौतिक जगत् निकला है उसकी पहली अभिव्यक्ति स्वरोमे हुई, इसलिए स्वरराशि परा-वाणीके वहुत निकट है। अच्छे गाने या बजानेवालेको भाषामे कुछ वतलानेकी आवश्यकता नही होती; स्वरोका आरोहावरोह प्राणको वाहरसे खींचकर ऊर्ध्वमुख कर देता है, चित्त विक्षेपको छोड़कर मन्त्रमुग्ध सर्पकी भॉति निश्चल हो जाता है; नानात्व दव-सा जाता है; शरीरके भीतर वाहर एक-सा झङ्कृत हो उठता है; ऐसा प्रतीत होता है कि देहका बन्धन छूट गया; मै उठता, फैलता-सा जाता हूँ; एक अद्भुत आनन्द अपनेमे छा जाता है, रसका महोदधि उमड़ आता है। सामवेदके उद्गाता और वीणाके कुशल वजानेवाले अनाहत नादके स्वरमे स्वर मिलाते है, नटवरकी पायल ब्रह्माण्डोके स्पन्दनको ताल देती है। ऐसे सङ्गीत-विशारद भी कम है जिनको ताल और स्वर-मण्डलपर इतना चमत्कारी अधिकार हो, ऐसे भाग्यवान् भी कम है जो सङ्गीतसे ऐसा रस पाते हो, परन्तु क्षणभरका भी ऐसा समाधि-कल्प अनुभव मनुष्यको पवित्र कर देता है।

कभी-कभी ऐसा अनुभव जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है—प्राणका भीतरकी ओर खींचना, सॉसका रुक सा जाना, शरीरका शिथिल पड़ जाना, अपना ऊपर उठना या चारों ओर फैल-सा जाना—ऐसे

लोगोंको भी हो जाता है जो न कलाकार हैं, न कलाके विशेष प्रेमी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षणभरमें विश्वका सारा रहस्य समझमें आ गया। बादमें इसकी कोई स्मृति नहीं रहती कि समझमें क्या आया था। ऐसे लोग या तो इस अनुभवकी ओर उपेक्षा करते है या इसको ही समाधिकी काष्ठा समझ लेते है। दोनों ही अवस्थाओंमें वह ऐसे दुर्लभ अनुभवको आत्मसाक्षात्कारकी सीढ़ी बनानेसे वञ्चित रह जाते है। उनको वह पद भी प्राप्त नहीं होता जहाँ कलाकार पहुँचता है, क्योंकि योगी न होते हुए भी सच्चा कलाकार समाधिकी निम्न भूमियोंमें बारम्बार प्रवेश कर सकता है।

जिस समय वैज्ञानिक प्रयोक्ता अपने शास्त्रकी गूढ़ समस्याओंपर विचार करता है उस समय थोड़ी देरके लिए उसकी बुद्धिके सामनेसे भी नानात्वके बादल हट जाते है और एकत्वकी एक झलक देख पड़ जाती है। यह झलक अस्फुट भले ही हो, परन्तु उसमें अद्भुत स्फूर्ति होती है। जिन लोगोंने विज्ञानमें नवयुग प्रवर्तित करनेका श्रेय पाया है उन सबको ऐसा अनुभव कभी-न-कभी हुआ है। यह वह विन्दु है जहाँ विज्ञान और कलाकी रेखाएँ एक-दूसरीको काटती है।

कुछ ऐसा ही अनुभव उस व्यक्तिको भी कभी हो सकता है जो दार्शनिक समस्याओंपर गम्भीर मनन करता है। परन्तु यदि मननके साथ-साथ निदिध्यासन न हुआ तो व्यर्थ है। कोरे अनुमन्ताके सामने सत्यके स्वरूपके कोई नये पटल नहीं आते, वह बुद्धिनिर्माणों, विकल्पों और शब्दोंके जंगलमें भटकता रह जाता है। जो केवल पण्डित है उसका पद विज्ञानके आचार्य और सच्चे कलाकारसे बहुत नीचा है। यदि उसको कभी सत्यकी झलक मिली भी तो उस प्रकाशमें उसके भीतरका अँधेरा और प्रगाढ़ हो उठा होगा। कोरा शास्त्री जिसे विद्या समझता है वह अविद्याका ही भेद है।

अगले पृष्ठके दोनों चित्र सम्भवतः रोचक प्रतीत होंगे। पहिला अचेतन-वादके आधारपर बना है। उसके निर्माता काडवेल थे। उसका तात्पर्य

स्पष्ट है। दूसरा भी स्पष्ट होना चाहिये। यह इस पुस्तकमें प्रतिपादित सिद्धान्तके अनुकूल है। इसमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया है कि प्रतीयमान जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, मायामें उसकी छाया है। इस जगद्-रूपकी एक प्रकारकी अनुभूति और अवधृति मानसशास्त्रके विद्यार्थीको और दूसरे प्रकारकी विज्ञानके विद्यार्थीको होती है। समन्वय द्वारा
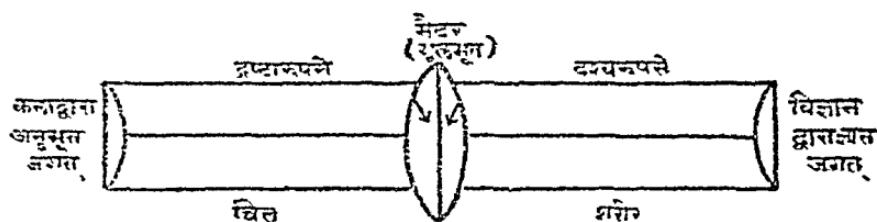
दर्शनशास्त्री इन दोनोंको मिलाता है। शुद्ध ब्रह्मरूपका साक्षात्कार निर्विकल्प समाधिमें होता है। प्रतीयमान और शुद्ध रूपोंके बीचमें कलाकार और पूर्ण निष्कामकर्मीका जगत् होता है।

४. उपासनाधिकरण

उपासनाका विषय जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही विशाल है। उसके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं; उपासना-प्रवृत्तिका विकास कैसे हुआ? मनुष्यने पहिले किसकी और क्यों उपासना की? उपासना-पद्धतियोंमें भेद क्यों है? उपास्य और पद्धति-भेदसे जो सम्प्रदाय बन गये हैं उनका मनुष्यके सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विकासपर क्या

प्रभाव पड़ा है? समाजशास्त्र और इतिहासके पण्डितोंको इस प्रकारके प्रश्नों-पर विचार करना ही चाहिये और जो लोग विभिन्न सम्प्रदायोंमें व्यासपीठों-पर बैठते हैं उनको भी इस ओर ध्यान देना चाहिये। परन्तु हमारे लिए यह विचार प्रायशः अप्रासङ्गिक है।

योगाभ्यासकी भी गणना उपासनामें की जाती है, परन्तु हम अबतक उसका पृथक् उल्लेख करते आये हैं और आगे भी ऐसा ही करेंगे। उसको छोड़कर, उपासकोंके तीन भेद किये जा सकते हैं। सुभीतेके लिए इनको अलग-अलग लेना अच्छा होगा।

(क) ईश्वरोपासक

मायाशबल ब्रह्म, परमात्माका, ही नाम ईश्वर है। वही एकसे अनेक होकर जीवात्मा हुआ है। उसीकी बुद्धि हिरण्यगर्भसे सारा जगत् निकला है, महाप्रलयके बाद फिर उसीमें समा जाता है। यह तो दार्शनिक बात हुई, परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनेमें कई त्रुटियाँ, कई अपूर्णताएँ पाता है। उनको दूर करके वह अपने लिए एक आदर्श बना लेता है। परमात्मामें निक्षिप्त होकर यह आदर्श उस उपासकका ईश्वर बन जाता है। सब साधारण उपासकोंके लिए ईश्वर पूर्णतया एक-सा नहीं होता।

विभिन्न सम्प्रदायोंके शास्त्रकारोंने इन लौकिक ईश्वरोंका एक प्रकार-का महत्तम समापवर्तक-सा निकाला है और उसमें उन सद्गुणोंका निक्षेप किया है जो उनकी समझमें मनुष्यके चरित्रके लिए उन्नायक और उसकी आध्यात्मिक उन्नतिके साधक हैं। ईसाई और वैष्णव आचार्योंने ईश्वरके विग्रहके संस्कारमें विशेष उल्लेखनीय भाग लिया है। ईश्वरका जो रूप इस प्रकार निष्पन्न हुआ है, वह उन सब उपासकोंको ग्राह्य होता है जो विद्वानोंके संसर्गमें आते हैं या शास्त्रीय उपासना-पद्धतिमें दीक्षित होते हैं। यह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, न्यायमूर्ति और परमकारुणिक है, वह सदाचारी और मुमुक्षुकी सहायता करता है और आततायीको दण्ड देता है। परन्तु करुणामयका दण्ड द्वेषप्रेरित नहीं होता,

इसलिए दण्डके द्वारा भी वह आततायीका उसी प्रकार हित करता है जिस प्रकार पिता या अध्यापक भर्त्सना करके और वैद्य कड़वी औषध देकर कल्याण करते है।

यह ईश्वर शास्त्रकारोका बुद्धिनिर्माण भले ही हो, परन्तु कल्पना निराधार नही है। सब प्राणियोंके ज्ञान, सब प्राणियोकी शक्ति विराट्के ज्ञान और शक्तिमें अन्तर्भूत है और विराट् परमात्मासे अभिन्न है। ऋत और सत्य न्याय, पुरस्कार और दण्डके आधार है और यह दोनो हिरण्यगर्भसे निकले है। जीव गिरता है, परन्तु गिरकर फिर उठता है। जो ऋत और सत्य नीचे गिराते है वही ऊपर उठाते है, इसलिए जहॉ न्याय है वही करुणा है। परमात्माकी स्वधाशक्ति जहॉ एक ओर अविद्यारूपा है वहॉ मुमुक्षुके लिए विद्यारूपा भी होती है।

परमात्माका सबसे प्रधान लिङ्ग प्रेम है। वह प्रेमस्वरूप है। प्रेम रागका ही भेद है, इसलिए ईश्वरको रसस्वरूप कहा गया है। रागके भेदोमे प्रणय और वात्सल्यका स्थान बहुत ऊँचा है, परन्तु शुद्ध प्रेमकी पदवीको यह भी नही पहुँच सकते। साधारणतः प्रेमको रतिवासनाका ही नामान्तर मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रणयमे बहुत बड़ा अंश रतिवासनाका रहता है और अधिकांश मनुष्योको प्रणयका ही अनुभव होता है। साहित्यमें भी जिसको प्रेम कहा जाता है वह वस्तुतः प्रणय ही होता है। वास्तविक प्रेममे रतिवासनाका कुछ उन्नमित रूप भी रहता हो, पर उसके साथ वात्सल्य, सख्य और आत्मनिवेदनका भी अपूर्व सम्मिश्रण रहता है। गार्हस्थ जीवन वही सुखी होता है जहॉ प्रणय शुद्ध होकर रतिवासनाके रूपका उत्तरोत्तर परित्याग करके प्रेमकी ओर बढ़ता है। जहॉ स्वार्थ, बुभुक्षाकी छाया भी हो वहॉ प्रेम नही होता। प्रेमी अपने प्रेमपात्रके साथ अपनेको इतना तन्मय कर देता है कि उसके अपने किसी सुख-दुःखका प्रश्न नही रह जाता। ऐसे पुरुषोंके उदाहरण मिलते है जिन्होने अपनी प्रेयसियोको दूसरे पुरुषोसे विवाह करनेमे सहायता दी है जब कि इस बातको रोकना उनके लिए शक्य था; ऐसी स्त्रियोंके

उदाहरण मिलते हैं जिन्होने अपने हाथो अपने प्रेमभाजनोकी प्रसन्नताके लिए अपनी सपत्नियोका सिन्दूर सँवारा है। ईश्वरीय प्रेम इससे कहीं निर्मल होता है। उसमे स्व और परके लिए स्थान नहीं है। परमात्मामे जीव-जीवके भेद लय हो जाते है। जो प्रेमस्वरूप परमात्माका उपासक है वह किसी जीवके प्रति द्वेष या हिसा भाव नहीं रख सकता।

ईश्वरोपासकमे चारित्र गुण तो होना ही चाहिये, उसका सबसे बड़ा साधन अनुरक्ति है। अनुरक्तिको भक्ति, ईश्वरप्रणिधान और प्रपत्ति भी कहते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं कि भक्ति बड़ी सुगम है वह भूल करते हैं। प्रेम करना यत्नसाध्य नहीं होता। या तो प्रेमका भाव आप ही उदय होता है या नहीं ही होता। अस्तु, भक्त चारो ओरसे अपने चित्तको बटोरकर ईश्वरके चरणोमे उसे लगा देता है। अपनी सारी सम्पत्ति ईश्वरार्पण समझता है, अपने सारे कर्मोको ईश्वर-प्रेरित मानता है, प्रत्येक वस्तुको ईश्वरकी विभूति समझता है, प्रत्येक दृग्विषयको ईश्वरकी शक्तिकी अभिव्यक्ति मानता है, सुख-दुःखको ईश्वरकी देन मानकर शिरोधार्य करता है।

इसके साथ ही उपासनाकी कोई पद्धति भी होती है। ईश्वरका गुणगान, कोई पाठ, किसी प्रकारका जप, और किसी-न-किसी विधिसे ध्यान किया जाता है। अनुरक्ति भावप्रधान है इसलिए सब उपासकोंके लिए एक ही प्रकारका ध्यान या जप नहीं हो सकता। यह मानते हुए भी कि ईश्वर एक है, किसी उपासकके लिए उसपर पुरुष-रूपसे अनुरक्ति होती है, किसीके लिए स्त्री-रूपसे; किसीके लिए वह पुरातन पुरुष, परमपिता है, किसीके लिए आद्याशक्ति, जगदम्बा है; किसीको उसका सर्वज्ञ रूप आकृष्ट करता है, किसीको सर्वशक्तरूप; वह किसीके लिए रुद्र है, किसीके लिए शङ्कर। ईश्वरके प्रति जिसकी जैसी भावना होगी वह उसकी सेवामे तदनुकूल भाषामे ही आत्मनिवेदन और प्रार्थना करेगा।

कोई-कोई उपासक मूर्ति या अन्य प्रतीकसे भी काम लेते है।

प्रतीकको प्रतीक जानकर काम लेनेमे कोई दोष नही है, दोष तब आ जाता है जब प्रतीक ही उपास्य मान लिया जाता है।

उपासनाकी इन शैलियोमे प्रायः सामूहिक उपासनाको भी स्थान दिया जाता है। बहुतसे उपासक एक जगह एकत्र होकर जप या पाठ या ध्यान करते है। ऐसी गोष्ठीको चक्र कहते हैं। चक्रमे सम्मिलित व्यक्तियोके चित्त एक-दूसरेको प्रभावित करते है और थोड़ी ही देरमे वैसी एकाग्रता प्राप्त होती है जो अन्यथा बहुत देरमें आती। इसीलिए कहा जाता है कि चक्रमे उपास्य देवता[1] जल्दी अवतरित होती है। ऐसी एकाग्रता चाहे थोड़ी ही देर ठहरे, परन्तु उतनी देरतकके लिए प्राण अंशतः स्तब्ध हो जाते है और अपूर्व सुखमय आत्मविस्मृति होती है। प्रत्यक्ष न होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपास्य अपने चारो ओर, अपने पास, अपने भीतर और बाहर भर गया है। चक्रोपासनामे दोष यह है कि यह मादक अनुभूति समाधिकी ओरसे भी विरत कर देती है।

इन सब उपायोसे उपासकका चित्त एकाग्र होता है, उसके स्वका विवर्द्धन होता है, उसके लिए नानात्व न्यूनाधिक कम होता है, उसको कमसे कम वैसी अनुभूति तो मिलती ही है जो एक ऊँचे कलाकारको प्राप्त होती है। कलाकार और उपासकमे भेद यह है कि कलाकारके पास चित्तको एकाग्र करनेकी कोई निश्चित पद्धति नही है। ऐसे भी व्यक्ति है जो बिना किसी प्रकारकी दीक्षाके केवल भावावेशसे अन्तर्मुख हो जाते है, परन्तु आवेश देरतक स्थिर नही रह सकता। साधारणतः उपासकको एकाग्रता-विधिकी दीक्षा दी जाती है, इसलिए यदि वह चाहे तो समाधिकी भूमिकाओमे दूरतक जा सकता है। वस्तुतः ऐसा उपासक योगी है, यद्यपि वह अपनेको इस नामसे नहीं पुकारता। इस मार्गमें त्रुटि

---

१. देवोंकी शक्तियोंको, उन शक्तियोको जिनके द्वारा विश्वका सञ्चालन हो रहा है, देवता कहते हैं। देवता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है। 'विष्णु देवता जागरित हुई' का अर्थ हुआ 'वैष्णवी शक्ति जागरित हुई'।

यह है कि यह द्वैतको स्थिर मानकर चलता है; उपासक आत्मसाक्षात्कार करने नहीं चलता प्रत्युत ईश्वरका साक्षात्कार करना चाहता है, इसलिए उसकी बुद्धि निर्विकल्प समाधिके पहले ही रुक जाती है। वह उपासक अस्मिता समाधिके आगे बढ़ना चाहता ही नहीं। वह परमात्मानुभूतिसे सन्तुष्ट रहता है। ऐसे उपासकको भी मोक्ष होता है, परन्तु उसको पहिले अपने हठसे बनायी हुई दीवार गिरानी पड़ती है। उपासनाका भक्तिमार्ग योगका पर्याय नहीं है; वह उसकी एक शाखा है जो भावुक लोगोंको, ऐसे लोगोंको जिनमें ज्ञानकी अपेक्षा इच्छाशक्ति अधिक प्रबल होती है, विशेष रुचिकर और श्रेयस्कर प्रतीत होती है। एक और बात ध्यानमें रखनेकी है। समाधिकी ऊँची भूमिकाओंमें भक्तिमार्गसे चलनेवालोंमेंसे बहुत थोड़े लोगोंकी गति होती है। जिन लोगोंकी ऐसी शिक्षा है कि किसी लोकविशेषमें पहुँचकर ईश्वरके दिव्य रूपके अवलोकनसे भक्तको आनन्द मिलता है, जो उस लोकमें पहुँचकर मधुर वंशी या भक्तजनका स्तवगान सुननेकी प्रतीक्षा करते हैं वह आकाशके ऊपर नहीं उठ सकते। सबसे बड़ी बुराई यह है कि यह धारणा फैल गयी है कि भक्ति बहुत सुकर है। और तो कुछ सुकर है नहीं, भक्तिके नामपर कुछ औपचारिक पूजाको ही मोक्षका सस्ता लटका मान लिया जाता है। इसका आध्यात्मिक उन्नतिपर बहुत कम प्रभाव पड़ता है।

प्रपत्तिको स्वतन्त्र मार्ग मानना भूल है, परन्तु इस भावका चित्तशुद्धिमें उपयोग होता है। यह साधकको दुरभिमानसे बचाता है; जो ईश्वरको अन्तर्यामी मानता है उसको अपनी वासनाओंका दमन करनेमें सहायता मिलती है। जो चित्त सर्वसद्‌गुणनिधान, निष्काम, सौन्दर्यसार परमात्माके श्रवण-कीर्तन-चिन्तनमें लगा रहता है वह स्वयं उस रंगमें रँग उठता है।

हमारे भीतर बुरी वासनाएँ भी हैं और भली वासनाएँ भी। बुरी वासनाएँ हमको नीचे गिराती हैं और समाजको क्षति पहुँचाती हैं। सद्वासनाएँ व्यक्ति और समाज, दोनोंके लिए कल्याणकारी होती हैं। वासना अच्छी हो या बुरी, उसकी तृप्तिमें प्राणका व्यय होता है और

चित्तपर संस्कार पड़ते हैं। यदि कुवासनाओंसे छुट्टी मिल जाय तो सुवासनाओंके लिए वही प्राणशक्ति सुरक्षित रहे और चित्तपर कुसंस्कार न पड़े। बुरी वासनाओंसे बचनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनको अच्छी वासनाओंमें परिणत कर दिया जाय; साँप रहे, पर उसकी विषकी थैली निकाल ली जाय। कामुकता, क्रोध, लोभ, बुरी चीजें हैं, परन्तु उन्नमित होकर यह कल्याणकारी बन जाते हैं। भक्तके लिए वासनाओंका उन्नमन सुकर होता है। वह अपनी वासनाओंको भगवान्‌को अर्पित कर देता है। भगवान् प्रेमी हो जाता है, भक्त प्रेयसी बन जाता है या भक्त अपने इष्टको ही प्रेयसी बना लेता है; आप वत्स बन जाता है, उसे माता बना लेता है; क्रोधको अपवित्रता, अन्याय, अनाचारकी ओर पलट देता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि यह बातें भगवान्‌को पसन्द नहीं हैं। इस प्रकार वासनाओंकी तृप्तिकी दिशा बदल जाती है और वह लोकसंग्रहका साधन बन जाती है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि शंकरके गण प्रेत, पिशाच, वेताल और ब्रह्मराक्षस हैं। इसी बातकी ओर तन्त्र-ग्रन्थोंमें इन शब्दोंमें संकेत किया जाता है कि महिषमर्दिनीने असुरोंका संहार किया, परन्तु उनको पुनः जिलाकर देवोंके साथ स्वर्गमें ला बैठाया।

जो ईश्वरका अनन्य उपासक होता है उसको ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर सर्वत्र, सर्वदा मेरे साथ है। इससे वह बहुत-सी बुराइयोंसे बच जाता है और संसारके कष्टोंको हँसते-खेलते झेलनेमें समर्थ होता है। वह अपने कर्मोंमें ईश्वरार्पण-बुद्धि लाकर उनके संस्कारोंसे अपनेको बचा सकता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र कर्ता न रहकर ईश्वर-चालित निमित्तमात्र हो जाता है।

कभी-कभी जब मनुष्य बहुत आर्त होकर ईश्वरको पुकारता है तो उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी पुकार सुनी गयी। ऐसा भी होता है कि ऐसी दशामें विपत्ति टल जाती है। जब मनुष्य बहुत चिन्तामें पड़ जाता है और चारों ओरसे निराश हो उठता है तो उसकी चित्तवृत्ति

अन्तर्मुख हो जाती है, क्योंकि बाहर तो उसको कहीं कोई आश्रय नहीं मिलता। ऐसी दशामें उस जीव और जीवसमष्टिके बीचके पर्दे थोड़ी देरके लिए हट जाते हैं; बूँद समुद्रमें मिल जाती है। उस समय वह जीवात्मा विराट्के अनन्त शक्ति-भण्डारसे काम ले सकता है और इस प्रकार अपनी विपत्तिपर विजय पा जाता है। चित्तका बोझ हल्का होते ही फिर पार्थक्य ज्योंका त्यों आ जाता है।

(ख) देवोपासक

बहुत-से लोग विभिन्न देव-दवियोंकी उपासना करते हैं। ऐसे लोग चाहे पारमार्थिक दृष्टिसे अपने इष्टदेवको परमात्मा या ब्रह्मसे अभिन्न मानते हों, परन्तु उपास्य-दृष्टिसे उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करके ही उपासना की जाती है। यों तो असंस्कृत बुद्धिवाले प्रेतादिकी भी पूजा करते हैं, परन्तु साधारणतः, जानकर या बेजाने, किसी-न-किसी नामसे आजान देवोंकी ही उपासना होती है। आजान देव वह जीव हैं जो अपने तप और योगाभ्यासके बलसे इतर जीवोंसे ज्ञान और शक्तिमें बहुत बढ़ गये हैं। वह भी शरीरधारी हैं, परन्तु उनके शरीर सूक्ष्म भूतोंसे बने हैं, अतः हमको देख नहीं पड़ते। वह विश्वका संचालन करते हैं और जिस प्रकार बड़ा भाई छोटे भाईको चलना सिखाता है उसी प्रकार दूसरे जीवोंको धर्म और मोक्षके मार्गपर सहारा देते हैं। आजान देव सदा अपने पदोंपर नहीं रहते; एक हटता है, तबतक कोई दूसरा जीव उस योग्यतापर पहुँच चुका होता है।

आजान देवोंका उपासक उनसे ऊपर तो जा ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है कि देवोपासनासे सालोक्य (उस देवके लोककी प्राप्ति, उसके जैसे शरीर और उस शरीरके अनुकूल ज्ञान और भोगको प्राप्त करने), सायुज्य (उस देवकी आयुभर उस लोकमें रहने) और सार्ष्ट्य (उस देवके बराबर शक्तिसम्पन्न होने) की उपलब्धि हो सकती है, पर यह सब मोक्ष नहीं है, न इससे नानात्वमें कमी आती है। देवोपासकका विक्षेप

कुछ कम होता है, उसका चित्त एकाग्र होता है, उसको जगत्के सूक्ष्म स्तरोंकी अनुभूति होती है। परन्तु समाधिकी यह भूमिकाएं सर्वथा नानात्वकी परिधिके भीतर है। आजान देवोंकी उपासनामे भी अनुरक्ति, जप, ध्यान, चक्रोपासना आदिका प्रायः वही स्थान है जो ईश्वरोपासनामे है।

(ग) पौत्तलिक और अपमार्गी

जो लोग किसी प्रकारकी प्रतिमा या अन्य स्थूल वस्तुको उपास्य-सर्वस्व मानते है या ऐसा समझते हैं कि उनका उपास्य एकदेशीय है और उस वस्तु-प्रदेशमात्रमें रहता है वह पौत्तलिक है और जो लोग प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शैतान आदिकी पूजा करते है वह सब अपमार्गगामी हैं। ऐसे लोग सत्यसे बहुत दूर है। नानात्वके निगडबन्धनोसे छूटनेके लिए उनको अभी कई जन्म चाहिये।

५. योगाधिकरण

योगके सम्बन्धमे इस पुस्तकमे कई प्रसङ्गोमे कुछ-न-कुछ लिखा गया है। अब जब कि हमारी जगत्स्वरूप-विषयक समीक्षा समाप्त हो चुकी है, प्रस्तुत अध्यायके प्रकरणमे योगाभ्यासके सम्बन्धमे भी दो शब्द कहना उचित प्रतीत होता है।

योग कोई जादू नही है, यद्यपि सामान्य जनतामे कुछ ऐसा ही भ्रम फैला हुआ है और बहुत-से तथोक्त योगियोने इस भ्रान्तिको दृढ़ करमेमें ज्ञानतः अज्ञानतः पूरा-पूरा हाथ बँटाया है।

नानात्वका प्रसार जगत्का प्रसवक्रम है, योगाभ्यास उसका प्रतिप्रसव-क्रम है। शुद्ध ब्रह्मरूपपर अविद्याके कारण जो पर्दे पड गये है उनको उत्तरोत्तर हटाकर पुनः स्वरूपप्रतिष्ठ होना ही योगीका उद्देश्य है। जब वह अभ्यासमे पहिले प्रवृत्त होता है तो उसका विक्षिप्त चित्त पूर्णतया नानात्वके बीचमे होता है। जब अभ्यास दृढ होता है तो चित्त विक्षिप्तसे एकाग्र होने लगता है। उस अवस्थाका नाम सवितर्क समाधि है। यह

क्रमशः बदलकर निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार अवस्थाओंमे परिणत होती है। निर्विचारके ऊपर आनन्द और अस्मिता समाधियॉ है। इस यात्रामे जो अनुभव जीवको होते है उनका विवरण देना न उचित है और न सम्भव है। अभ्यासके आरम्भमे जो अवस्था रहती है उससे सब लोग परिचित है; अन्तकी अस्मिता समाधिका परिचय कई स्थलोपर दिया जा चुका है। अस्मिता समाधिकी पूर्णताकी अवस्थामे चित्त निरुद्ध हो जाता है, सारे आवरणोका क्षय हो जाता है और जीवात्मा-परमात्मा, दोनो ब्रह्मे लीन हो जाते है। एक अखण्ड, अद्वय, चिन्मय ब्रह्मसत्ता अवशिष्ट रहती है।

समाधिकालीन अनुभवोका विस्तृत विवरण तो नहीं दिया जा सकता फिर भी उनके विषयमे कुछ सङ्केत किये जा सकते है। अभ्यासके किञ्चित् दृढ़ होनेपर नानात्व कम होने लगता है। क्षिति अपमे विलीन हो जाती है और इसी क्रमसे अप तेजमे और तेज वायुमे विलीन होता है। इसके साथ ही क्रमात् गन्ध, रस, रूप और स्पर्श संवित् भी विलीन होते है। आकाश रह जाता है, उसके विलीन होनेपर शब्दका भी लोप हो जाता है। इस प्रकार भौतिक जगत् अहङ्कारमे समा जाता है और उपयोगके अभावमे अहङ्कार मन और इन्द्रियोको अपनेमे खींच लेता है। जब अभ्यास और गम्भीर होता है तो अहङ्कार बुद्धिके गर्भमे पुनः चला जाता है और चित्त बुद्धिमात्र रह जाता है। बुद्धि क्षुब्ध चेतनाका पहिला रूप और अविद्याका अन्तिम दुर्ग है। इसका क्षय जल्दी नही होता। अविद्या और अस्मिता वह दोनो असुरबन्धु है जिन्होने शुम्भ और निशुम्भके नामसे महासरस्वतीसे युद्ध किया था। जैसा कि सप्तशती-कारने लिखा है, दूसरे असुरोके निधनके बाद भी यह दोनो लड़ते रहे। बहुत कठिन युद्ध करके छोटा भाई मारा गया, तब बड़े भाईकी मृत्यु हुई।

हम जगत्को जहॉतक जानते है उसमे जीवोके शरीर स्थूल और क्षेत होते है, परन्तु योगीको ऐसे जीवोका प्रत्यक्ष होता है जिनके शरीर

सूक्ष्म, श्वेत तथा अपमय, तेजोमय और वायुमय हैं। इनसे भी ऊपर वह जीव है जो शुद्ध कारण-शरीरी है, जिनके ऊपर केवल बुद्धि और अहङ्कारका आवरण है। भिन्न प्रकारके शरीरोंके साथ-साथ स्वभावतः ज्ञानादि शक्तियोंमें भी भेद होता है। इसी बातको यों कहा जाता है कि योगी इस भूलोंकसे ऊपर भुवरादि लोकोंमे जाता है। यहॉ ऊपर-नीचेका प्रयोग सूक्ष्मताकी दृष्टिसे किया जाता है, दिशानिर्देशके लिए नहीं। वस्तुतः सब लोक एक-दूसरेमें ओतप्रोत है। ऊपरके लोकोंके निवासी भी जीव है, वह भी कभी मनुष्य रहे है, उनमेसे भी बहुत-से फिर मनुष्य होगे। जीव-जीवमे कोई जातिभेद नहीं है। जो ऊपर है वह अपनें तप, योग और उपासनाके बलसे उठे है। उनका हमारे जीवनपर प्रभाव पड़ता है, हमको उनसे सहायता मिलती है; इसके साथ ही हमारे जीवनका, हमारे सुख-दुःख और पुण्य-पापका, उनके ऊपर भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पडे बिना नही रह सकता।

इस सम्बन्धमे शिक्षित-अशिक्षित, सबमे ही बहुत विवाद रहता है कि देवादिका अस्तित्व है या नहीं। इसका निर्णय तर्कसे होना कठिन है। योगी इस सम्बन्धमे किसी शास्त्र या विद्वान्‌की व्यवस्थाकी अपेक्षा नही करता। वह इन बातोको जानता है, क्योंकि उसको इनका स्वयं प्रत्यक्ष हुआ है।

योगीके लिए नानात्वका जो सङ्कोच होता है वह आत्यन्तिक होता है। समाधिसे उतरनेपर उसको फिर बाह्य जगत्‌की प्रतीति होती है, परन्तु इस प्रतीति और पहिलेकी प्रतीतिमे बड़ा अन्तर है। जिसने छूकर रस्सीको देख लिया है वह उसकी कुण्डलाकृतिसे नहीं डर सकता। जो शरीर बन चुका है वह यावदायु चला जायगा, कर्म भी होगे, परन्तु नये सस्कार नही बनते। जो अभी समाधिकी पूरी भूमिकाओको पार नहीं कर चुका है उसके लिए तो लोकान्तर-प्राप्तिका प्रश्न भी उठता है, परन्तु जो पूर्ण योगी है वह कहॉ जायगा? वह तो देशकालका अतिक्रमण कर चुका है, अविद्याके बाहर निकल चुका है। शरीर छूटते ही वह निर्विकल्प समाधिमें चला जाता है। 'वह चला जाता है' यह कहना भी ठीक

नहीं है, परन्तु भाषाकी शक्ति सीमित है। ब्रह्म था, ब्रह्म है, ब्रह्म रह जाता है।

समाधिका सुषुप्ति और महाप्रलयसे बड़ा अन्तर है। एक तो उन अवस्थाओमे नानात्वका निरसन आत्यन्तिक नही होता; दूसरे, नानात्वके लोपके साथ एकत्वका उदय नही होता। सुषुप्तिमे जीवके उपकरण जवाब दे जाते है। शरीरके शिथिल हो जानेसे नाड़ियोमे प्राण-संचार नही हो पाता, इन्द्रियॉ बेकार हो जाती है, अन्तःकरणको कोई सामग्री नही मिलती। नानात्व विलीन नही होता, अविद्या कम नही होती, नानात्वके ऊपर मोटा पर्दा-सा पड जाता है। इसीसे मिलती-जुलती अवस्था महाप्रलयमे होती है। दोनो अवस्थाओके अन्त होनेपर जीव जहॉ पहिले था वहींसे नया जीवन आरम्भ करता है। योगीका कोई उपकरण साथ नही छोड़ता। जहॉतक इन्द्रियोकी दौड़ है, पूरा काम करती है। भेद यह है कि इस समय वह थोडा काम करती हैं और भोगके लिए, तब बहुत काम करती है और शुद्ध ज्ञानके लिए। इन्द्रियोके अवरुद्ध होनेपर भी योगीका चित्त बराबर काम करता है। विक्षेप बन्द होनेसे वह विषयके अन्तस्तमतक पहुँच जाता है और उसी अवस्थामे शान्त होता है जब उसके जानने योग्य कुछ बच नही रहता। इसलिए योगी समाधिसे उतरनेपर नया ज्ञान और नयी शक्तिसे सम्पन्न होकर आता है।

योगका अभ्यास सदा कल्याणकारी है। जो योगभ्रष्ट होता है अर्थात् इस शरीरमे पूर्णपदतक नही पहुँच पाता वह भी अन्य उपासकोसे अच्छी गति पाता है। भविष्यत् जन्ममे ऐसे ही मनुष्य ऊँचे कलाकार और प्रतिभावान् विचारक तथा सफल साधक होते है। पहिलेकी कमी अब पूरी हो जाती है।

योगकी पुस्तकोमे इस बातका उल्लेख रहता है और जनश्रुति ऐसे उल्लेखका समर्थन करती है कि योगाभ्याससे कई प्रकारकी असाधारण शक्तियॉ जाग जाती है। इनको सिद्धि या विभूति कहते है। अज्ञानबन्धनके ढीले होनेसे, चित्तकी एकाग्रता बढनेसे और इन्द्रियोका शरीरकी

कैदसे छूटनेसे, शक्तियोका प्राप्त होना, यो कहना चाहिये कि खोयी हुई शक्तियोका पुनः मिल जाना, स्वाभाविक है। ऐसा न होना आश्चर्यकी बात होती। योगाभ्याससे सिद्धिका प्राप्त होना अनिवार्य है, परन्तु सिद्धि-पर ध्यान देना अभ्यासकी उन्नतिमे बाधक हो सकता है।

योगाधिकारमे वर्ण, जाति, पाण्डित्य, सम्प्रदाय या स्त्री-पुरुषका भेद नही होता। जिसमे वैराग्य है, जिसका चित्त स्वाध्याय, सत्सङ्ग, ईश्वरो-पासना और लोकसग्रहात्मक कर्मोके अनुष्ठानसे शुद्ध हुआ है, जिसमें अनुत्तर प्रेम और लगन है, जो इस राजविद्यामे श्रद्धा रखता है, उसके लिए इसका द्वार सदा खुला है। बस दो बाते और चाहिये। पहिली बात तप है—तामस तप नही, किन्तु शास्त्रचोदित तप, जो शरीर और चित्तके कषायोको दूर करता है। दूसरी परमावश्यक वस्तु सद्गुरुनिष्ठा है। जो सशयोच्छेदनमे समर्थ नही है उस गुरुसे काम चलना कठिन है, परन्तु जो स्वय ऊँचा अभ्यासी नहीं है वह अन्धा तो जिसकी अँगुली पकड़ेगा उसको अपने साथ डुबा देगा। जो शिष्यसे उपकारका अर्थी नही है और ब्रह्म-निष्ठ है वह गुरु होनेके योग्य है। यदि वह साथमे श्रोत्रिय भी हो तो सोनेमें सुगन्ध मानना चाहिये। ऐसा देशिक भाग्यसे मिलता है। वह ईश्वरवत् पूज्य है। उसकी सेवासे, उसकी तृप्तिसे, निखिलविश्वकी तृप्ति होती है। जो अपनेको उसके हाथमे सौप देगा वह निःसन्देह सद्गतिका भाजन होगा। सद्गुरुका प्रसाद तो अमृत है ही, उसकी झिड़की भी आशीर्वादकी सामर्थ्य रखती है। ब्रह्मविद्याका निष्क्रय नही हो सकता। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्मे कहा है, धनपूर्णा ससागरा वसुन्धरा भी इसके बराबर नही हो सकती।

योगिजन इस विद्याको सदा गुप्त रखते आये है। इसमे उनका कोई स्वार्थ नही है। वह तो निधि लुटानेको तैयार है, परन्तु लेनेवाले नहीं मिलते। कुपात्रके हाथमे जानेसे विद्याका निरादर होता है, वह हतवीर्य हो जाती है और उस व्यक्तिको कोई लाभ नही पहुँचता। यह निश्चय है कि जो दीपक आजतक नही बुझा वह आगे भी जलता रहेगा।

सत्पात्रके लिए कुछ भी गोप्य नहीं है। वह गुरुके हृदयमे प्रवेश करके विद्या खींच लाता है। जो ऐसी योग्यता रखता है वह धन्य है। उसको विद्या सद्यः फलवती होगी। देखते-देखते आँखोके सामनेसे अविद्याकी तमिस्रा हट जायगी और स्वरूपख्यातिका आदित्य उदय होगा।

जिस प्रकार योगाधिकारमे वर्णादिका कोई बन्धन नहीं है उसी प्रकार वयका भी कोई नियम नहीं है। शरीरसे बोझ तो ढोना नहीं है, चित्तको सयत करना है। जिस किसी वयमे वैराग्यादिका उदय हो और सद्गुरुसे भेंट हो, अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है। यदि अपना सवेग पूरा हो तो पूर्ण सफलता भी मिल सकती है। परन्तु जो मनुष्य इस कामको वृद्धावस्थाके लिए टालता है वह भूल करता है। सच तो यह है कि जो आगेको टालनेकी बात सोच सकता है वह पात्र नहीं है। सत्पात्रको तो ऐसी व्याकुलता रहती है कि एक-एक घड़ीका टलना भारी लगता है। इतना और स्मरण रखना चाहिये कि सभी अच्छे कामोके लिए युवावस्था बड़ा अच्छा काल है। उसको खो देना भूल है।

धर्मखण्ड

पहिला अध्याय

धर्म

प्रथम खण्डके पहिले अध्यायकी ओर लौटिये। पुरुषार्थोंका विवेचन करते हुए हमने वहाँ देखा था कि धर्मका पालन करनेसे व्यक्ति और समाजको सुखेन अर्थ और कामकी निर्वृत्ति हो सकती है और जगत्के स्वरूपको यथार्थ पहिचाननेसे धर्मका पालन हो सकता है। जगत्के स्वरूपको पहिचाननेके लिए ही हमको लम्बी दार्शनिक यात्रा करनी पडी थी।

वह यात्रा अब समाप्त हो गयी। जगत् समझ लिया गया और ऐसा मानना चाहिये कि सच्चा जिज्ञासु केवल तर्कके सहारे न बैठा रहा होगा वरन् उसने निदिध्यासनका भी अभ्यास किया होगा। केवल तर्क या शास्त्रमूलक ज्ञान बालूकी भीत है। उसका कोई भरोसा नहीं है।

अस्तु, जिस उद्देश्यसे दर्शनका अध्ययन आरम्भ किया गया था वह पूरा हो गया। अब हमको देखना यह है कि इस अनुशीलनके पिण्डितार्थसे धर्मके विषयमें क्या प्रकाश मिलता है।

१. योगिमर्यादाधिकरण

यह बात तो हमको पहिले समझ लेनी चाहिये कि हम धर्मका कोई भी स्वरूप स्थिर करें और उसके सम्बन्धमें कोई भी नियम स्थापित करें, परन्तु जो ब्रह्मज्ञानी है उसके लिए इन बातोकी योजनीयता नहीं हो सकती। जो द्वैतबुद्धिके ऊपर उठ चुका है उसके लिए अर्थ और कामकी काम्यता नष्ट हो चुकी है; वह यदृच्छालाभमात्रसे सन्तुष्ट रहता है। दूसरी बात यह है कि जिसके लिए मैं-परका भेद मिट चुका है उसके

लिए ऋण और परिशोधका प्रश्न नही उठता। उसके लिए कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निपेधका कोई वन्धन नही हो सकता। धर्म-सम्बन्धी शास्त्रीय विचार उस व्यक्तिके लिए भी बेकार है जो पूर्ण योगीश्वर न होता हुआ भी ऊँची कोटिका अभ्यासी है।

इस कथनका तात्पर्य यह नही है कि आत्मज्ञानी और योगीका आचरण ऐसा होता है जिसको उच्छृङ्खल कहा जा सके। बात इतनी है कि वह किसी कामको इसलिए नही करते कि वह धर्म या सदाचार माना जाता है : वह जो कुछ करते है वही धर्म और सदाचार है। वह अपनी निर्बाध दृष्टिसे कर्मके परिणामको समझ सकते है और यह जान सकते है कि लोगोका कल्याण वस्तुतः किस बातमे है। साधारण मनुष्यकी बुद्धि इतनी दूर नहीं जाती, वह आगेकी बात बहुत कम सोच सकता है और फिर लोकाचारका परित्याग करना उसके लिए कठिन होता है। इसलिए वह कभी-कभी महापुरुषोके आचरणको सशङ्क दृष्टिसे देखता है।

योगिजन जानते है कि सामान्य मनुष्य उनके ज्ञानतक पहुँचनेमे असमर्थ होता हुआ भी उनके आचरणका अनुकरण कर सकता है। यह अनुकरण उसके लिए हानिकर हो सकता है। इसलिए वह लोग स्वयं अपने ऊपर बन्धन लगाते है और उस प्रकार रहते है जिसको कि वह देशकालका ध्यान रखते हुए लोकहितकर समझते है। उनके लिए कोई मर्यादा नहीं है, परन्तु वह अपनेको मर्यादाके भीतर रखते है ताकि मर्यादा उच्छिन्न न हो जाय। परिवर्तनशील जगत्‌मे धर्मकी सदा एक ही मर्यादा नही रह सकती। धर्मसाक्षात्कर्ता योगी इस बातको जानते है और समय-समयपर नयी मर्यादा स्थापित करते है। वह जिसको धर्म कहते है वही धर्म है। योगी शास्त्रके पन्ने नही पलटता : शास्त्र योगीके वचनकी निरुक्ति करता है।

लोकानुग्रहके भावसे योगिजन अपनेको कर्मक्षेत्रमे लाते है और जो बन्धन लोकके लिए श्रेयस्कर समझते है उनको अपने लिए भी अङ्गीकार करते है। पुरानी मर्यादाको तोड़ना कभी-कभी आवश्यक होता है, परन्तु

उसकी जगह नयी मर्यादाका स्थापित करना सबका काम नही है। यदि यह काम स्वार्थ-प्रेरित लौकिक बुद्धिको ही करना पड़ा तो बड़े अनर्थकी सम्भावना हो सकती है।

२. धर्मस्वरूपाधिकरण

कर्तव्यको पहिचानना और उसका पालन करना धर्म है, परन्तु कर्तव्यको पहिचानना बहुत कठिन है और उसका पालन करना और भी कठिन है। इस सम्बन्धमे एक और प्रश्न उठता है : मान लिया जाय कि मै कर्तव्यको पहिचानता हूँ और उसको पालन करनेकी सामर्थ्य भी रखता हूँ, परन्तु कर्तव्यकी ओर क्यो ध्यान दूँ, उसका क्यो पालन करूँ ? कर्तव्यका पालन करना सदाचार कहलाता है, इसलिए इस प्रश्नका रूप यह हुआ कि मै क्यो सदाचारी बनूँ ? साधारणतः यह बात ठीक है कि मनुष्यके अर्थ और कामकी सिद्धि समाजमे रहकर ही ठीक-ठीक हो सकती है और सामाजिक जीवन तभी चल सकता है जब लोग सदाचारी हो। दुराचारीको अपने दुराचारसे जो थोड़ा-बहुत लाभ पहुँचता है वह भी इसीलिए कि अधिकाश मनुष्य सदाचारी है। यदि सब झूठ बोलने लगे, सब चोरी करने लगे, सब परदारगामी बन जायँ तो समाज उत्सन्न हो जायगा और सब लोग अर्थ और काम खो बैठेगे। यह सब ठीक है, परन्तु यह बाते साधारण मनुष्योके लिए ही लागू हो सकती है। यदि मै बलवान् सम्राट् या अधिनायक हूँ और अपनी तलवारके बलपर जो चाहूँ ले सकता हूँ तो फिर मेरे अर्थ और कामके लिए सदाचारकी क्या अपेक्षा होगी ? लोकमत रुष्ट होकर मेरी कोई क्षति नही कर सकता। अतः यह विचारणीय है कि सदाचारका आधार अर्थ और कामकी प्राप्तिका उसपर अवलम्बित होना ही है या कुछ और।

सदाचारकी निरुक्ति दो प्रकार हो सकती है : अच्छा आचार और अच्छे लोगोका आचार। पर अच्छे लोगोकी यही तो परख है कि उनका आचरण अच्छा होता है। जो अच्छा आचरण करता है वह अच्छा है।

इसलिए उभयतः सदाचारका अर्थ अच्छा आचार ही होता है। जैसा आचरण होना चाहिये यदि वैसा होता है तो हम अच्छा शब्दका प्रयोग करते है। अतः सदाचार वह आचार है जो करणीय है। कर्तव्यका भी यही अर्थ है।

आचारशास्त्रपर बहुत-सी विद्वत्तापूर्ण पुस्तके लिखी गयी हैं। इनमे कर्तव्यके स्वरूपके विषयमे विभिन्न मतोका प्रतिपादन किया गया है। नयभेदसे सभी मतोमे कुछ-न-कुछ तथ्य है और व्यवहारमे उन सबसे ही थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। परन्तु सबमे कहीं-न-कहीं अड़चन पड़ती है और यह अड़चन उसी अवसरपर पड़ती है जब हमको प्रकाशकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।[१] साधारणतः हमको यह सोचनेकी आवश्यकता ही नही पड़ती कि इस समय क्या करना चाहिये। लोकाचार मार्ग दिखला देता है। शिक्षा और संस्कृति बुद्धिको ऐसे साँचेमे ढाल चुकी होती हैं कि उसको परिस्थितिविशेषमे एक ही काम ठीक जॅचता है। उसीके लिए अन्तःप्रेरणा होती है। अन्तःप्रेरणाका वही स्वरूप है जो कर्तव्य शब्दके 'तव्य' प्रत्ययसे व्यक्त होता है। उसमे यह भाव नही होता कि लोग ऐसा करते हैं, यह भाव भी नही होता कि ऐसा करनेसे अमुक-अमुक लाभ होगा। उसका तो रूप होता है करना चाहिये, वरन् यह कहना ठीक होगा कि उसका रूप होता है 'करो'। कोई तर्क नही, हेतु नही, बस जैसे भीतरसे कोई अंकुश लग रहा हो कि इस मार्गपर चलो। कोई इसको ईश्वरकी प्रेरणा कह सकता है, परन्तु ईश्वरको बीचमे खीचना अनुचित है। सबको कर्तव्यकी एक-सी प्रतीति नही होती। ईश्वर सबके लिए एक ही प्रेरणा करता नही प्रतीत होता। देखनेसे विदित होता है कि अन्तःप्रेरणाका भेद कुछ तो उस शिक्षापर जो व्यक्तिने पायी है और उस संस्कृतिपर जिसमे वह पला

१. इन विभिन्न मतोका विवेचन मैंने 'जीवन और दर्शन'मे किया है। उसको संक्षिप्त करके परिशिष्टमें दे दिया गया है।

है, निर्भर करता है और कुछ उसके अपने स्वभाव, उसके सहज गुण, उसके व्यक्तित्वपर ।

जैसा कि मैंने अभी कहा है, कर्तव्यबुद्धिका शुद्ध रूप तो है 'करो'। पीछेसे बैठकर विचार करनेसे इस भीतरी आज्ञाके पक्षमे बहुत-से हेतु ढूँढ़ लिये जाते है, परन्तु जिस समय कर्तव्यबुद्धिका उदय होता है उस समय यह हेतु उपस्थित नही होते। कर्तव्यबुद्धिका उदय होना और कामका किया जाना युगपत्प्राय होते है। किसीको डूबते देखकर पानीमे कूद पड़ने या आगमे जलते देखकर आगमे फॉद पड़नेमे तर्क नही किया जाता। जिसको कर्तव्यबुद्धि स्फुरित होती है वह काम कर डालता है, जिसको नही होती वह तर्क करता रह जाता है। वह भी दयालु और सज्जन होगा, साधारण व्यवहारमे लोग उसको सच्चा, ईमानदार, कृपालु पाते होगे, परन्तु उसकी कर्तव्यबुद्धि उस समय दुर्बल थी।

यह तो ऐसे कामोके उदाहरण थे जो सद्यःकार्य है। कुछ ऐसे काम होते है, जो कालसाध्य होते है, देरमे पूरे होते है। उनके विषयमे भी यही बात लागू है। परिस्थिति समझनेमे देर लग सकती है, परन्तु उसको समझ लेनेपर कर्तव्यबुद्धि, अन्तःप्रेरणा, तत्काल उदय होती है। यह दूसरी बात है कि समय मिल जानेसे हम उसको बहुत-से हेतुओसे भी पुष्टि कर लेते है।

करणीय कामोका यही बाह्य लिङ्ग है कि उनकी नोदक जो अन्तः-प्रेरणा होती है वह अहैतुक होती है और उसमे पर्याय—यह या वह—के लिए स्थान नहीं होता। परन्तु केवल इस लिङ्गके होनेसे काम वस्तुतः सत्, अच्छा, सदाचार नही हो जाता। ऐसी अन्तःप्रेरणा पागलको भी होती रहती है। इसके आवेशमे लोग हत्यातक कर डालते है।

करणीय कामोका, धर्मका, एक और लिङ्ग है जो अतिव्याप्ति दोषसे मुक्त है। उसको एक शब्दमे तादात्म्य कह सकते है। तादात्म्यका स्थूल अर्थ यह है कि कर्ता कर्म-पात्रसे अभिन्न हो जाता है। यह अर्थ ठीक है, परन्तु इस प्रसङ्गमे अपूर्ण है, इसीलिए स्थूल कहा गया है। पति-पत्नीके

प्रेममें भी तादात्म्य हो सकता है; माता अपनी सन्तानके साथ तादात्म्यका अनुभव करती है। परन्तु इन उदाहरणोमे जहाँ एकके साथ तादात्म्य होता है वहाँ औरोके साथ अनात्म्यका भी साथ-साथ व्यक्त या अव्यक्त रूपसे अनुभव होता है। 'यह मेरा, मेरा ही है', 'मै इसकी, इसकी ही हूँ', 'दूसरा कोई हम दोनोके बीचमे नही आ सकता',—इस तादात्म्यका यह रूप होता है। अपने मै-का इतना विस्तार हो जाता है कि वह दूसरा व्यक्ति उसमे सन्निविष्ट हो जाता है और फिर यह विस्तृत मै समूचे जगत्का सामना करनेको खड़ा हो जाता है। अपने और परायेका पार्थक्य बना रहता है। इस तादात्म्यकी जड़मे भोक्तृभोग्य भाव है। कर्मपात्रसे अपनी किसी वासनाकी तृप्ति होती है, उससे अपनी कोई अव्यक्त भूख मिटती है, कोई रिक्त स्थान भर-सा जाता है।

परन्तु एक तादात्म्य इससे ऊँचा होता है। उसमे एकसे तादात्म्य होता है, पर किसी दूसरेसे अनात्म्य नही होता। अपने-परायेका भेद मिट जाता है और अपना मै कर्मपात्रके मै-मे सन्निविष्ट हो जाता है। किसी-को बचानेके लिए जलते घरमे कूदनेवाला अपनेको भूल जाता है, उसके लिए उस समय केवल वह आपन्न प्राणी है। वहाँ भोगका कोई प्रश्न नहीं उठता, 'यह मेरा, मै इसका' भाव नही होता, 'मै इसको बचाऊँ' या 'इसको बचाना चाहिये'—यह बात सोची नहीं जाती। उसकी वेदना अपनी वेदना हो जाती है। जो आगसे स्वयं घिर जाता है वह अपना बचाव सङ्कल्प या तर्कपूर्वक नहीं किया करता; ठीक इसी प्रकार वह मनुष्य जिसमे कर्तव्यबुद्धि उदित होती है, दूसरेको बचानेके लिए प्रतिज्ञा या तर्क नहीं करता। उस क्षणमे उसके लिए 'मै और उस'के बीचकी दीवार गिर जाती है।

सत्कर्म, सदाचार, धर्म, का यही लक्षण है कि उसमे क्षणभरके लिए देह और वासनाके वह पर्दे जो एक जीवको दूसरे जीवसे पृथक् किये हुए है उठ जाते है, नानात्वका प्रायः लोप हो जाता है, अभेदका साक्षात्कार होता है। वह क्षणिक समाधि है। जो ऐसा कर्म करता है वह

सत्पुरुष, सदाचारी, धर्मात्मा है। अन्यत्र, सदाचार और सदाचारी, धर्म और धर्मात्मा शब्दोका प्रयोग औपचारिक है।

अविद्याकृत नानात्वके दूर होनेसे, अपने स्वरूपमे स्थित होते जानेसे योगीको जो अपूर्व आनन्द-रूपा अनुभूति समाधिमे होती है, उसीका अनुभव सत्पुरुषको उस क्षणमे होता है जब वह धर्ममे लगा होता है। परन्तु ऐसा अनुभव बहुत देरतक नही रह सकता इसलिए फिर नानात्व ज्योंका त्यो फैल जाता है, वही मै-परका भेद पूर्ववत् स्थापित हो जाता है। इसीलिए कर्मसे मोक्ष, अविद्याका आत्यन्तिक नाश, नही हो सकता।

जो मनुष्य अविद्याके पार पहुँच चुका है, जिसके लिए नानात्वका क्षय हो चुका है, उसकी अवस्थाको कर्मकी दृष्टिसे धर्ममेघ कहते है। बादल सङ्कल्प करके या परिणामोका विचार करके नही बरसा करता, बरसना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य जो कुछ करता है वह अनायास ही धर्म होता है। उसके आचरणमे सत्य, अहिसा, अस्तेय, दया, सहिष्णुता, प्रसाद आदि देखकर आश्चर्य करनेका स्थल नही है। और हो भी क्या सकता है? जो भोग-वासनाको जीत चुका है और एकत्वानुभूतिमे निष्णात है वह किससे झूठ बोले? किसका उत्पीडन करे? किसकी सम्पत्तिका अपहरण करे? किस बातका शोक करे? ईसाने सदाचारका लक्षण यह बताया था कि दूसरेके साथ अपने जैसा व्यवहार किया जाय। यह लक्षण तबतक अपूर्ण है जबतक यह न जान लिया जाय कि अपने और परायेका भेद कल्पित है, वह दूसरा व्यक्ति भी तुम ही हो, 'दूसरेके साथ अपने जैसा व्यवहार करो'का अर्थ है 'अपने साथ अपने जैसा व्यवहार करो'।

धर्म इस दृष्टिसे सार्वभौम है कि जो काम अभेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाला है वह सदा, सर्वत्र और सबके लिए करणीय है। यदि वह केवल भोगका साधक होता तो सार्वभौम न होता। वास्तविक बात यह है कि धर्म सह-अनुभूतिके द्वारा जीवको अपने स्वरूपकी एक झलक दिखला देता

है। अपने स्वरूपमे स्थित होना सबको अभीष्ट होना चाहिये, परन्तु यदि किसीकी बुद्धि इस बातको स्वीकार नहीं करती तो वह मनुष्य धर्मकी सार्वभौमता स्वीकार नहीं कर सकता। धर्म उसको पागलपन प्रतीत होगा, क्योकि भेददर्शन ही उसके जीवनकी कुञ्जी है।

२. धर्माभ्यासाधिकरण

पिछले अधिकरणमे धर्मकी तात्त्विक मीमासा की गयी है, परन्तु व्यवहारमे उस मीमासाका उपयोग किस प्रकार किया जाय ? हमको अभेददर्शनका अवसर देनेके लिए न तो लोग पानीमे डूबते रहेगे, न आगमे जलते रहेगे; यह भी सम्भव है कि यदि ऐसा अवसर आ भी गया तो हमारे भीतर कर्तव्यबुद्धि उदित न हो और हम खड़े-खड़े मौखिक सम-वेदना दिखलाते रह जायँ।

जलने-डूबनेवाले नित्य नही मिलते, परन्तु दैन्य, दुःख, दौर्बल्य, अज्ञानके उदाहरण नित्य मिलते है। कितना भी उन्नत समाज हो, उसको अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। इस काममे सबके लिए स्थान है। सबकी शक्ति और योग्यता एक-सी नही होती। कोई एक ही रोगीकी सेवा कर सकता है, कोई एक ही अशिक्षितको पढ़ा सकता है, कोई देशका शासन कर सकता है, कोई पुस्तक लिख सकता है, कोई प्रवचन द्वारा लोगोकी बुद्धिका सस्कार कर सकता है। समाजको इन सब लोगोकी आवश्यकता है। इनमेसे प्रत्येक काम समाजके जीवनको पुष्ट और सुखमय बनाता है। इस प्रकारके कामोको लोकसग्रह कहते है। शुद्धभावसे किया गया लोकसग्रह व्यावहारिक धर्म है।

पूर्णतया शुद्ध तो अभेद-भाव है परन्तु यह सुकर नहीं है, फिर भी अपने कामोमे जितना ही अभेद-भाव लाया जा सकेगा उतना ही काम धर्म कहलानेके योग्य होगा। जो धर्मका आचरण करना चाहता है उसको अपने विषयमे सतर्क रहना चाहिये। बराबर इस बातपर दृष्टि रहनी चाहिये कि अपने स्वार्थ, अपने लाभका विचार न आने पाये।

अपनी बुद्धि जितनी ही निष्काम बनायी जा सकेगी उतना ही धर्मका आचरण हो सकेगा। कर्मका पात्र जितना ही विशाल होता है, बुद्धिमे उतनी ही निष्कामता लायी जा सकती है। एककी अपेक्षा कुटुम्ब, कुटुम्बकी अपेक्षा वर्ग, वर्गकी अपेक्षा राष्ट्र, राष्ट्रकी अपेक्षा मानव-समाज, मानव-समाजकी अपेक्षा विराट् अर्थात् प्राणिमात्रकी समष्टि, विशाल है। इनमेसे किसी भी उत्तरवर्तीकी सेवाको अपना लक्ष्य बनानेसे पूर्ववर्तियोकी अपेक्षा बुद्धि निर्मल, निःस्वार्थ, निष्काम होती है। सेवा छोटेकी भी होगी परन्तु बड़ेकी सेवाके साधनके रूपमे।

निष्काम कर्म भोगके लिए नही किया जाता इसलिए वह सुख-दुःखसे परे होता है। नैष्काम्य पूरा अभेददर्शन न हो तब भी उसके निकट है, इसलिए निष्काम कर्मके करनेमे एक अपूर्व उल्लास रहता है, जिसको असफलता अभिभूत नही कर सकती। भोगमूलक न होनेसे निष्काम कर्म चित्तपर कुसस्कार नहीं छोड़ता।

यह तो कर्ताका भाव हुआ। अब प्रश्न यह है कि वह कौन-से कर्म करे? ऐसे कर्मोकी तालिका यहाँ नहीं दी जा सकती, किन्तु एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट किया सकता है जिससे धर्मचिकीर्षुको बराबर सहायता मिल सकती है।

जब कभी कर्मके सम्बन्धमे विचिकित्सा हो तो दो बाते करनी चाहिये। एक तो यह देखना चाहिये कि अपना चित्त निष्काम है, उस समस्यापर राग या द्वेषकलित बुद्धिसे विचार नहीं किया जा रहा है। दूसरी बात यह सोचनेकी है कि जितने पर्याय समझमे आते है उनमे कौन-सा अभेद-भावको पुष्ट करनेवाला है। जो काम सौहार्द, एकताको बढानेवाला है वह करणीय है।

जिन बातोसे लोगोकी बुद्धि अपने-अपने स्वार्थ अर्थात् अपने-अपने अर्थ और कामपर केन्द्रीभूत होती है, जो बाते लोगोकी बुद्धिको खीचकर अपने-अपने सुखोपर लाकर जमा देती है, जो बाते जीव-जीवके पार्थक्यको प्रोत्साहित करती है, वह ऐक्यवर्द्धक नहीं हो सकती। उनके आधारपर

यदि कुछ एकता आ भी जायगी तो वह थोडी देरतक टिकेगी और समुदायविशेषतक सीमित होगी। उसकी पृष्ठभूमिमे बहुत बड़ा दौहार्द होगा और उसका परिणाम भी कलह और प्रतिहिंसारूपी होगा।

साधारण मनुष्य यह बात नहीं कह सकता कि कर्तव्यका निर्णय करनेमे उससे भूल न होगी। पहिले तो चित्तको पूर्णतया निष्पक्ष, निष्काम बनाना बहुत कठिन है, फिर जहाँ दो पर्याय तुल्यबलवाले प्रतीत होते है, दो अच्छे भावोमे टक्कर होती है, वहाँ यह निश्चय करना बहुत कठिन होता है कि इनमे कौन-सा ऐक्यमूलक, पार्थक्यतनूकर, है। तात्कालिक परिणामका तो चाहे कुछ ऊहन हो भी जाय, परन्तु दीर्घकालकी बातका अनुमान बैठाना दुष्कर होता है। तीसरी बात यह है कि कोई अपनी बुद्धि और ज्ञानके ऊपर नहीं उठ सकता। शिक्षा और अनुभवसे बुद्धिकी सहज प्रतिभा चमक उठती है, परन्तु सबकी बुद्धि किसी उपायसे एक-सी नहीं बनायी जा सकती। जिसकी बुद्धि जितनी ही परिष्कृत होगी वह उतनी ही सफलता कर्तव्यनिर्णयमे पा सकेगा। भूल और तज्जनित दुष्परिणामोके लिए तैयार रहना चाहिये, पर ऐसी सतर्कताके बाद की गयी भूल बहुत हानि नही कर सकती। कर्ताको कोई दुराग्रह नहीं होता इसलिए वह भूलको स्वीकार करने और सुधारनेके लिए सदा प्रस्तुत रहेगा।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार किये गये काममे कटुता नहीं होती। जो कर्मका पात्र होता है वह उस कर्मको भले ही पसन्द न करे, उसका विरोध करे, उसके कारण दुखी हो, पर वह भी कर्ताके सद्भावको माननेके लिए विवश होगा; विरोध करेगा, परन्तु नतमस्तक, लज्जित, होकर; उसके चित्तपर भी द्वेषके सस्कार अंकित न होगे। डाक्टर नश्तर चलाता है, इससे रोगीको पीड़ा होती है; डाक्टरसे भूल हो सकती है और इस भूलके फलस्वरूप रोगीका अङ्गच्छेद हो सकता है फिर भी किसीको डाक्टरके सद्भावपर शङ्का नहीं होती। सब जानते है कि उसको नश्तर चलानेमे नहीं वरन् रोगीको स्वस्थ करनेमे सुख मिलता है।

चित्तको निष्काम, बुद्धिको परिष्कृत, बनाना भी यत्नसाध्य है। पूर्ण निष्कामता तो उसको ही हो सकती है जो पूर्ण योगी है। उसकी ही बुद्धि पूर्णतया परिष्कृत होगी। परन्तु जो उस पदवीको प्राप्त नहीं है, कर्म उसको भी करना है। अपना आचरण धर्मानुकूल हो इसके लिए उसको विरति और तपका अभ्यास करना चाहिये। शरीर आज है कल न रहेगा, इसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि सब अभीष्ट इसीसे सिद्ध होते हैं, परन्तु सुखोंके पीछे दौड़ना भूल है। भोग चिरस्थायी नहीं होता और जहाँतक अपने भोगके लिए यत्न किया जाता है वहाँतक अपने और दूसरोंके बीचकी दीवार मोटी की जाती है। जहाँतक वासनाका संवरण किया जाता है वहाँतक यह दीवार पतली पड़ती है। भोक्ता अधिक है, भोग्य कम है इसलिए स्पर्धा और संघर्ष होता है। चित्तको विषयोंसे हटाना विरति है और जीवन-निर्वाहकी जो पद्धति इस काममें सहायता दे वह तप है। जो मनुष्य मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षामें रत रहेगा, जो अपने स्वको बराबर बड़े स्वके साथ मिलानेका प्रयत्न करता रहेगा, समाजके दुःखकी निवृत्ति और उसके सुखकी निर्वृत्तिमें यतमान रहेगा, उसको नैष्काम्य और चित्तप्रसादकी प्राप्ति होगी और वह उस योगमार्गका अधिकारी बन सकेगा, जिसपर चलनेसे बुद्धिका परिष्कार होता है।

४. यज्ञाधिकरण

पुस्तकके पहिले अध्यायमें हमने देखा था कि जिस समाजके हम अङ्ग हैं उसमें जितने भी प्राणी हैं उन सबका हमारे ऊपर कुछ ऋण है और यदि हम इस ऋणको नहीं चुकाते तो कृतघ्नताके दोषी होते हैं। इस ऋणको चुकानेका दूसरा नाम कर्तव्यका पालन करना, धर्मका आचरण करना है।

हमारा समाज विशाल है। विराट् पुरुष वह अवयवी है जिसके हम सब अङ्ग हैं। ऐसा मानना भूल है कि हमारा सम्बन्ध केवल अपने कुटुम्ब या वर्ग या राष्ट्र या मनुष्यमात्रसे है। हमारे बहुत-से सम्बन्धी हैं

जो इस समय मनुष्य नहीं हैं। एक ओर वह प्राणी है जिनकी बुद्धि हमसे कम विकसित है, यहाँतक कि उनमेंसे बहुतोंको चेतन माननेमें भी हमको सङ्कोच होता है। पशु, पक्षी, मत्स्य, कीट, कृमि, जीवाणु, वनस्पति, ओषधि, यह सब भी इसी जगत्में हैं। तत्त्वतः इनमें और हममें कोई अन्तर नहीं है। इनमेंसे कुछका उपकार तो इतना बड़ा है कि हम उसको अस्वीकार कर ही नहीं सकते, कुछ ऐसे हैं जिनसे हमको क्षति पहुँचती प्रतीत होती है, शेषके विषयमें हमको अभी हानि-लाभका ज्ञान नहीं है। जहाँ जगत्में यह अविकसित प्राणी है वहाँ दूसरी ओर वह उत्कृष्ट जीव हैं जिनका हमको साधारणतः साक्षात्कार नहीं होता। योगी जानता है कि देवगण हैं और हमारी निरन्तर सहायता करते रहते हैं। इन सक्रिय जीवात्माओंके अतिरिक्त हमारे ऊपर अपने पूर्ववर्तियोंका भी बहुत बड़ा ऋण है। इन सब ऋणोंको चुकाना धर्म है। जो ऋणशोधका यत्न नहीं करता वह अधर्मी है।

आज जब हम दर्शन और विज्ञान, धर्म और कला, का चर्चा करते हैं तो उन लोगोंको भूल जाते हैं जिनके हम दायाद हैं। जिस संस्कृतिके बलपर हम अपने जीवनको उन्नत मानते हैं उसकी नींव जिन लोगोंने डाली थी उनमेंसे बहुतोंके नामतक विस्मृत हो गये हैं। जिनके नाम चले भी आते हैं वह हमको अपने नहीं प्रतीत होते। ऐसा नहीं लगता कि भृगु, अङ्गिरा, अथर्व, वशिष्ठ, विश्वामित्र, मनु हमारे कोई थे। हमको अपनी सभ्यतापर गर्व है, परन्तु यदि आजसे सहस्रों वर्ष पहिलेसे राजपुरुष, योद्धा, साधु और विद्वान् परिश्रम न करते रहते तो यह सभ्यता कहाँ होती? पुरूरवा, मान्धाता, रघु, ऋषभ, भरत, हरिश्चन्द्र, भोज, विक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, पाण्डवबन्धु, कर्ण, भीष्म, अशोक, समुद्रगुप्त, सीता, सावित्री, कणाद, गोतम, कपिल, जैमिनि, शङ्कराचार्य, व्यास, वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, बुद्ध, महावीर, चरक, पतञ्जलि, पाणिनि, बृहस्पति, कौटिल्य, भास्कर—किस-किसका नाम लें। और फिर तुलसी, सूर, कबीर, नानक, मीरा, रामदास, तुकाराम, चैतन्य, रामकृष्ण, प्रताप, शिवाजी,

गान्धी—क्या हम इनको कभी भूल सकते हैं ? यह सूची सर्वग्राही नहीं
है। इनको और इन जैसी दूसरी महान् आत्माओंको भूलना कृतघ्नता है।
यह भारतीय नाम है। इतने प्राचीन नाम चाहे न मिलें, किन्तु दूसरे
देशोंमे भी ऐसे प्रातःस्मरणीय मनुष्य हो गये है। यह लोग चाहे जिस
देशमे रहे हों, मनुष्यमात्रके लिए वन्दनीय है। आज हम विश्वसस्कृति
और विश्वसभ्यताकी ओर बढ़ रहे है। इसलिए ऐसे सभी महापुरुषोका
ऋण स्वीकार करना चाहिये। इस ऋणका परिशोध इतना ही है कि
जो दीपक उन लोगोने जलाया था, वह बुझने न पाये। उन्होने मनुष्यको
पशुओसे ऊपर उठाया, ऐसा न हो कि हम उसे फिर पशुओमे गिरा दे।
हमारा कर्तव्य है कि मनुष्योमे भ्रातृभाव, ऐक्य, सस्कृति और सभ्यताका
विस्तार करे।

हमारे ऊपर पितृऋण भी है। हमारे पितरोंने स्वय कष्ट सहकर
हमको सुखी बनानेका यत्न किया। हम इस ऋणके बोझसे यो ही हल्के
हो सकते हैं कि अपनी सन्तानको शक्यभर शिक्षित, सस्कृत, सुखी बनने-
का अवसर दे। माता-पिता होना बहुत बड़ा दायित्व है। जाने
कितने शरीरोमे घूमता हुआ कोई जीव हमारे घरमे जन्म लेता है।
उसके इस जन्म और आगेके जन्मोपर हमारे व्यवहारकी छाप पड़ेगी।
बच्चे विनोदकी सामग्री नहीं है। जो गृहस्थ अपने कुलमे श्रेष्ठ
पुरुष और श्रेष्ठ स्त्री उत्पन्न करता है वह पितरोके ऋणसे मुक्त होता है।

दया और सौहार्द केवल मनुष्योतक सीमित रखनेके गुण नहीं हैं।
छोटे प्राणी हमारे सामने ठहर नहीं सकते, इसलिए उनके प्रति हमारा
दायित्व और बढ़ जाता है। हमारे शरीरोकी बनावट ऐसी है कि दूसरे
जीवोको कुछ-न-कुछ क्षति पहुँचाये बिना काम नहीं चलता। जीव जीवका
अन्न है, पर यह अटल सिद्धान्त स्वेच्छाचारकी अनुमति नहीं देता।
तिर्यक् शरीरियोंसे हम उतना ही ले सकते है जितना हमारी शरीर-यात्राके
लिए अनिवार्यतया आवश्यक हो। न तो साधारण अवस्थामे आमिष
भोजन क्षम्य हो सकता है, न मनोरञ्जनके लिए पशु-संहार मानवोचित कर्म

है। हम और कुछ नहीं तो इतना तो कर ही सकते हैं कि जिन प्राणियोसे हमारी प्रत्यक्ष हानि नहीं होती उनकी स्वच्छन्दतामे बाधा न डाले।

हमारे लिए सबसे बड़ा कर्मक्षेत्र मनुष्योके बीचमे है। इस क्षेत्रके अस्तित्वको कोई अस्वीकार नही कर सकता। सब मनुष्य एक-दूसरेके साथ बँधे हुए है। लोग अपने-अपने पृथक् हितोका राग भले ही अलापें, परन्तु सच बात यह है कि सबका सुख-दुःख एक साथ है। एक देशका दुर्भिक्ष, यादवीय या सक्रामक रोग दूसरे देशोको हिला देता है। एक देशमे प्रवर्तित विचार विपुवत्रेखाकी भाँति सारी पृथिवीको लपेट लेता है। ऐसी दशामे सबका सबपर ऋण है। इस बातको न समझनेसे ही कलह और युद्धके लिए छिद्र मिलता है।

व्यक्तिपर जो दूसरोका देना है उसका कुछ अश तो राज और समाज उससे बलात् वसूल कर लेते हैं, किन्तु यह अश कुलका बहुत छोटा अश है। हठात् किये जानेसे इसको सदाचार कहते भी नहीं। सदाचार वही आचरण हो सकता है जो स्वेच्छासे किया जाय। जो काम कर्तव्य-बुद्धिसे किया जायगा, वही सदाचार, वही धर्म होगा।

धर्मके तात्त्विक और व्यावहारिक स्वरूपके विपयमे हम इसके पहिलेके दो अधिकरणोमे विचार कर आये है। जो मनुष्य धर्मका प्रेमी है, जो कर्तव्यका पालन करना चाहता है, उसको अपने जीवनको यज्ञानुष्ठान बनाना होगा।

यज्ञके तीन मुख्य अङ्ग होते है। उनमे पहिला अग व्रत है। यजमानको यह सङ्कल्प करना होता है कि मै यजनकालमे सत्यका पालन करूँगा। जीवनका महायज्ञ यावदायु चलता है इसलिए सत्यका पूरा, सदाके लिए, सङ्कल्प करना होगा। दम्भ, कपट, छद्माचार, अनृजुता—यह सब असत्यके रूप है। इनका परित्याग होना चाहिये। जो सत्यसे विमुख है उसकी उपासना, उसका तप, सब निष्फल है। दूसरा व्रत अहिंसा है। अहिसाका अर्थ शस्त्र न उठाना नहीं है। शस्त्र बिना उठाये भी हिसा की जा सकती है और शस्त्र चलाकर भी अहिसा सुरक्षित रह

सकती है। अहिंसाका अर्थ है अद्वेष—किसीका बुरा न चाहना। दुर्गा-सप्तशतीमें देवगणने देवीकी यह प्रशंसा की है कि आपमे 'चित्ते कृपा, समरनिष्ठुरता' दोनो साथ-साथ है। आप आततायियोसे जगत्‌के कल्याणके लिए लड़ती है, पर इसके साथ ही यह चाहती है कि इनका कल्याण हो। भगवद्गीतामे श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही कहा था कि यो भी अपने सम्बन्धियोको मरते-कटते देखकर तुम लड़ोगे, परन्तु वह उत्तम भाव नही है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य भी उत्पीडकोका दमन करता है, परन्तु क्रोधके आवेशमे नही, उनका अहित करनेके लिए नही, प्रत्युत कर्तव्य-बुद्धिसे, उस जगत्‌के हितके लिए जिसमे वह दुराचारी भी है।

अहिंसा नञात्मक है। कोरी अहिंसासे अकर्मण्यता आ सकती है। इसलिए सत्य और अहिंसाके साथ तीसरा व्रत दयाका होना चाहिये। समवेदना इसीका दूसरा नाम है। दयासे ही धृति और सहिष्णुता मिलती है। कर्तव्यपालन करना कभी-कभी बड़ा कड़वा प्याला पीना होता है। दया उस प्यालेको सह्य बना देती है। बच्चा अपना हित नही जानता। वह औषध पिलाते समय कभी-कभी मातापर लात चला देता है, दाँत काट लेता है, पर वह उसकी अज्ञताको हँसकर सह लेती है।

यज्ञका दूसरा अङ्ग आहुति है। देवताके उद्देश्यसे जो अग्निमे डाला जाय उसे आहुति कहते है। कर्तव्य-यज्ञमे मानव-समाज देवता है और सेवा आहुति है। अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार जो कुछ सेवा बन पड़े वह समाजको अर्पित करनी चाहिये। सेवा शब्दपर भी ध्यान देना चाहिये। लोकसग्रहमे लगे हुए मनुष्यमे यदि यह भाव आया कि मै लोगोपर अमुक प्रकार उपकार कर रहा हूँ तो उसका यज्ञ विध्वस्त हो जाता है। भाव यह होना चाहिये कि यह उन लोगोकी, जिनके निःसीम उपकारोके बोझसे मै आचूडान्त दबा हूँ, बड़ी कृपा है कि मुझे थोड़ी-सी सेवा करनेका अवकाश देकर कुछ हल्का होनेका अवसर दे रहे है।

यज्ञका तीसरा अङ्ग बलि है। बलि-पशुकी शक्ति यजमानमे प्रवेश कर जाती है, ऐसा माना जाता है। जीवनयज्ञमे अपना अधम 'स्व' ही

पशु है। आलस्य, स्वार्थ, ईर्ष्याका आलभन करना होगा। ऐसा करनेसे अपनी कुवासनाओका उन्नमन होगा और सद्वासनाओका, अपने उत्तम 'स्व'का, बल बढ़ेगा।

धर्मचिकीर्षु इस प्रकार अपने समस्त जीवनको यज्ञ बना लेता है। जो बाते उसके स्वास्थ्य और शौचको, उसकी बुद्धि और शक्तिको, बढ़ानेवाली है वह सब धर्म है, यज्ञका अङ्ग है: जो काम लोकमे ऐक्य और सद्भाव फैलानेवाले है वह धर्म है। मनुष्यको चाहिये कि शय्यापरसे उठनेसे लेकर फिर शय्यापर लेटनेतक जितने भी काम करता है उनपर इस दृष्टिसे विचार करे।

देवगणका हमारे ऊपर बहुत बडा ऋण है। जिस प्रकार हम भौतिक शक्तियोसे अपना काम निकालते है उसी प्रकार देवगण भौतिक शक्तियोका उपयोग हम भूर्लोकनिवासियोके हितके लिए करते हैं। जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है, वह चाहते है कि हम सुखी और समृद्ध रहे, हममें धर्मबुद्धि और विद्याका प्रचार बढ़े। अलक्ष्य होते हुए भी वह हमारी सहायता करते रहते है, परन्तु हम उनके काममे बाधा डालते हैं। अल्पशक्ति होते हुए भी हम जीव है: बहुशक्ति होते हुए भी वह भी जीव है। देवोके ऋणसे छुटकारा इस प्रकार हो सकता है कि हम उन कामोमे प्रवृत्त हो जो उनको प्रिय हैं। जहाँतक हम आपसमे लडते है, शोषण, कलह, अविद्याको फैलाते है और उनके मूलोच्छेदका प्रयत्न नहीं करते वहाँतक हम असुरशक्तियोका हाथ बँटाते हैं।

हमने धर्मकी तात्त्विक समीक्षा की और उसके व्यावहारिक रूपकी विवेचना की। यज्ञभावसे जो काम किया जाता है वह जीव-जीवके पार्थक्यको दूर करता है और कर्ताकी आत्माभिव्यक्ति करता है, उसकी बुद्धिको भेददर्शनसे उत्तरोत्तर ऊपर उठाता है। ऐसा कर्म पवित्र है, शुक्र है, पुण्य है, धर्म है।

यज्ञ शब्दका प्रयोग उन काम्य कर्मोके लिए भी किया जाता है जिनमे देवगणको प्रसन्न करनेके लिए मन्त्रोके साथ अग्निमें आहुतियाँ

डाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मन्त्रविशेष देवता अर्थात् दैवीशक्तिविशेषको आकृष्ट करनेमे समर्थ होता है और फिर अभीष्टकी सिद्धि होती है। ऐसे यज्ञ राज्य, सम्पत्ति, सन्तान, वृष्टि, रोग-निवृत्ति जैसे उद्देश्योसे किये जाते है। मन्त्रका विषय बहुत महत्त्वका है, परन्तु यहाँ अप्रासङ्गिक है। काम्य यज्ञ हमारे लिए अविषय है। इस स्थलपर इतना ही कहा जा सकता है कि धर्मसे अविरुद्ध अर्थ और काम निषिद्ध नही है। सदैव परहितकी बात सोचते रहनेमे जो असमर्थ है—और अधिकाश मनुष्य इसी कोटिमे है—वह अपने अर्थ और कामको भूल नही सकता, उनके सम्पादनके लिए यत्नशील होगा। ऐसा करना बुरा नही है। आपत्तिकी बात तब होती है जब धर्म भुला दिया जाता है या गौण मान लिया जाता है। धर्मसे अर्थ और कामकी भी प्राप्ति हो सकती है और शरीरपातके बाद भी सद्गति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए धर्म अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन कहा जाता है। यह क्षमता उसी कर्ममे आ सकती है जो लोकके लिए श्रेयस्कर हो और सङ्कल्पपूर्वक अनुष्ठित हुआ हो। जो कर्म किसी लौकिक या पारलौकिक आशा या भयसे किया जाता है या लोकाचारका अनुसरणमात्र होता है वह अच्छा होते हुए भी शुद्ध नही है। ऐसा कर्म धर्मकी पूर्ण मर्यादातक नही पहुँचता।

५. ब्राह्मणाधिकरण

जो मनुष्य धर्मका स्वयं पालन करता है और दूसरोसे पालन कराता है वह ब्राह्मण है। सब लोगोका न तो एक-सा ज्ञान हो सकता है, न बुद्धि हो सकती है और न एक-सी प्रकृति या शक्ति हो सकती है। इसलिए कर्तव्यका बोझ भी सबके ऊपर एक-सा नही डाला जा सकता, सबसे एक ही प्रकारके काम करनेकी आशा नही की जा सकती। बहुत-से लोग ऐसे है जो बहुत गम्भीर स्वतन्त्र विचार नही कर सकते, वह प्रायः लोकाचारका ही अनुसरण कर सकते हैं। जो लोग सोचनेकी

योग्यता रखते है उनमे भी सेवाका एक ही प्रकार सबको रुचिकर नहीं प्रतीत हो सकता। किसीकी बुद्धि शिक्षणमे, किसीकी रक्षणमे, किसीकी वाणिज्य-व्यवसायमे और किसीकी शारीरिक श्रममे लगती है। समाजके जीवनके लिए यह सभी काम आवश्यक है; इनमेसे एकके भी न होनेसे सामूहिक जीवन सङ्कटमे पड़ जायगा। सभी काम करनेवाले एक-दूसरे-पर आश्रित है; सब समाजपर आश्रित है और समाज सबपर आश्रित है। एक मनुष्य जिस कामको भली भाँति कर सकता है उसको स्यात् दूसरा उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता और वह मनुष्य दूसरे कामको उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि सब मनुष्योंके लिए एक ही धर्म नहीं है। जो भी काम यज्ञ-बुद्धिसे किया जाय वह धर्म होगा; जो भी काम धन या मानके लिए, लोभ या भयसे किया जाय वह धर्मपदवीसे च्युत हो जाता है।

समाजके सभी अङ्ग बराबर है; सभी आवश्यक है, अपने धर्मका पालन करनेवाले सभी आदरणीय है, फिर भी उस मनुष्यका स्थान सबसे ऊँचा मानना चाहिये जो शिक्षा द्वारा सेवा करता है। यहाँ केवल साधारण शास्त्रीय विद्याओकी शिक्षासे तात्पर्य नहीं है। वह भी आवश्यक है, उनके बिना भी मनुष्य अन्धा रह जाता है, परन्तु जो लोग अध्यात्मविद्या और धर्मकी शिक्षा देते हैं वह तो समाजमे मूर्द्धन्य है। ऐसे लोग तप और त्यागके पथ-प्रदर्शक और मूर्तिमान् धर्म होते है। उनको ही ब्राह्मण कहते है।

ब्राह्मणत्व किसी कुलविशेषमे जन्म लेनेसे नहीं आता। जिसको ब्राह्मण होना है वह जन्मना वैसे स्वभावसे सम्पन्न होता है। शिक्षासे यह स्वभाव निखर उठता है। परन्तु ब्राह्मणत्वका मुख्य स्रोत स्वाध्याय, तप, त्याग और निदिध्यासन है। जो इन साधनोसे युक्त है वही धर्मका प्रवचन करनेका अधिकारी है। जिसमे यह बाते नहीं है वह चाहे कितना भारी भी पण्डित हो और किसी भी कुलमे उत्पन्न हुआ हो, ब्राह्मण नहीं कहला सकता। ऐसा मनुष्य ऋषिपुत्र हो तब भी वह ब्रह्मबन्धु, ब्राह्मण

नामकी निन्दा करनेवाला है। जो समाज ऐसे धर्माक्षिहीन लोगोसे धर्मकी व्यवस्था लेता है वह निःसन्देह पतनोन्मुख है। जो व्यक्ति धर्मका उपदेष्टा बनता है यदि वह स्वयं उसका पालन नही करता तो वह दूसरोसे अधिक पतित है। जिसका जितना ज्ञान है उसका उतना ही दायित्व है।

सब ब्राह्मण नही हो सकते, परन्तु सबको ब्राह्मणका आदर्श अपने सामने रखना चाहिये। यदि इस जन्ममे ब्राह्मणत्व न भी प्राप्त हुआ तब भी जन्मान्तरके लिए अच्छी पूँजी साथ रहेगी। जो समाज अपने ब्राह्मणोंको पहिचानना जानता है, उनका आदर करता है और उनके आदेशके अनुसार चलता है उसका कल्याण होगा।

ब्राह्मणके सामने राजा और रङ्क बराबर है। वह निर्भीकतासे भर्त्सना करता है, निष्पक्ष होकर धर्मका उपदेश करता है। वह दुर्बलोका बन्धु और दुखियोकी मूर्त सान्त्वना है। साक्षात् यज्ञात्मा ब्राह्मण जिस किसी मनुष्यसे कोई सेवा स्वीकार करता है वह पावन हो जाता है।

६. कर्तृस्वातन्त्र्याधिकरण

जितनी बाते अबतक धर्मके सम्बन्धमें कही गयी है उनमे यह विवक्षित है कि कर्ता कर्म करनेमे स्वतन्त्र है। यदि व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, किसी बाहरी शक्तिके सङ्केतपर काम करता है, तो फिर धर्मका उपदेश देना व्यर्थ है; अपने कर्मके लिए कोई दायी नही ठहराया जा सकता; पुण्यपाप, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, स्तुतिनिन्दा, पुरस्कारदण्डके सम्बन्धमे विचार करना समय नष्ट करना है।

साधारणतः हमको ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वतन्त्र है। जब जैसा मनमे आता है, जैसा सङ्कल्प उठता है, वैसा करते हैं। अज्ञानके कारण भले ही अनुचित सङ्कल्प कर बैठें, परन्तु सङ्कल्पपर बन्धन नही होता। एक ही समय दो या अधिक पर्याय आते है, मै उनमेसे चाहे जिसको पसन्द करूँ। अन्तमे किसी एकको चुन लेता हूँ। यह मेरा निश्चय वस्तुतः स्वतन्त्र है, मेरा है।

यदि यह बात ठीक है तब तो हमारी अबतककी समीक्षाके लिए आधार है, परन्तु यह स्वतन्त्रताका प्रश्न विचारणीय है। हम उतने स्वतन्त्र नही है जितना वेसोचे-समझे अपनेको मान लेते है। यह तो ठीक है कि हम अपने सङ्कल्पके अनुसार काम करते है, परन्तु क्या हम सङ्कल्प करनेमे स्वतन्त्र है ? क्या जिस समय हमने कोई सङ्कल्प किया था उस समय किसी दूसरे प्रकारका सङ्कल्प करना, कोई दूसरा पर्याय चुनना, हमारे लिए सम्भव था ?

जो लोग स्थावरजङ्गम जगत्को ईश्वरकर्तृक मानते है वह तो उपर्युक्त प्रश्नका एक ही उत्तर दे सकते है। यदि मुझे ईश्वरने बनाया है, यदि मुझे उसने बुद्धि दी है, यदि मुझे उसने विशेष परिस्थितिमे डाला है, तो यह कहना कि मै स्वतन्त्र हूँ मेरे साथ क्रूरतामय हँसी करना है। किसीको हाथ-पॉव बॉधकर पानीमे फेक देना और फिर उससे कहना कि तुम स्वतन्त्र हो, अपने कपड़ोको भीगा रखो या सूखा, स्वतन्त्र शब्दकी दुर्दशा करना है। परन्तु यह मत समीचीन नही है। हम ज्ञानखण्डमे देख चुके हे कि ऐसा कोई ईश्वर है ही नही जो जीव और उसकी बुद्धिका स्रष्टा हो।

ईश्वर न सही, परिस्थितिका प्रभाव तो सङ्कल्पपर निःसन्देह पड़ता है। स्वस्थ और रोगीके, तृप्त और भूखेके, धनिक और निर्धनके, स्थिर-चित्त और चिन्ताग्रस्तके, सङ्कल्प एक-से नही होते। शिक्षित-अशिक्षितके सङ्कल्पमे भेद होता है, युद्ध और शान्तिकालके सङ्कल्पमे भेद होता है। बहुधा हम परिस्थितिको देखकर यह पहिलेसे ऊहन कर लेते है कि तत्रस्थ मनुष्य कैसा काम करेगा।

परन्तु यह अटकल कभी-कभी ठीक नही निकलता। कोई मनुष्य अपवाद जैसा देख पड़ता है। परिस्थिति बलवती होती है, परन्तु कर्म करनेमे मनुष्यके सहज स्वभावका भी निर्णायक भाग होता है।

सबका स्वभाव एक-सा नही होता। सब लोग एक सी बुद्धि, एक-सी योग्यता, एक-सी वासनाओके साथ जन्म नही लेते। हम पहिले देख चुके है कि पिछले अनेक जन्मोमे प्राप्त अनुभवोके सस्कारोके कारण जीवोंके

चित्तों और व्यवहारोंमे भेद होता है। अपने-अपने चित्तके अनुसार परिस्थितिपर प्रतिक्रिया होती है और तदनुसार भोग होता है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि जीव प्रारब्धके वशमे है। माना कि प्रारब्ध उसके कर्मोंका ही फल है, पर लोहेकी शृङ्खला अपनी गढी हो या परायी, बन्धन तो एक-सा ही होगा। पिछले कर्मोंके अनुसार इस समयकी बुद्धि, इस बुद्धिके अनुसार इस जन्मके कर्म, इन कर्मोंके अनुसार आगेकी बुद्धि—यह अनन्त परम्परा हो गयी। इसमे न कही धर्मोपदेशके लिए स्थान है, न मोक्षका प्रश्न उठ सकता है।

यह आशङ्का ठीक नही है। जीवसे बड़ा कोई नही है। वह क्षुद्र शरीरमे भी जाता है, देवपद भी प्राप्त करता है, उससे भी ऊपर उठता है। सारी शक्तियॉ उसमे है, परन्तु अविद्याके आवरणने उसको अल्पज्ञ और अल्पशक्ति बना रखा है। उसकी दशा उस दहकते अङ्गारे जैसी है जिसपर राखकी तह जमी हुई है। इससे भी अच्छी उपमा यह है कि जीव वड़वाग्निके समान है जो जल और भूखण्डके नीचे दब गयी है। कभी-कभी वह फूट पड़ती है। उस समय आवृत करनेवाले भूस्तर छिन्न-भिन्न हो जाते है। कभी किसी कलाकारकी कृति, कभी कोई प्राकृतिक दृश्य, कभी किसी दूसरे जीवकी वेबसी, कभी किसी वीतराग मनुष्यका आचरण, कभी किसी ओजस्वी प्रवक्ताका उपदेश, सोये हुए जीवको जगा देता है, उसके चित्तको आलोडित कर देता है; अन्तर्निमग्न शक्तियॉ अवबुद्ध हो उठती है, स्वभाव पराभूत हो जाता है। यही जीवकी स्वतन्त्रता है। थोड़ी-बहुत सदा काम करती है, जीव परिस्थिति और स्वभावका पूर्ण दास कभी भी नही होता। फिर भी प्रारब्ध बलवान् रहता है। किन्तु कर्ता वस्तुतः स्वतन्त्र है। उसकी इस स्वतन्त्रताके आधारपर ही धर्मका आदेश और उपदेश दिया जाता है। ज्यो-ज्यो वह धर्माचरण करता है त्यो-त्यो उसको अपनी स्वतन्त्रताका अधिकाधिक परिचय मिलता है।

दूसरा अध्याय

समाज और धर्म

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्मका पालन करे तो सभी सुखी और समृद्ध रह सके, परन्तु आज ऐसा नही हो रहा है। धर्मका स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलरका फूल हो गयी है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुःखी और दरिद्र है। साधनोंकी कमी नही है, परन्तु धर्मबुद्धिके विकसित न होनेसे उनका उपयोग नही हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु प्रकृतिके प्राणी तो स्यात् समाजमे सभी कालोमे रहे है और रहेगे, परन्तु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगोंको अपनी प्रवृत्तिके अनुसार काम करनेका खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरोको उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी है उनके मार्गमे पदे-पदे अड़चने पड़ती है।

मनुष्यका सबसे बड़ा पुरुपार्थ मोक्ष है, परन्तु समाज किसीमे हठात् आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा उत्पन्न नही कर सकता। न कोई योगी बननेके लिए विवश किया जा सकता है, न ब्रह्मविवित्सुओके लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती है। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु समाजका संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्मज्ञान और अभेददर्शनका आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका मूलमन्त्र प्रतिस्पर्द्धाकी जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओके विकासका अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्मको स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षाको अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन

लोगोकी धर्मबुद्धि अभी उद्‌बुद्ध नहीं है वह समाजकी बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्यने अपनेको इतने टुकड़ोंमे बाँट लिया है कि एकताको कही आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े है उतने ही पृथक् हित है और इन हितोकी सिद्धि पार्थक्यको उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरणके लिए उस टुकड़ेको लीजिये जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपनेको राष्ट्रोमे बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपनेको स्वतन्त्र, प्रभुराजके रूपमे संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृतिके उपासक हैं, एकको दूसरेसे कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रोंके सदस्य होनेके कारण उनके हित टकराते हैं, एकको दूसरेसे लड़ना पड़ता है, एकको दूसरेके बाल-बच्चोको भूखो मारना पड़ता है। व्यक्तिको दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्रको दास बनाना, समूचे राष्ट्रके जीवनको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्रका शोषण करना बुरा नही है। बलात् दूसरेके घरका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्रपर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राजोंके परस्पर व्यवहारमे सत्य, अहिंसा और और सहिष्णुताका स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वह राजपुरुषके पदसे दूसरे राष्ट्रका गला घोंट देना निन्द्य नही मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्बमे व्यक्ति होते है, समाजमे राष्ट्र इसी प्रकार रहे। कुछ बातोमे अपना अलग जीवन भी बिताये, परन्तु सारे मानव-समाजकी एकता सतत सामने रहनी चाहिये। युद्ध और कलहका युग समाप्त होना चाहिये, जो राष्ट्र दूसरेकी ओर कुदृष्टिसे देखे वह राष्ट्र-समुदायसे बहिष्कृत और दण्डित होना चाहिये। न्याय और सत्य सामूहिक आचरणके आधार बनाये जा सकते है। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है; योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देशके निवासी हो, मनुष्य-समाजमात्रकी विभूति है। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिये। प्रकृतिने जो

भोग्य-सामग्री प्रदान की है उसे भी मनुष्यमात्रके उपभोगका साधन मानना उचित है। जबतक मनुष्य अपने देशके बाहर अजनबी समझा जायगा, जबतक वसुन्धरा बलवानोंकी सम्पत्ति समझी जायगी, जबतक किसी देशको यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशोंकी आवश्यकताकी पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तोंपर, तबतक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अन्तर्राष्ट्रीय जीवनके लिए उपयुक्त है वही राष्ट्रके भीतरके लिए भी लागू होता है। यह समाजशास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्रकी पुस्तक नहीं है, परन्तु दो-चार बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्रका भीतरी सव्यूहन ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रत्येक मनुष्यको धर्माविरुद्ध अर्थ और कामकी निर्बाध प्राप्ति हो सके। यह तभी हो सकता है जब समाजका सङ्घटन धर्ममूलक हो। समयके साथ धर्मके ऊपरी रूप बदलते रहते है, परन्तु उसके मूलतत्त्व अटल है। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है वह धर्म है; जो काम अपने सकुचित 'स्व'-पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म है। जिस समाजमे कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा; जिस समाजमे योग्य व्यक्तिको ऊपर उठनेका, अपनी सहजात योग्यताको विकसित करनेका अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुलके आधारपर ऊँचे पदसे हटाया न जायगा; जिस समाजमे तप और विद्याका स्थान सर्वोपरि न होगा वह समाज अधर्मको नीवपर खड़ा है। जिस समाजमे थोड़े-से व्यक्तियोंको समाजकी धनजन-शक्तिको यथेच्छ लगानेका अधिकार होता है, जिस समाजमे शासितोको अपने शासकोकी आलोचना करने, और उनके कामसे असन्तुष्ट होनेपर उनको हटाने का अधिकार नही होता, जिस समाजमे शासकोंके ऊपर तपस्वी विद्वानो, ब्राह्मणोका अकुश नहीं होता; जिस समाजमे शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासनापर शासकोका नियन्त्रण होता है, वह समाज अधर्मकी नीवपर खड़ा है। जिस समाजमे थोड़े-से

मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन है, जिस समाजमे भोज्य पदार्थोंके उत्पादनके मूल साधनों, अर्थात् भूमि, खनिजों और यन्त्रोपर कुछ व्यक्तियोका स्वत्व है; जिस समाजमे मनुष्यका शोषण वैध है; जिस समाजमे प्रतिस्पर्धियोंको नीचे गिराना ही उन्नतिका साधन है; जिस समाजमे बहुतोकी जीविका थोड़ोंके हाथ मे है, वह समाज अधर्मकी नीवपर खड़ा है। यह कोई तर्क नही है कि प्राचीन कालमे आजसे कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमेसे कई बाते उचित समझी जाती थी और बड़े-बड़े विद्वानोने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्मका सिद्धान्त अटल है, परन्तु देश-काल-पात्रभेदसे उसके विनियोगमे भेद होता रहता है। पुराकालके ब्राह्मणोने अपने समयके लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परन्तु हमको इस समयको देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गान्धीका नाम तर्कका स्थान नही ले सकता। बस, धर्माधर्मकी एक ही परख है: यह काम भेदभावको कम करता है या बढाता है? लोगोको एक-दूसरेसे मिलाता है या उनमे संघर्ष उत्पन्न करता है? जहॉ कुछ लोगोको केवल अधिकार और कुछको केवल कर्तव्य बॉटे जायॅगे, जहॉ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियो और श्रीमानोके उपजीवी होगे, जहॉ पुरोहितका लक्ष्य केवल यजमानसे धन प्राप्त करना होगा, जहॉ सम्पन्नोंके दरबारी व्यासपीठसे दुर्बलो और दलितोको शान्ति और सन्तोषका पाठ पढ़ानेमे इतिकर्तव्यता समझेगे, वहॉ कदापि समता, सद्भाव, सहयोग, एकता नही रह सकती। वहॉ वैषम्यकी आग प्रत्येक दुःखी हृदयमे दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रान्तिकी लपट न केवल समाजकी बुराई वरन् भलाईको भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते है उनका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवञ्चनका निरन्तर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्यमे, प्राणी-प्राणीमे, सद्भाव और शान्ति स्थापित करनेका यत्न करें। ऐसे वातावरणमे ही ऊॅची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते है; ऐसी परिस्थितिमे ही धर्मका अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है;

ऐसे समाजमे ही आत्मसाक्षात्कारके इच्छुकोको सुयोग मिलता है। समाज किसीको ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता, परन्तु मनुष्यको मनुष्यकी भाँति रहनेका अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

तीसरा अध्याय

शिक्षा

समाजका सम्यक् सञ्चालन तभी हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक-पर इसका दायित्व हो। जो समाज अपना सारा भार थोड़े-से व्यक्तियोंके कन्धेपर डाल देता है उसको इस बातके लिए तैयार रहना चाहिये कि एक दिन उसके सारे अधिकार इन थोड़े-से व्यक्तियोंके हाथोमे चले जायँगे। फिर उसको अपनी खोयी सम्पत्तिको वापस लेनेके लिए विकट लड़ाई करनी होगी। परन्तु नागरिक समाजका काम तभी सँभाल सकता है जब उसमे इसकी योग्यता हो और वह सामाजिक जीवनके लक्ष्यको समझता हो। यह बात शिक्षापर निर्भर करती है।

शिक्षाका अर्थ व्यापक है। साधारणतः उसको बौद्धिक व्यायामका समानार्थक मान लिया जाता है। छात्रको साहित्य, विज्ञान, इतिहास, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, जितने भी पाठ्य विषय है पढ़ा दिये जायँ और वह कुशल चिकित्सिक या अध्यापक या इञ्जीनियर जैसा कुछ बना दिया जाय। समाजको ऐसे लोगोकी बराबर आवश्यकता रहती है। यदि हर मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार काम और हर कामके लिए कुशल मनुष्य मिल जाय तो सभी सुखी और सम्पन्न रहे।

यह मत निराधार नही है। समाजको ऐसे लोगोकी सदा आवश्यकता रहती है जो उसके अर्थ और कामका सम्पादन कर सकें। परन्तु यदि अर्थ और कामपर ही ध्यान दिया गया तो स्पर्धा ही उन्नतिका साधन हो जायगी। सबकी दृष्टि अपने ऊपर केन्द्रीभूत होगी; हितोंका संघर्ष जारी रहेगा और समाज शान्तिके लिए तरसता रह जायगा।

हित-संघर्षका कारण यही है कि सब अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और

कामको ढूँढ़ते है। किसीको किसीसे द्वेष नही है, सबको अपनेसे राग है। एक अँधेरे कमरेमे यदि दस मनुष्य बन्द कर दिये जायँ और सब बाहर निकलनेका द्वार ढूढ़ रहे हों तो कई बार आपसमे टकरा जायँगे। किसी-को किसीसे बैर नही है पर सब केवल अपने लिए द्वार ढूँढ़ रहे है, इसीसे टकराते है। एक-दूसरेसे लड़नेमे शक्तिका अपव्यय होता है। वही मनुष्य यदि यह समझ ले कि सबका एक ही उद्देश्य है, तो उनकी सम्मिलित शक्तिका उपयोग हो सके। ऐसी दशामे यदि छुटकारेका द्वार न मिला तब भी लड़कर एक-दूसरेकी विपत्ति बढ़ायी तो न जायगी। ठीक यही बात समाजमे है। हमको एक-दूसरेसे बैर नहीं है, पर अपने भोगपर ऑख लगी है। सबकी यही दशा है। यदि यह बात समझमे आ जाय कि सबका हित एक ही है और वह सहयोगसे प्राप्त हो सकता है तो आपसका द्वन्द्व बन्द हो जाय। सबको सुख-समृद्धि प्राप्त हो; कमसे कम हम एक-दूसरेके दुःखको बढानेके साधन न बने।

छात्रोंकी कोमल बुद्धिमे यह बात आरम्भसे ही बैठानी चाहिये। चारो ओर सौन्दर्यमय वातावरणमे प्रकृतिच्छटा और कलापूर्ण कृतियोंके बीचमे छात्रका जीवन बीतना चाहिये। उनके सामने सफल धन-उपार्जन करनेवाले और विजेताओको आदर्श-रूपसे न रखकर विश्वको एकताका पाठ पढ़ानेवालोका उत्कर्ष बताना चाहिये। बचपनसे ही तप और त्यागका अभ्यास न पड़ा तो आगे चलकर कठिनाई होगी।

मनुष्य-शरीर यों ही खो देनेकी वस्तु नही है। अपनी वासनाओकी तृप्ति तो पशु भी कर लेते है, परन्तु मनुष्यको अपने बहुज्ञ होनेका गर्व है। उसको इस गर्वके अनुरूप अपना जीवन भी बनाना चाहिये। वासनाका दमन मनुष्यकी शोभा है; अपनेको यथाशक्य दूसरोंकी सेवामे लगाना उसका आदर्श है, आत्मसाक्षात्कार उसके जीवनका प्रधान लक्ष्य है। शारीरिक बल या विद्या सांसिद्धिक बाते है, परन्तु इनकी प्राप्तिकी कुछ सहज सीमाएँ भी है। दूसरेसे विद्या या बल या वैभवमे कम होना दुःखकी बात हो परन्तु लज्जाकी बात नही है, परन्तु अपने धर्मके पालनका

प्रयत्न न करना, अर्थ और कामको धर्मसे श्रेष्ठ मानना, मनुष्यके लिए लाञ्छन है। यह भाव शिक्षाके द्वारा दृढ़ किया जाना चाहिये।

ऐसी शिक्षा पाया हुआ मनुष्य समाजका योग्य नागरिक होगा। सब धर्मसाक्षात्कर्ता नहीं हो सकते, परन्तु धर्म-मार्गपर चलनेकी प्रवृत्ति सबमे होनी चाहिये। कोई बिरला ही ब्रह्मवेत्ता होगा, थोड़े ही योगाभ्यासी होगे, थोड़े ही पूर्णतया निष्काम, पूर्णतया यज्ञभावसे लोकसग्रहरत हो सकेगे, परन्तु प्रायः सब परार्थको स्वार्थसे ऊँचा स्थान देगे, प्रायः सब राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारमे सहयोग और सद्भावके समर्थक होगे।

ऐसी शिक्षा देना कठिन नहीं है। अभेद, एकता, जीवनका स्वरूप है। अविद्याके कारण उसको नानात्वकी, पार्थक्यकी प्रतीति होती है, परन्तु जब कभी थोड़ी देरके लिए भी वह पार्थक्यको भुला पाता है, एकत्वकी झलक पा लेता है, तो उत्फुल्ल हो उठता है। नानात्वके बीचमे भी वह अपनेको ढूँढ़ता रहता है। इसलिए जो शिक्षा उसको एकत्वकी ओर ले जायगी वह उसको ग्राह्य होगी।

ऐसी शिक्षा देना सबका काम नहीं है। साधारण पाठ्यविषयोके अध्यापक तो बहुत मिल सकते है, परन्तु विद्यार्थीको धर्मकी शिक्षा देकर दूसरा जन्म देनेकी योग्यता रखनेवाले आचार्य कम ही होते है। यह काम ब्रह्मबन्धुका नहीं, ब्राह्मणका है। आचार्य छात्रके लिए तो पूज्य है ही, समाजका कर्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियोका समादर करे और उनको निष्कण्टक काम करनेका अवसर दे।

उपसंहार

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋग्वेदका यह मन्त्र बड़े सुन्दर शब्दोमे उस कठिनाईको व्यक्त करता है जो दर्शनके अध्येता और प्रवक्ताके सामने आती है। यह जगत् कैसे हुआ, हुआ भी या नही हुआ, यह कौन जानता है? कौन कह सकता है? जहॉतक बुद्धिकी पहुॅच है वहीतक ज्ञाता, ज्ञेयका भेद रहता है। शुद्ध ब्रह्म चित्तके परे है, सब भेदोके ऊपर है। वह चेतना है, चेतन नही है, अतः वह इस रहस्यका ज्ञाता नही है। परमात्मामे बीजरूपसे सभी ज्ञान है, परन्तु वह जगत्का आदिबिन्दु है, स्वयं मायाकृत है। इसलिए वह भी उस अवस्थाका ज्ञाता नही हो सकता जो उसका पूर्वरूप है। कोई अपने जन्मका साक्षी नही हो सकता। यह पहेली बुद्धि और वाणीका विषय नही है, इसीलिए इसके पहिले मन्त्रमे कहा गया है: 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'—इसको कौन जानता है और कौन यहॉ कह सकता है?

पुस्तक समाप्त हो गयी। इसको पढ़नेसे कोई और लाभ हो या न हो, इतना तो प्रकट हो ही जाना चाहिये कि दर्शनका विषय बहुत कठिन और साथ ही बहुत रोचक है, उसका जीवनकी सभी समस्याओसे सम्बन्ध है, उसके ही प्रकाशमे सब अन्य ज्ञेय समझमे आ सकते है, वही उन सबको एक सूत्रमे बॉधता है। यदि उस परमतत्त्वको जाननेकी इच्छा किसीमे उत्पन्न हो जाय तो मै अपनेको धन्य मानूॅगा।

इन पृष्ठोमे जो कुछ प्रतिपादित करनेका प्रयास किया गया है उसको समासेन यो कह सकते है—

ब्रह्म ही सत्य है, वह एक, अद्वय, अपरिणामी, चिद्घन है।

आत्मा और जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है; सुतरा, एक-दूसरेसे अभिन्न है।

ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है।

जगत्का प्रतीयमान रूप मायाजनित है, इसलिए असत्य है; जगत्का वास्तविक रूप ब्रह्म है, इसलिए सत्य है।

आत्मसाक्षात्कारका एकमात्र उपाय योग है। निर्विकल्प समाधिमें अविद्याका क्षय हो जाता है।

वैराग्य, स्वाध्याय, तप, उपासना और धर्मानुष्ठानसे मनुष्यमें योगाभ्यासकी पात्रता आती है।

जो कर्म निष्काम होकर यज्ञभावसे किया जाय, जिस कर्मसे जीव जीवमें अभेदकी वृद्धि हो, वह धर्म है। धर्मसे अर्थ और कामकी भी सिद्धि होती है।

पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़नका निरन्तर विरोध करना और सौहार्द, सहयोग, विश्वसंस्कृति तथा ऐक्यमूलक सच्छिक्षाके लिए उद्योग करना धर्मका अङ्ग है।

जो तपस्वी और त्यागी है, जिसने समाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया है, वही धर्मका प्रवक्ता हो सकता है। समाजको ऐसे व्यक्तियोंके आदेशपर चलना चाहिये। इसमें उसका कल्याण होगा।

वारम्बार जन्म और मरण, कर्मोंकी वर्द्धमान संस्कारराशि, दुःख और अनुपातसे, सदैव डरना चाहिये। इस अज्ञानवृक्षका मूलोच्छेद मनुष्यदेहमें ही हो सकता है। इस अमूल्य देहरत्नका उपयोग न करना अपने पाँवमें आप कुल्हाड़ी मारना है। मनुष्य-शरीरकी शोभा विषयभोग नहीं है; यह सम्पदा तप, ज्ञान और धर्मके लिए मिली है।

मनुष्यका परम पुरुषार्थ मोक्ष है।

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति॥

इति शम्

परिशिष्ट

धर्म (सदाचार) के स्वरूपके सम्बन्धमें विभिन्न मत और उनके विषयमें शङ्काएँ

[धर्मस्वरूपाधिकरणमे पृष्ठ २२० का अधोनोट देखिये]

१. **वाद**—ईश्वरकी आज्ञा धर्म है।

शङ्का—ईश्वरकी सत्ताका क्या प्रमाण है? ईश्वर आज्ञा देनेमे स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र है तो सम्भव है कभी आज्ञाका रूप बदल जाय और जो धर्म है वह अधर्म हो जाय। यदि स्वतन्त्र नहीं है तो फिर उसका नियन्त्रण करनेवाला पदार्थ धर्मका निर्णायक हुआ। ईश्वरकी आज्ञा कैसे जानी जाय? अपनेको ईश्वराज्ञा विज्ञापित करनेवाले सब ग्रन्थ एक ही बात नहीं कहते। यदि मनुष्यकी बुद्धि यह निर्णय कर सकती है कि इन ग्रन्थोंमे कौन ग्रन्थ ईश्वरप्रेरित है तो वह धर्मके स्वरूपका भी आप ही निर्णय कर लेगी। ईश्वरकी आज्ञा क्यों मानी जाय? क्या पुरस्कारकी आशा और दण्डके भयसे किया गया काम धर्म होगा?

२. **वाद**—श्रुतिकी आज्ञा धर्म है।

शङ्का—ऊपर दी हुई प्रायः सब शङ्काएँ उठती है। दो तथाकथित श्रुतिवाक्योंमे हमको यह देखना पड़ेगा कि कौन धर्मानुकूल है, अर्थात् हमको श्रुतिकी परखके लिए धर्मकी कोई स्वतन्त्र कसौटी रखनी होगी।

३. **वाद**—भीतर जो कर्तव्याकर्तव्य विवेकबुद्धि है उसकी जो प्रेरणा हो वह धर्म है।

शङ्का—विभिन्न देशकालमे यह प्रेरणा विभिन्न रूपोंसे होती है। जिस कामको एक देश या एक कालके लोग भला कहते है उसीको दूसरे बुरा कहते हैं। जैसी शिक्षा मिलती है वैसी ही विवेकबुद्धि हो जाती है। अतः इससे धर्मकी कोई स्थिर पहिचान नहीं मिलती।

४. वाद—जिस कामका समर्थन लोकमत करता है वह धर्म है।

शङ्का—एक ही कामको विभिन्न देशो और समयोका लोकमत एक ही दृष्टिसे नहीं देखता। जो बलवान् है और अपनी इच्छाओकी पूर्तिके लिए समाजका आश्रित नहीं है वह लोकमतका क्यो अनुसरण करे? युद्ध या अन्य आवेशकी अवस्थाओमे लोकमत जिन बातोका समर्थन करता है, पीछेसे उन्हीको नापसन्द करता है। कई विचारोका, जिनका आज समर्थन हो रहा है, एक समय विरोध हुआ था।

५. वाद—जो काम सामाजिक जीवनका पोपक है वह धर्म है।

शङ्का—सामाजिक जीवनका पोपण क्यो किया जाय? जिस कामसे सामाजिक जीवनकी पुष्टि होती है उसकी परख सामाजकी तत्कालीन पसन्द है या कुछ और?

६. वाद—जिस कर्मका उद्देश्य अच्छा हो वह धर्म है।

शङ्का—यदि देशकी समृद्धि बढ़ानेके विचारसे कोई जनसख्याको कम करनेके लिए नवजात शिशुओको मारने लगे तो क्या यह धर्म माना जायगा?

७. वाद—जिस कर्मका परिणाम अच्छा हो वह धर्म है।

शङ्का—किसके लिए अच्छा? यदि दूसरोके लिए, तो मै दूसरोका क्यो खयाल करूँ? यदि किसीको मारनेके लिए विप दिया जाय और वह विप उस व्यक्तिके किसी रोगको अच्छा कर दे तो क्या यह विष देना धर्म कहा जायगा? अच्छा परिणाम किसे कहते है? अव्यवहित परिणाम देखा जाय या

व्यवहित ? एक जुआरी चोर डूब रहा है, उसको बचाना उसको अच्छा लगता है, पर बचनेपर वह लोगोंको लूटेगा और तंग करेगा। यहाँ धर्मका निर्णय कैसे हो ? यदि परिणामोंके योगसे, तो परिणाम कैसे जोड़े जायँ ? मेरे दिये पैसोसे एकने मिठाई खायी, एकने बीड़ी पी, एकने नाटक देखा, एकने समाचारपत्र लिया। इन परिणामोका जोड़ कैसे होगा ? किसके चित्तपर क्या परिणाम पड़ा यह कैसे जाना जायगा ?

८. **वाद**—जिस कामसे अधिकतम सुख उत्पन्न हो वह धर्म है।

शङ्का—किसके लिए ? यदि दूसरोंके लिए, तो मैं उनका क्यों खयाल करूँ ? अधिक लोगोंका सुख देखा जाय या सुखकी अधिक मात्रा ? दस मनुष्योंको आधा पेट खिलाना अच्छा है या दोको भर पेट ? क्या सुख बराबर है ? दस मनुष्योंको मद्यपान करनेका सुख दूँ या दोको दर्शन अध्ययन करनेका ? सुखोंमें ऊँचे-नीचेकी क्या परख है ?

९. **वाद**—जिस काममें आत्माभिव्यक्ति और आत्माभिवृद्धिकी अनुभूति हो वह धर्म है।

शङ्का—कुशल जेबकटको भी ऐसा अनुभव होता है। केवल अपने स्वार्थके लिए दिग्विजयपर निकले हुए सेनानीको भी शत्रुसेनाको कुचल डालनेमें वही अनुभूति हो सकती है। क्या वह धर्मात्मा है ?

१०. **वाद**—हमको सामान्यतः जगत्का ज्ञान दिक्, काल और कार्य-कारण भावके व्यवधानसे होता है। चित्तके यह धर्म जगत्के वास्तविक रूपको छिपा देते हैं। जब कभी कर्तव्य-बुद्धि उदित होती है तो हमको दिगादिका अतिक्रमण करके जगत्के स्वरूपका तात्कालिक अव्यवहित ज्ञान होता है।

ऐसी बुद्धिसे जो काम किया जाता है वह धर्म है। धर्मके तीन लक्षण हैं—

(क) वह अन्तःप्रेरणाके रूपमें होता है। यह अन्तःप्रेरणा आज्ञारूपी 'ऐसा करना चाहिये' या 'ऐसा करो' होती है और अहैतुक भी होती है; उसके साथ हेतु, कारण, की भावना नही लगी होती।

(ख) उसमे अपने भोगके लिए कोई स्थान नही होता। जहाँ भोग होता है वहाँ सुख भी रहता है, परन्तु कर्तव्यके साथ सुख तो नही ही होता, वह काम कुछ कडुवा-सा लगता है।

(ग) हमको ऐसा प्रतीत होता है कि वह काम सब लोगोंके लिए करणीय है। चोर यह नही चाहता कि सब लोग चोरी करें, परन्तु सच बोलनेवाला चाहता है कि सब सच बोले।

शङ्का—ऐसा हो सकता है कि अन्तःप्रेरणा हमारे राग-द्वेषके कारण होती हो। अपने शत्रुको देखकर भी कभी-कभी ऐसी अन्तःप्रेरणा होती है कि 'इसे मार डालो'। पागल भी अपनी अन्तःप्रेरणाके अनुसार काम करता है।

यह भी विचारणीय है कि ऐसी अन्तःप्रेरणा कहाँतक कर्ताकी शिक्षा और सस्कृतिका परिणाम है और कहाँतक उसके स्वभावपर निर्भर करती है।

यह नही कहा जा सकता कि अप्रिय लगना धर्मका लक्षण है। अपने चित्तका अनुशीलन करनेसे पता लगेगा कि सच बोलना या त्याग करना उस समय अप्रिय नही लगता, चाहे पीछेसे भले ही कष्ट हो।

यह मत ख्यातनामा विद्वानोंके द्वारा प्रवर्तित किये गये है। इतने थोड़ेमे इनके विषयमे ऊहापोह नही हो सकता, केवल सङ्केतमात्र कर दिया गया है। 'जीवन और दर्शन'मे किञ्चित् अधिक विस्तृत विचार किया गया है। मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि जिस सिद्धान्तका प्रस्तुत

पुस्तकमे प्रतिपादन किया गया है उससे इन सब शंकाओका उत्तर मिल जाता है। धर्मका लक्षण ऐसा होना चाहिये जो ईश्वर, श्रुति, कर्ताके तात्कालिक उद्देश्य आदिपर निर्भर न हो, ताकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवसरपर अपनी बुद्धिके अनुसार उसका उपयोग कर सके। बुद्धिदोषसे ठीक-ठीक परीक्षा करनेमे भले ही भूल हो जाय, परन्तु सिद्धान्त निरपेक्ष होना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टिसे इन सभी मतोमे अच्छाइयाँ है और इन सबका हमारे मतमे अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुक्रमणिका